प्रकीर्णक पुस्तकावली

साहित्य-पारिजात

(पदार्थ-निर्णय और अलंकार)

लेखक

रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०

(मिश्र बंधुओं में से एक)

पं० प्रतापनारायण मिश्र

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

[सादी ३)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, १, जॉनस्टनगंज, प्रयाग
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
५. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
६. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
७. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
८. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ
भूमिका	६
वन्दना	२१
काव्य का लक्षण (मम्मट)	१
,, ,, ,, (साहित्य-परिचय)	१
,, ,, ,, (साहित्य-दर्पण)	१
,, ,, ,, (पण्डितराज)	१
,, ,, ,, ('रत्नाकर')	१
,, ,, ,, (कुलपति-मिश्र)	२
,, ,, ,, (अम्बिका-प्रसाद व्यास)	२
,, ,, ,, (मिश्रबन्धु)	२
काव्य का लक्षण (ग्रन्थकार)	२
काव्य के लक्षणों पर सूक्ष्मतः विचार	२
(काव्य का) वर्गीकरण	४
काव्य-शरीर (देखो दोहा)	५
पदार्थ-निर्णय	७
ब्द के भेद	७
तीन शक्तियाँ	७
अर्थ के भेद	७
वाचक शब्द	७
वाचक के भेद का चक्र	७
सङ्केत-ग्रहण-प्रकार	८
सङ्केत-ग्रहण पर (केवल) व्यक्तिवादी	८
,, ,, ,, जाति-विशिष्ट व्यक्तिवादी	८
,, ,, ,, अपोहवादी	८
,, ,, ,, केवल जाति-वादी	८
,, ,, ,, वैयाकरण	८
वाचक के भेद तथा उदाहरण (पद्य में)	९
जाति का लक्षण	९
यदृच्छा का लक्षण	९
गुण का लक्षण	९
क्रिया का लक्षण	१०
ये चारो जातिवाची शब्द हैं (देखो नोट)	१०

विषय	पृष्ठ
लक्षणा	१०
लक्षक शब्द का लक्षण	१०
लक्षणा के चार हेतु (देखो नोट)	१०
लक्षणा-भेद-प्रदर्शक चक्र	१०
रूढ़ि लक्षणा (लक्षण)	११
प्रयोजनवती लक्षणा (,,)	११
,, ,, में प्रयोजन व्यङ्ग्य से (देखो नोट)	११
शुद्धा प्रयोजनवती (लक्षण)	११
(१) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा	११
(२) शुद्धा प्रयोजनवती उपादान लक्षणा	१२
(३) शुद्धा प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा	१३
(४) शुद्धा प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा	१३
गौणी प्रयोजनवती लक्षणा	१४
(१) गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा	१४
(२) गौणी प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा	१४
विषय और विषयी का लक्षण	१४
रूढ़ि व्यङ्ग्य-रहित तथा प्रयोजनवती व्यङ्ग्य-सहित, परन्तु प्रयोजन व्यङ्ग्य से (देखो नोट)	१५
इनमें गूढ़भेद (लक्षणा)	१५
,, अगूढ़भेद (,,)	१७
लक्षणा के भेदान्तरों का चक्र (साहित्यदर्पणकार के मत से)	१७
लक्षणा के अन्य प्रकार से भेदान्तर न मानने का कारण	१७
व्यञ्जना (लक्षण)	१८
व्यञ्जना-भेद-प्रदर्शक चक्र	१६
आर्थी के १० भेदों में प्रत्येक तीन-तीन अन्य भेदान्तर (देखो चक्र के नीचे की दो लाइन)	१६
अभिधामूलक शाब्दी व्यञ्जना (लक्षण)	१६
अनेकार्थवाची शब्दों का एकार्थ नियत करण के १५ कारणों के नाम	१६
ये कारण अभिधामूला के भेद नहीं (देखो नोट)	२०
इन कारणों की सङ्ख्या तथा उदाहरण पद्य में	२०
इस पर टीका	२०
इन पन्द्रहों कारणों का विवरण गद्य में	२१

विषय	पृष्ठ
(१) संयोग	२१
संयोग तथा साहचर्य में भेद	२१
(२) वियोग	२१
(३) साहचर्य	२१
(४) विरोधिता	२२
विरोधिता में शत्रुता का उदाहरण	२२
विरोध में एक ही स्थान में न रह सकने की विरोधिता का उदाहरण	२२
(५) अर्थ	२२
(६) लिङ्ग	२२
लिङ्ग अर्थ और संयोग में भेद	२२
(७) अन्य शब्दसन्निधि	२२
लिङ्ग और अन्य शब्द-सन्निधि का भेद	२३
(८) सामर्थ्य	२३
सामर्थ्य लिङ्ग और अर्थ में भेद	२३
(९) औचित्य	२३
अर्थ, सामर्थ्य तथा औचित्य का भेद	२३
(१०) प्रकरण	२३
(११) देश	४२
(१२) व्यक्ति	२४
(१३) काल	२४
(१४) स्वर	२४
(१५) आदि शब्द से क्या प्रयोजन	२५
अभिधामूला व्यञ्जना कहाँ होती है (देखो नोट)	२५
ये १५ कारण अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के भेद न होकर एकार्थ नियत के कारण-मात्र (देखो नोट के नीचे)	२५
अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का उदाहरण	२६
लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना	२७
आर्थी व्यञ्जना	२७
(१) वक्तृवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	२८
(२) बोद्धव्यवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	२९
(३) काकुवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	२९
काकुवैशिष्ट्य और काकु-आक्षिप्त का भेद	३०
(४) वाक्यवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(५) वाच्यवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३२	वाक्य	४१
		आकाङ्क्षा	४१
(६) अन्य सन्निधिवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३३	योग्यता	४१
		सन्निधि	४१
(७) प्रसङ्गवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३३	व्यञ्जना की मान्यता (अमान्यता पर शास्त्रार्थ)	४२
(८) देशवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३४	अलङ्कार का ग्रन्थकारों का लक्षण	४७
(९) कालवैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३४	अलङ्कार के मुख्य भेद	४७
(१०) चेष्टा वैशिष्ट्ये आर्थी व्यञ्जना	३४	अर्थालङ्कार का लक्षण (ग्रन्थकारों का)	४७
इन १० भेदों में तीन-तीन अन्य भेद होने का कारण नितान्त अन्त में)	३४	शब्दालङ्कार का लक्षण (ग्रन्थकारों का)	४७
वाच्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना	३५	मिश्रालङ्कार का लक्षण	४७
लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना	३५	शब्द तथा अर्थालङ्कारों पर सूक्ष्मतः विचार	४८
व्यङ्ग्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना	३६	अर्थालङ्कार	४८
तात्पर्याख्यावृत्ति	३९	उपमान (लक्षण)	४८
तात्पर्याख्यावृत्ति पर अन्विताभिधानवादी मत	४०	उपमेय (लक्षण)	४८
तात्पर्याख्यावृत्ति पर अभिहितान्वयवादी मत	४०	वाचक (लक्षण)	४९
		साधारण धर्म (लक्षण)	४९
		उपमान और उपमेय के पर्यायवाची	४९
		उपमा (१)	४९

विषय	पृष्ठ
निजमते उपमा - भेद-प्रदर्शक चक्र	४६
अन्यमते उपमा-भेद-प्रदर्शक चक्र	५०
(१) पूर्णोपमा	५०
पूर्णोपमा के अन्यों के दो भेद	५३
श्रौती उपमा	५३
श्रौती उपमा के वाचक शब्द	५३
आर्थी उपमा	५४
आर्थी उपमावाचक शब्द	५४
श्रौती और आर्थी पृथक् भेद नहीं (देखो आर्थी के उदाहरण तथा टीका के बाद)	५४
वस्तु प्रतिवस्तु भावापन्न धर्मोपमा	१४६
बिम्ब प्रतिबिम्बोपमा	१५१
निरवयवोपमा	८३
सावयवोपमा	८३
समस्तवस्तु विषयोपमा	८३
एकदेश विवर्त्युपमा	८३
परस्परितोपमा	८३
वैधर्म्योपमा (देखो नीचे-वाले हेडिङ्ग में)	१४६
(२) लुप्तोपमा	५५
१—धर्मलुप्ता	५५
२—उपमान लुप्ता	५५
असम और उपमा का विषय-पृथक्करण	५५
असम अलङ्कार	५५
असम अनङ्गीकार का कारण (देखो नोट)	५६
उपमान लुप्ता का अन्य प्रकार का उदाहरण	५६
३—वाचक लुप्ता	५६
४—वाचक धर्मलुप्ता	५६
वाचक लुप्ता तथा रूपक में भेद	५६
५—धर्मोपमान लुप्ता	५७
६—वाचकोपमेय लुप्ता	५७
७—वाचकोपमान लुप्ता	५७
पृथक् शब्द द्वारा न कहना लुप्त होना कहा जाता है (देखो वाचकोपमान लुप्ता के उदाहरण की टीका में)	५७
८—वाचक धर्मोपमान लुप्ता	५७
(३) मालोपमा	५८
१—एक धर्म मालोपमा	५८
२—भिन्न धर्म मालोपमा	५८

विषय	पृष्ठ
(४) रसनोपमा	५९
(५) वाच्योपमा	५९
(६) लक्ष्योपमा	६०
(७) व्यङ्ग्योपमा	६०
अनन्वय (२)	६१
उपमेयोपमालङ्कार (३)	६१
प्रतीपालङ्कार (४)	६२
प्रतीप का सम्मिलित लक्षण (ग्रन्थकारों का)	६२
प्रथम प्रतीप	६२
प्रतीपालङ्कार के ग्रहण का कारण (देखो नोट)	६३
द्वितीय प्रतीप	६३
द्वितीय प्रतीप में उपमेय का वास्तविक अपकर्ष न होना चाहिए (देखो उदाहरणों की टीकाओं में)	६४
तृतीय प्रतीप	६४
चतुर्थ प्रतीप	६६
प्रतीप और व्यतिरेक में भेद	६७
पञ्चम प्रतीप	६९
पाँचो प्रतीप को याद रखने के लिये पद्य में लक्षण (देखो पृष्ठ के अन्त के दो पद्य)	७०
रूपकालङ्कार (५)	७१
रूपक के भेद का चक्र	७१
(१) अभेद रूपक	७१
१—समाभेद रूपक	७१
२—अधिकाभेद रूपक	७४
३—न्यूनाभेद रूपक	७४
(२) तद्रूप रूपक	७५
१—सम तद्रूप रूपक	७५
२—अधिक तद्रूप रूपक	७५
३—न्यून तद्रूप रूपक	७५
वर्णन-शैली से समाभेद तथा सम तद्रूप रूपकों के भेद का चक्र	७५
(१) सावयव रूपक	७७
१—समस्तवस्तु विषय रूपक	७७
परम्परित तथा सावयव रूपक का पृथक्करण	७६
२—एकदेशविवर्ति रूपक	७९
(२) निरवयव रूपक	८०
१—शुद्ध निरवयव रूपक	८०
२—मालारूप निरवयव रूपक	
(३) परम्परित रूपक	८१
१—शुद्ध श्लिष्ट परम्परित रूपक	८२
२—मालारूप श्लिष्ट परम्परित रूपक	

विषय	पृष्ठ
(देखो शुद्ध श्लिष्ट परम्परित के उदाहरण की टीका के नीचे)	८२
१—श्लिष्ट मालारूप परम्परित रूपक (इसी के मालारूप की टीका देखो)	८३
२—अश्लिष्ट मालारूप परम्परित रूपक	८२
सावयव रूपक तथा परम्परित में भेद	८२
ये सावयव, निरवयव आदि केवल उदाहरणान्तर-मात्र (देखो नोट)	८३
रूपक और हेतु से पृथक्ता (देखो हेतु की पृथक् अलङ्कारता)	३४०
परिणामालङ्कार (६)	८३
परिणाम की रूपक से पृथक्ता	८४
रूपक और परिणाम में मतभेद	८५
परिणाम को रूपक ही मान लेने में आपत्ति (परिणाम में ही अन्त में देखो)	८६
उल्लेखालङ्कार (७)	८६
प्रथम उल्लेख	८६
द्वितीय उल्लेख	८७
मालारूपक, भ्रान्तिमान् तथा उल्लेख का विषय-विभाजन	८८
स्मृतिमान (८)	८९
वैधर्म्य से स्मृतिमान् (अलङ्कार नहीं)	९१
भ्रान्तिमान (९)	९१
अनाहार्य भ्रम भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं (देखो नोट)	९१
सन्देहवान (१०)	९३
सन्देहवान और द्वितीय समुच्चय का भेद	९४
अपह्नुति (११)	९५
अपह्नुति का सम्मिलित लक्षण	९५
(१) शुद्धापह्नुति	९५
(२) हेत्वपह्नुति	९७
(३) पर्यस्तापह्नुति	९८
पर्यस्तापह्नुति और परिसङ्ख्य का भेद-प्रदर्शन	२४७
पर्यस्तापह्नुति रूपक क्यों नहीं	९९
(४) भ्रान्तापह्नुति (ग्रन्थकारों का लक्षण)	१०१
भ्रान्तापह्नुति का अन्यों का लक्षण (देखो नोट)	१०१

विषय	पृष्ठ
केवल भ्रम के निवारण में भ्रान्तापह्नुति नहीं (देखो दास के छन्द की टीका)	१०१
भ्रान्तापह्नुति और व्याजोक्ति (देखो व्याजोक्ति और अपह्नुति का विषय-विभाजन)	३१६
(५) छेकापह्नुति	१०२
छेकापह्नुति और व्याजोक्ति में भेद	३१७
(६) कैतवापह्नुति	१०३
उत्प्रेक्षा (१२)	१०२
उत्प्रेक्षा-भेद-प्रदर्शक-चक्र	१०६
(१) वस्तूत्प्रेक्षा	१०६
१—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा	१०७
२—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा	१०६
वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा	११०
कहाँ वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा कहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति (वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा हेडिङ्ग में)	११०
गम्योत्प्रेक्षा के सर्वभेद मान्य या अमान्य ?	११०
(२) हेतूत्प्रेक्षा	११२
१—सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा	११२
सिद्धविषया हेतुरूपा गम्योत्प्रेक्षा	११३
२—असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा लक्षण	११२
असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा उदाहरण	११३
असिद्धविषया हेतुरूपा गम्योत्प्रेक्षा	११४
(३) फलोत्प्रेक्षा	११७
१—सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा	११७
गम्या सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा	११७
२—असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा	११७
उत्प्रेक्षा में केवल तीन भेद मानना चाहिए। (देखो नोट)	११८
प्रतीयमान असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा	११६
सी, से, इव का उपमा तथा उत्प्रेक्षावाचकत्व	११६
इस पर उद्योतकार का मत	१२०
अतिशयोक्ति (१३)	१२१
(१) रूपकातिशयोक्ति	१२१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(२) सापह्नवातिशयोक्ति	१२४	अर्थावृत्ति दीपक	१४४
,, ,, असामान्य है	१२४	पदार्थावृत्ति दीपक	१४५
(३) भेदकातिशयोक्ति	१२५	प्रतिवस्तूपमा और आवृत्ति दीपक में भेद	१४६
भेदकातिशयोक्तिवाचीशब्द	१२५	तुल्ययोगिता और आवृत्ति दीपक में भेद	१४६
(४) सम्बन्धातिशयोक्ति	१२६	दीपक से (आवृत्ति दीपक की) पृथक्ता	१४८
सम्बन्धातिशयोक्ति में अयोग्य का योग्य कथन	१२६	प्रतिवस्तूपमा (१७)	१४८
सम्बधातिशयोक्ति में योग्य का अयोग्य कथन	१२९	वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा	१४९
(५) अक्रमातिशयोक्ति	१३१	प्रतिवस्तूपमा की लुप्तोपमा तथा वस्तु-प्रतिवस्तु भावापन्न धर्मोपमा से पृथक् अलङ्कारता	१४९
(६) चञ्चलातिशयोक्ति	१३२	प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में भेद	१५०
(७) अत्यन्तातिशयोक्ति	१३२	दृष्टान्त (१८)	१५०
तुल्योगिता (१४)	१३७	विशेष वाक्य	१५०
प्रथम तुल्योगिता	१३७	सामान्य वाक्य	१५०
तुल्योगिता में सादृश्य है या नहीं ?	१३७	दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास का भेद	१५०
,, की दीपक से पृथक्ता	१३८	वैधर्म्य से दृष्टान्त का उदाहरण	१५२
,, पर रस-गङ्गाधर	१३९	दृष्टान्त के सम्भव भेद	१५२
द्वितीय तुल्योगिता	१४०	निदर्शना (१९)	१५२
तृतीय तुल्योगिता	१४०		
,, ,, में दीपक से पृथक् अलङ्कारता	१४१		
दीपक (१५)	१४१		
आवृत्ति दीपक (१६)	१४३		
शब्दावृत्ति दीपक	१४३		

विषय	पृष्ठ
वाक्यार्थ और पदार्थ निदर्शना (लक्षण)	१५३
वाक्यार्थ निदर्शना (उदाहरण)	१५३
पदार्थ निदर्शना (उदाहरण)	१५३
रूपक तथा निदर्शना का विषय-विभाजन	१५४
रूपक तथा निदर्शना पर पण्डितराज का मत	१५४
पण्डितराज के मत की समालोचना	१५५
निदर्शना और ललित में भेद	१५६
पण्डितराजवाले श्लोक में निदर्शना (देखो ऊपर-वाली हेडिङ्ग में)	१५६
दृष्टान्त और निदर्शना में भेद	१५७
कार्येण सदसदर्थ निदर्शना (लक्षण)	१५७
सदर्थ निदर्शना (उदाहरण)	१५७
असदर्थ निदर्शना (उदाहरण)	१५८
सदसदर्थ निदर्शना में सम्भव तथा पदार्थ और वाक्यार्थ निदर्शना में असम्भव सम्बन्ध (देखो नोट)	१५८
व्यतिरेक (२०)	१५६
(१) अधिक व्यतिरेक	१५६
(२) समव्यतिरेक	१५६
(३) न्यून व्यतिरेक	१६०
न्यून व्यतिरेक का भेद मानना चाहिए या नहीं ?	१६०
सहोक्ति (२१)	१६१
सहोक्ति के लक्षण में मत-भेद	१६२
सहोक्ति और अतिशयोक्ति में भेद	१६२
तुल्ययोगिता दीपक और सहोक्ति में भेद	१६३
विनोक्ति (२२)	१६३
समासोक्ति (२३)	१६४
लिङ्ग की साम्यता	१६५
कार्यसाम्येन समासोक्ति	१६५
श्लिष्ट विशेषण समासोक्ति	१६६
साधारण विशेषण समासोक्ति	१६७
समासोक्ति से रूपक तथा श्लेष की पृथक्ता	१६६
परिकर (२४)	१६७
परिकर का हेतु अलङ्कार से पृथक्करण	१६८

विषय	पृष्ठ
परिकर में मम्मट तथा पण्डितराज का मतभेद	१६६
परिकराङ्कुर (२५)	१६६
श्लेष (२६)	१७०
(१) शाब्द श्लेष	१७१
१—अनेक प्रकृत शब्द श्लेष	१७१
२—अनेक अप्रकृत शब्द श्लेष	१७१
३—प्रकृताप्रकृत शब्द श्लेष	१७१
(२) आर्थ श्लेष	१७२
श्लेष तथा ध्वनि का पृथक्करण	१७३
समासोक्ति और श्लेष में भेद	१७४
श्लेष के विषय में मतभेद (शब्द या अर्थालङ्कार होने का)	१७५
श्लेष के विषय में सर्वस्वकार का मत	१७५
श्लेष के विषय में मम्मटादि का मत	१७६
श्लेष के विषय में मुरारिदान का मत	१७६
श्लेष के विषय में इस ग्रन्थ के प्रणेताओं का मत	१७७
श्लेष की प्रधानता तथा अप्रधानता (पर विचार)	१७८
श्लेष की प्रधानता तथा अप्रधानता पर उद्भट का मत	१७८
श्लेष की प्रधानता तथा अप्रधानता पर मम्मटादि का मत	१७८
श्लेष की प्रधानता तथा अप्रधानता पर तृतीय मत	१७६
श्लेष अन्य अलङ्कारों के साथ कई प्रकार से आता है	१८०
अलङ्कारों की प्रधानता अप्रधानता (देखो ऊपरवाला शीर्षक और नोट)	१८३
अप्रस्तुत प्रशंसा (२७)	१८३
(१) सारूप्य निबन्धना	१८३
(२) कार्य निबन्धना	१८४
(३) कारण निबन्धना	१८५
(४) सामान्य निबन्धना	१८६
(५) विशेष निबन्धना	१८६
अप्रस्तुत प्रशंसा, निदर्शना तथा ललित का विषय-पृथक्करण	२७५
प्रस्तुताङ्कुर (२८)	१८७

विषय	पृष्ठ
प्रस्तुताङ्कुर का अप्रस्तुत प्रशंसा में अन्तर्भाव	१८७
पर्यायोक्ति का सम्मिलित लक्षण (२९)	१९०
प्रथम पर्यायोक्ति	१९१
द्वितीय पर्यायोक्ति	१९३
द्वितीय पर्यायोक्ति अलङ्कार नहीं, ध्वनि है	१९४
(पर्यायोक्ति का) अप्रस्तुत प्रशंसा से भेद	१९४
पर्यायोक्ति से ध्वनि का पृथक्करण	१९४
व्याजस्तुति (३०)	१९४
स्तुति से निन्दा	१९६
निन्दा से स्तुति	१९६
व्याजस्तुति के वास्तव में दो ही भेद हैं	१९७
व्याजस्तुति तथा लेश का विषय-पृथक्करण	२९०
आक्षेप (३१)	१९८
प्रथम आक्षेप	१९८
निषेधाभास	१९९
तीसरा भेद	१९९
विरोधाभास (३२)	२००
विरोध तथा विकल्प में भेद	२४७
विभावना (३३)	२०१
प्रथम विभावना	२०२
द्वितीय विभावना	२०२
तृतीय विभावना	२०४
चतुर्थ विभावना	२०६
पञ्चम विभावना	२०७
षष्ठ विभावना	२०८
विभावना और विरोध का विषय-विभाजन	२०८
विशेषोक्ति (३४)	२०८
विशेषोक्ति में अलङ्कारता	२१०
विशेषोक्ति अतद्गुण का विषय-विभाजन (देखो विशेषोक्ति... विषय-विभाजन)	३९९
असम्भव (३५)	२१०
विरोध और असम्भव में पृथक् अलङ्कारता	२११
असङ्गति (३६)	२११
प्रथम असङ्गति	२११
विरोध-असङ्गति-भेद-प्रदर्शन	२१३
द्वितीय असङ्गति	२१३
तृतीय असङ्गति	२१५
तृतीय भेद असंगति नहीं	२१५
द्वितीय भेद असंगति में मतभेद	२१५

विषय	पृष्ठ
विषम (३७)	२१६
प्रथम विषम	२१६
द्वितीय विषम	२१८
क्रिया से क्रिया की विरूपता	२१८
गुण से गुण की विरूपता	२१८
पञ्चम विभावना और विषम का विषय-पृथक्करण	२१६
विरोध असङ्गति तथा द्वितीय विषम में भेद	२१६
विषम तथा अतद्गुण (देखो विशेषोक्ति...विषय-विभाजन)	२१६
तृतीय विषम	२१६
सम (३८)	२२२
प्रथम सम	२२२
द्वितीय सम	२२४
तृतीय सम	२२४
तृतीय सम में चमत्कार	२२५
तृतीय सम तथा प्रहर्षण में भेद-प्रदर्शन	२२५
तृतीय सम केवल वाच्यार्थ में होता है (देखो नोट)	२२५
विचित्र (३६)	२२६
विषम और विचित्र की पृथक्ता	२२७
अधिक (४०)	२२७
प्रथम अधिक	२२७
द्वितीय अधिक	२२८
अधिक और विषम में पृथक्ता	२२८
अल्प (४१)	२२८
अधिक और अल्प का अन्य में अन्तर्भाव	२२६
अन्योन्य (४२)	२२६
विशेष (४३)	२३१
प्रथम विशेष	२३१
द्वितीय विशेष	२३२
द्वितीय विशेष का पर्याय से भेद	२३३
तृतीय विशेष	२३३
व्याघात (४४)	२३४
प्रथम व्याघात	२३४
तृतीय विषम विशेषोक्ति तथा व्याघात में भेद	२३५
द्वितीय व्याघात	२३५
कारणमाला (४५)	२३६
एकावल्यलङ्कार (४६)	२३७
माला दीपक (४७)	२३८
दीपक और एकावली के	

विषय	पृष्ठ
सङ्कर से माला दीपक में भिन्नता	२३६
सारालङ्कार (४८)	२३६
यथासङ्ख्यालङ्कार(४६)	२३६
पर्याय (५०)	२४०
प्रथम पर्यायालङ्कार	२४०
द्वितीय पर्याय	२४२
पर्याय, विशेष और परिवृत्ति का भेद-प्रदर्शन	२४१
समुच्चय प्रथम तथा पर्याय में भेद	२५३
परिवृत्त्यलङ्कार (५१)	२४३
परिवृत्ति में मतभेद	२४३
पर्याय, विशेष और परिवृत्ति का भेद प्रदर्शन	२४१
परिवृत्ति के भेदों के विषय में मतभेद (देखो परिवृत्ति के लक्षण के नीचे)	२४३
परिसङ्ख्यालङ्कार(५२)	२४६
पर्यस्तापह्नुति और परिसङ्ख्या का भेद-प्रदर्शन	२४७
विकल्प (५३)	२४७
विरोध तथा विकल्प में भेद	२४७
समुच्चयालङ्कार (५४)	२४६
समुच्चय का सामान्य लक्षण (देखो समुच्चय)	२४६

विषय	पृष्ठ
प्रथम समुच्चय	२४६
गुणों का उदाहरण (देखो प्रथम समुच्चय के लक्षण के बाद)	२४६
क्रियाओं का उदाहरण	२५१
कारक दीपक और प्रथम समुच्चय में भेद	२५७
द्वितीय समुच्चय	२५१
समुच्चय और संदेहवान् का भेद-प्रदर्शन	२५२
समाधि और द्वितीय समुच्चय का पृथक्करण	२५३
प्रथम समुच्चय तथा पर्याय में भेद	२५३
कारक दीपक (५५)	२५४
व्याकरण में कारक के प्रकार का (लक्षण के नीचे)	२५४
कारक दीपक और प्रथम समुच्चय में भेद	२५७
समाधि (५६)	२५७
समाध्यलङ्कार और समुच्चय में भेद	२५७
समाधि और प्रहर्षण में भेद	२७६
प्रत्यनीकालङ्कार (५७)	२५८
प्रत्यनीक की पृथक् अलङ्कारता	२५८

विषय	पृष्ठ
काव्यार्थापत्ति (५८)	२५९
काव्यार्थापत्ति पर सर्वस्व-कार का मत	२६०
काव्यलिङ्ग (५९)	२६०
काव्यलिङ्ग का परिकर से भेद	२६४
काव्यलिङ्ग से अनुमान का भेद	२६६
ग्रंथ के काव्यलिङ्ग के उदाहरण	२६५
काव्यलिङ्ग में मतभेद	२६५
अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, परिकर तथा काव्यलिङ्ग में भेद	२६७
काव्यलिङ्ग का लक्षण	२६६
अर्थान्तरन्यास (६०)	२६५
विशेष (वाक्य)	२६५
सामान्य (वाक्य)	२६५
अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, परि-कर तथा काव्यलिङ्ग में भेद	२६७
उदाहरण (६० अ)	२६७
उदाहरण के वाचक	२६७
उदाहरण अलङ्कार की मान्यता-अमान्यता में मतभेद	२६७
साहित्य-दर्पण द्वारा स्वीकृत अर्थान्तरन्यास का भेद काव्यलिङ्ग है	२६८
विकस्वर (६१)	२६९
विकस्वर की मान्यता-अमा-न्यता में मतभेद	२७०
प्रौढ़ोक्ति (६२)	२७०
प्रौढ़ोक्ति की पृथक् अलङ्कारता मान्य अथवा अमान्य	२७२
सम्भावन (६३)	२७२
सम्भावन की पृथक् अलङ्कारता	२७३
मिथ्याध्यवसित (६४)	२७३
मिथ्याध्यवसित में पृथक् चमत्कार होने में मतभेद	२७४
ललित (६५)	२७४
अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, निदर्शना तथा ललित का विषय-पृथक्करण	२७५
प्रस्तुताङ्कुर और ललित का विषय-विभाजन	२७५
प्रहर्षण (६६)	२७६
प्रथम प्रहर्षण	२७६
समाधि और प्रहर्षण में भेद	२७६
द्वितीय प्रहर्षण	२७७
तृतीय प्रहर्षण	२७८
विषादन (६७)	२७८

विषय	पृष्ठ
(विवादन में) पृथक् अलङ्कारता नहीं	२७६
उल्लास (६८)	२७६
उल्लास के कई प्रकार के उदाहरणान्तर हैं	२७६
(१) दोषेण गुणः	२७६
(२) गुणेन दोषः	२८१
(३) गुणेन गुणः	२८२
(४) दोषेण दोषः	२८३
(उल्लास की) पृथक् अलङ्कारता मान्य या अमान्य	२८५
अवज्ञा (६९)	२८५
अवज्ञा में पृथक् अलङ्कारता नहीं	२८६
अनुज्ञा (७०)	२८७
अनुज्ञा का पृथक् चमत्कार	२८६
तिरस्कार	२८६
लेश (७१)	२८६
दोष में गुण	२९०
गुण में दोष	२९०
व्याजस्तुति तथा लेश का विषय-पृथक्करण	२९०
लेश में पृथक् अलङ्कारता है या नहीं	२९१
मुद्रा (७२)	२९१
मुद्रा में चमत्काररहीनता	२९१
रत्नावली (७३)	२९२
रत्नावली में अन्य अलङ्कार का चमत्कार-मात्र	२९३
तद्गुण (७४)	२९३
उल्लास और तद्गुण का भेद (देखो विशेषोक्ति ... तद्गुण का विषय-विभाजन)	२९९
पूर्वरूप (७५)	२९६
प्रथम पूर्वरूप	२९६
प्रथम पूर्वरूप में पृथक् अलङ्कारता होने न होने में मतभेद	२९७
द्वितीय पूर्वरूप	२९८
द्वितीय पूर्वरूप में पृथक् अलङ्कारता होने में मतभेद	२९८
अतद्गुण (७६)	२९८
विशेषोक्ति विषम अतद्गुण उल्लास अवज्ञा तथा तद्गुण का विषय-विभाजन	२९९
अनुगुण (७७)	३००
अनुगुण में पृथक् अलङ्कारता नहीं	३०१
मीलित (७८)	३०२

विषय	पृष्ठ
सामान्य और मीलित में भेद	३०४
सामान्य (७६)	३०३
सामान्य और मीलित में भेद	३०४
उन्मीलित (८०)	३०४
उन्मीलित में पृथक् चमत्कार	३०५
विशेषक (८१)	३०६
विशेषक में पृथक् चमत्कार है या नहीं ?	३०६
गूढ़ोत्तर (८२)	३०७
मम्मट के द्वितीय उत्तर से पार्थक्य	३०७
चित्रोत्तर (८३)	३०७
प्रथम चित्रोत्तर	३०७
द्वितीय चित्रोत्तर	३०८
उत्तर (८३ अ) (मम्मट द्वारा स्वीकृत)	३०८
प्रथम उत्तर (लक्षण)	३०८
द्वितीय उत्तर (लक्षण)	३०८
प्रथम उत्तर (उदाहरण)	३०६
(प्रथम) उत्तर, अनुमान तथा काव्यलिङ्ग में भेद	३०६
प्रथम उत्तर में चमत्काराभाव	३१०
द्वितीय उत्तर (उदाहरण)	३१०
परिसङ्ख्या और द्वितीय उत्तर की पृथकता (पर काव्य-प्रकाश के एक टीका-कार का मत) (देखो नोट)	३११
परिसङ्ख्य तथा द्वितीय उत्तर की पृथकता	३११
द्वितीय उत्तर में मतभेद	३११
उत्तर अलङ्कार के तीन भेद मानना चाहिए (देखो तृतीय उत्तर)	३११
सब मिलाकर चार भेद हो गए (देखो नोट)	३११
गूढ़ोत्तर का लक्षण बदल देने से केवल दो रह जाते हैं अर्थात् गूढ़ोत्तर (के दो भेद) तथा चित्रोत्तर के दो भेद (देखो नोट पृष्ठ ३११ तथा पहला पैरा)	३१२
गूढ़ोत्तर का इस ग्रन्थ-कर्त्ताओं का लक्षण	३१२
सूक्ष्म (८४)	३१३
सूक्ष्म केवल व्यङ्ग्य का विषय है	३१४
पिहित (८५)	३१४
पिहित व्यङ्ग्य का विषय है (देखो नोट)	३१५

विषय	पृष्ठ
रुद्रट का पिहित	३१५
(दोनो मतों के) पिहित में पृथक् अलङ्कारता नहीं	३१६
व्याजोक्ति (८६)	३१६
व्याजोक्ति और अपह्नुति का विषय-विभाजन	३१७
गूढ़ोक्ति (८७)	३१७
गूढ़ोक्ति अलङ्कार नहीं	३१८
विवृतोक्ति (८८)	३१८
विवृतोक्ति में वाच्यार्थ को चमत्कृत करने का उपकरण नहीं	३१६
युक्ति (८६)	३१६
युक्ति में वाच्यार्थ को चमत्कृत करने की शक्तिहीनता	३२०
लोकोक्ति (६०)	३२०
छेकोक्ति (६१)	३२२
छेकोक्ति में वाच्यार्थ चमत्कारी उपकरण की हीनता	३२३
वक्रोक्ति (६२)	३२३
काकु वक्रोक्ति	३२३
श्लेष वक्रोक्ति	३२४
वक्रोक्ति शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दो प्रकार की	३२५
वक्रोक्ति को हम केवल अर्थालङ्कार मानते हैं (देखो नोट)	३२५
स्वभावोक्ति (६३)	३२५
स्वभावोक्ति का उपकरण वाच्यार्थ को चमत्कृत नहीं करता	३२६
भाविक (६४)	३२७
भाविक में वाच्यार्थ का चमत्कार है	३२८
उदात्त (६५)	३२६
प्रथम उदात्त	३२६
द्वितीय उदात्त	३३१
अत्युक्ति (६६)	३३२
अत्युक्ति तथा उदात्त में अत्यन्त विशेषण देने का कारण	३३५
अतिशयोक्ति, अत्युक्ति तथा उदात्त का अपार्थक्य	३३६
निरुक्ति (६७)	३३६
निरुक्ति में स्वतन्त्र अलङ्कारता नहीं	३३७
प्रतिषेध (६८)	३३८
प्रतिषेध पृथक् अलङ्कार नहीं	३३८
विधि (६६)	३३६
विधि में अलङ्कारता नहीं	३३६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
हेतु (१००)	३३६	अद्भुत रसाभास	३५१
प्रथम हेतु	३३६	हास्य रसाभास	३५२
द्वितीय हेतु	३४०	भयानक रसाभास	३५२
परिकर का हेतु अलङ्कार से पृथक्करण	१६८	बीभत्स रसाभास	३५२
हेतु की पृथक् अलङ्कारता	३४०	रसाभास का अर्थ (देखो नोट	३५३
रसवदादि अलङ्कार	३४३	द्वितीय (ऊर्जस्वि) भावाभास	३५३
रस तथा भाव का सूक्ष्मतः वर्णन	३४३	समाहित (भावशान्ति) (१०४)	३५५
रस ९ ही हैं (देखो नोट तथा पृष्ठ के अन्त तक)	३४५	भावोदय (१०५)	३५६
रसवदादि अलङ्कार (लक्षण)	३४६	भाव-सन्धि (१०६)	३५७
रसवत् (१०१)	३४६	विरोधी भाव का लक्षण (देखो नोट)	३५७
भाव	३४६	भाव-सन्धि और भाव-सबलता में भेद (देखो भाव-सबलता के विषय में मतभेद)	३५८
प्रेयस् या प्रेय (१०२)	३४६	भाव-सबलता (१०७)	३५८
ऊर्जस्वि (१०३)	३५२	भाव-सबलता के विषय में मतभेद	३५८
प्रथम (ऊर्जस्वि) रसाभास	३५२	भाव-सबलता और भाव-सन्धि में भेद (देखो ऊपर के शीर्षक में)	३५८
स्थायी भाव अनौचित्य तथा औचित्य से प्रवृत्ति (देखो नोट)	३५२	रसवदादि में अलङ्कारता है या नहीं ?	३६०
शृङ्गाराभास	३५२	प्रथम मत इनको अलङ्कार	
करुणरसाभास	३५२		
शान्तरसाभास	३५२		
रौद्र और वीर रसाभास	३५२		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
न माननेवालों का	३६०	प्रत्यक्ष (प्रमाण) में अलङ्का-रता का आभास नहीं	३७३
द्वितीय मत (देखो रस-वदादि को भाक्त अलङ्कार मानना चाहिए)	३६१	**शब्दप्रमाण (१११)**	३७३
तीसरा मत	३६२	आत्मतुष्टि शब्दप्रमाण कैसे (देखो नोट)	३७३
द्वितीय और तृतीय मतों का सिंहावलोकन	३६२	शब्दप्रमाण का काव्यलिङ्ग के अन्तर्गत	३७६
चौथा मत	३६२	**अर्थापत्ति प्रमाण(११२)**	३७६
रसवदादि अलङ्कार नहीं	३६३	अर्थापत्ति अनुमान में है	३७६
प्रमाणालङ्कार	३६४	**अनुपलब्ध्य प्रमाण (११३)**	३७७
प्राक्कथन (देखो ऊपर के शीर्षक के नीचे)	३६४	अनुपलब्ध्य की चमत्कार-हीनता	३७७
अनुमान (१०८)	३६५	**सम्भव (११४)**	३७७
ग्रन्थ के काव्यलिङ्ग के उदाहरण	३६५	सम्भव में अन्य अलङ्कारों का ही चमत्कार है	३७७
काव्यलिङ्ग का लक्षण	३६६	**ऐतिह्य प्रमाण (११५)**	३७८
काव्यलिङ्ग से अनुमान का भेद	३६६	ऐतिह्य काव्यलिङ्ग में है	३७९
उत्प्रेक्षा तथा अनुमानवाचक शब्दों के अर्थ में भेद	३६८	आठों प्रमाण स्मरण रखने के लिये दूलह के दो छन्द	३७९
अनुमान का काव्यलिङ्ग में अन्तर्भाव	३७१	**शब्दालङ्कार**	३८२
उपमान प्रमाण (१०९)	३७२	**अनुप्रास (११६)**	३८२
उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव	३७२	अनुप्रास के भेदों का चक्र	३८१
प्रत्यक्ष प्रमाण (११०)	३७३	(१) वर्णानुप्रास	३८३
		१— छेकानुप्रास	३८३

विषय	पृष्ठ
शब्द के मध्यवाली वर्ण-मैत्री अलङ्कार नहीं	३८५
२—वृत्त्यनुप्रास	३८५
२ अ—उपनागरिका वृत्ति	३८६
२ आ—परुषा या गौणी	३८७
२ इ—कोमला या पाञ्चाली	३८८
२ ई—श्रुत्यनुप्रास	३८६
३—छन्दस्थ पदान्त्यानुप्रासः	३६०
(२) लाटानुप्रास	३६१
१—पदों की आवृत्ति	३६२
२—पद की आवृत्ति	३६३
लाटानुप्रास में केवल दो भेद	३६३
यमक (११७)	३६४
साहित्य-दर्पण के पदावृत्ति आदि भेद उदाहरणान्तर-मात्र हैं	३६५
लाटानुप्रास और यमक में भेद	३६५
वीप्सा (११८)	३६६
लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा पृथक् अलङ्कार नहीं	३६७
पुनरुक्तवदाभास (११६)	३६७
(१) शब्दगत पुनरुक्तवदाभास	३६६
(२) उभयगत पुनरुक्तवदाभास	३६६
१—शब्दगत अभङ्ग पुनरुक्तवदाभास (देखो भूषण के छन्द की टीका में)	३६८
२—शब्दगत सभङ्ग पुनरुक्तवदाभास (देखो भूषण के छन्द की टीका में)	३६८
पुनरुक्तवदाभास में अलङ्कारता नहीं	३६८
शब्दश्लेष (१२०)	३६८
वक्रोक्ति (१२१) (शब्द-वक्रोक्ति)	३६८
चित्र (१२२)	३६६
संसृष्टि (१२३)	४००
(१) शब्दालङ्कार-संसृष्टि	४००
(२) अर्थालङ्कार-संसृष्टि	४०१
संसृष्टि में एक ही भाव को पुष्ट करने का सम्बन्ध (है)	४०१
(३) शब्दार्थालङ्कार-संसृष्टि	४०१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अलङ्कारों की बाधकता	४०४	सङ्कर (१२४)	४०७
अलङ्कारों की साधकता	४०४	(१) अङ्गी-अङ्ग-भावसङ्कर	४०७
वही साधक वही बाधक	४०५	(२) सम-प्रधान सङ्कर	४१०
अलङ्कारों की मुख्यता और अमुख्यता का निर्णय	४०५	(३) सन्देह-सङ्कर	४११
स्वतन्त्र रूप से न आ सकनेवाले अलङ्कारों के लिये नियम	४०६	(४) एकवाचानुप्रवेश सङ्कर	४१२
		संसृष्टि और सङ्कर में पृथक् अलङ्कारता नहीं	४१४
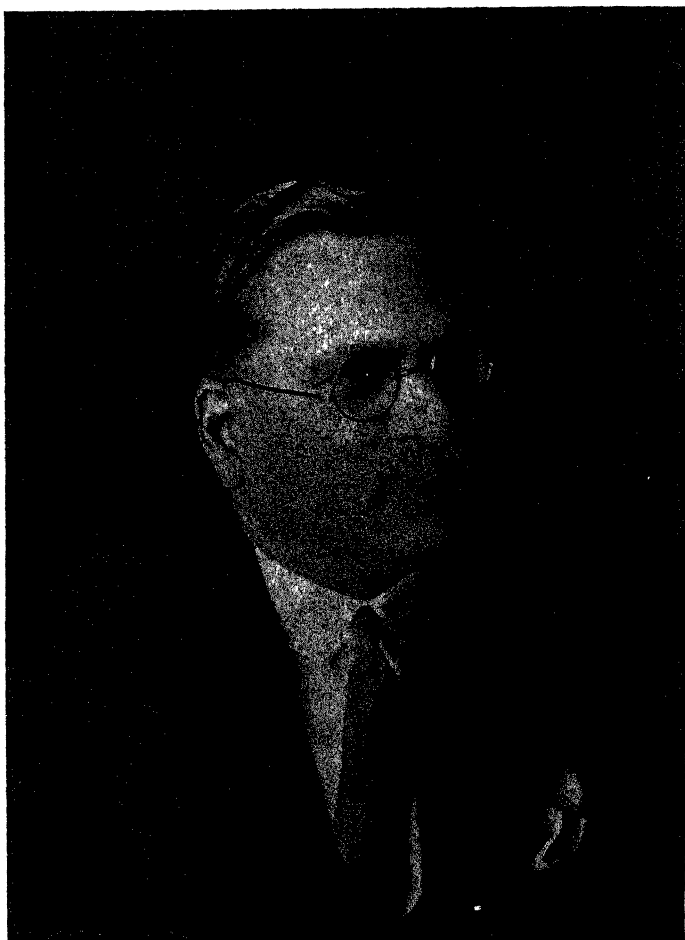
स्व० पंडित राजकिशोर मिश्र

ग्रंथकारों के परमप्रिय सुहृद् की पवित्र स्मृति में साहित्य-पारिजात का यह भाग समर्पित है।

भूमिका

हिंदी-साहित्य में दशांग कविता का वर्णन हमारे आचार्यों ने कुछ पूर्णता के साथ किया है। दशांग कविता का कथन तो प्रायः होता है, किंतु वे दसों अंग क्या हैं, सो बहुत प्रकट नहीं। हमने 'मिश्रबंधु-विनोद' की भूमिका में दसों अंगों का सूक्ष्म कथन किया है। कौन अंग प्रधान माने जायँ और कौन उपांग, इसमें मतभेद संभव है, किंतु कोई झगड़ा नहीं; क्योंकि मुख्यता विशुद्ध विवरण की है, न कि मुख्यांगता या उपांगता की। इच्छा तो हमारी दशांग साहित्य लिखने की थी, किंतु उनमें से पिंगल का विषय काफ़ी बढ़ा है, और उस पर कई अच्छे ग्रंथ भी प्रस्तुत हैं, इसलिये उसके फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं समझ पड़ती। अतएव अपने 'साहित्य पारिजात' में शेष नवों अंगों का विवरण करना हम योग्य समझते हैं। इन अंगों में अलंकार का विषय सबसे बड़ा है, जो पहले भाग में दिया गया है। इसके अतिरिक्त पदार्थ-निर्णय का भी वर्णन इसी भाग में हुआ है। इसी से मिलता हुआ ध्वनिभेद भी है, किंतु विना रसादि का वर्णन जनाए उसका समझाना कठिन है, इसलिये उनका कथन होकर दूसरे भाग में, यथास्थान, ध्वनि-भेद का भी वर्णन होगा। 'साहित्य-पारिजात' श्रावण-शुक्ला पंचमी, सं० १९९७ (८ अगस्त, १९४०) को आरंभ होकर पौष में समाप्त हुआ। ज्येष्ठ लेखक की शारीरिक अस्वस्थता के कारण २२ ऑक्टोबर से १६ नवंबर तक यह कार्य स्थगित रहा। अब तक मिश्रबंधु (रावराजा डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र एम्० ए०, डी०

लिट्० तथा रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र) के नाम से हमारे लोगों के ग्रंथ बना करते थे, और अब भी बनते जाते हैं, किंतु इन दिनों ज्येष्ठ बंधु स्वर्गवासी पंडित गणेशबिहारी मिश्र के सुपुत्र पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी साहित्यिक विषय पर ध्यान देने लगे हैं। अतएव हम दोनो (रायबहादुर शुकदेवबिहारी मिश्र तथा पंडित प्रतापनारायण मिश्र) ने मिलकर पहले दूलह-कृत 'कवि-कुल-कंठाभरण' की टीका रची, जो गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित हो चुकी है। आजकल यह विचार उठा कि हिंदी-साहित्य के अंगों पर भी एक ग्रंथ बनाया जाय।

यह विषय संस्कृत-साहित्य में प्राचीन काल से चला आता है, जिसका थोड़ा-सा विवरण आगे दिया जायगा। उसी के आधार पर हिंदी-कवियों ने भी ग्रंथ रचे, किंतु अपने यहाँ हिंदी में पद्यात्मक ग्रंथों की ही प्रथा थी, जिनमें विविध अंगों के वर्णन सूक्ष्मता-पूर्वक तो अच्छे हुए, किंतु तत्संबंधी कारण माला के साथ विस्तृत विवरणों की कमी रही, जो गुरु-मुख द्वारा पूर्ण की जाती थी। अब जिज्ञासुओं की संख्या बहुत बढ़ रही है, तथा कार्याधिक्य से गुरुगण समुचित समय भी नहीं पाते। इससे ऐसे ग्रंथों की माँग जिज्ञासुओं में बढ़ रही है, जिनमें उनके लिये गुरु-मुख की आवश्यकता न रह जाय। ऐसे ही विचारों से प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की गई है। प्राचीन समय में संस्कृत के आचार्यों ने तो एक दूसरे के मतों का खंडन-मंडन करके काव्यांगों के शुद्धातिशुद्ध रूप निकालने तथा नवविचारोत्पादन में काफ़ी बुद्धि-वैभव दिखलाया, किंतु हमारे हिंदी के आचार्यों ने इस ओर तादृश ध्यान नहीं दिया, वरन् प्राचीन संस्कृत-आचार्यों में से मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, पंडितराज आदि कुछ ही चुन लिए, और अपने विवरण उन्हीं के निर्णयों पर प्रायः आधारित कर दिए। जैसा ऊपर कहा जा चुका

है, विविध कारणों से अब गुरु-मुख की आशा छोड़कर ग्रंथ बनाने की आवश्यकता पड़ गई है।

बहुतेरे ग्रंथकार प्राचीनों के मत तो दे देते हैं, किंतु अपनी सम्मति उन्हीं के बराबर लिखते हैं। हमने इसी प्रणाली पर अनुगमन न करके यत्र-तत्र, यथास्थान, अपने भी निर्णय अथवा नए विचार लिखने का साहस किया है। कहा जा सकता है, क्या हम अपने को प्राचीन आचार्यों के समकक्ष समझने का दावा करते हैं, जो ऐसा साहस उचित समझा गया? उत्तर यही है कि हमारे स्वमत प्रकाशन से ऐसा निष्कर्ष नहीं निकल सकता। हमने प्राचीन आचार्यों के सद्ग्रंथों का अध्ययन शिष्य-भाव से किया है, न कि समकक्षता के दुस्साहस पूर्ण दंभ से। यदि वे परोपकारी आचार्यगण इस विषय पर इतना प्रयत्न न कर गए होते, तो हम लोग आज जितना सोच सकते हैं, उनका दशमांश विचार भी इन भारी विषयों पर न कर सकते। यह उन्हीं की कृपा का फल है कि वर्तमान समय के कवियों को इस विषय का इतना ज्ञान हो सका है। फिर भी कोई कारण नहीं कि ये उत्कृष्ट विषय यहीं रुक जायँ, और इनका विकास भविष्य के लिये भूत काल ही के परिश्रम पर सीमित रहे। यदि संस्कृत के आचार्य ऐसा ही संकुचित विचार करते, तो हमारा साहित्य-शास्त्र जितनी उन्नति कर चुका है, उसकी चौथाई भी न कर सकता। हमने जो नवीन विचार लिखे हैं, उनमें दस में से यदि नौ अशुद्ध और एक ही शुद्ध निकले, तो भी दशमांश रूप में तो अपने साहित्य-शास्त्र का उचित विकास इस प्रयत्न से होगा ही। अतएव नवविचारोत्पादन में प्राचीनों का अपमान समझना भूल है। यहाँ तो उन्हीं के सहारे वर्तमान समय की बुद्धि का विकास-मात्र करने का सफल अथवा असफल प्रयत्न है। प्राचीन आचार्यों की महत्ता का मान शतमुख से स्वीकृत है।

उदाहरणों के विषय में भी कुछ बातें कह देना ठीक होगा। हिंदी में रीति-ग्रंथ लिखनेवाले अपने ही छंदों के उदाहरण देते आए हैं, केवल एक ही आध लेखक ने इतरों के कुछ उदाहरण दिए हैं। इस प्रथा पर अनुगमन करने से उदाहरणों की उत्तमता प्रायः हर स्थान पर बहुत श्रेष्ठ नहीं मिलती। संस्कृत के आचार्यों ने सैकड़ों कवियों की रचनाएँ उदाहरण में रक्खी हैं। हमने इन दोनो शैलियों के बीच का मार्ग लिया है। अपने छंद तो सबको अच्छे लगते हैं, किंतु हमने यथासाध्य अपने भी बुरे छंद उदाहरणों के लिये नहीं चुने। जो चुने गए हैं, उनमें भी बहुतेरे हमारे छंद संभवतः इतरों को पसंद न हों। ऐसी दशा में ममता-वश चुनाव माना जा सकता है। हमारे स्वजन स्वर्गवासी पंडित भैरवप्रसाद वाजपेयी (विशाल कवि) के बहुत-से छंद हैं। उनमें से भी कुछ रक्खे गए हैं। ज्येष्ठ लेखक के पितामह के ज्येष्ठ बंधु के पौत्र पंडित नंदकिशोर मिश्र (लेखराज कवि) का शुभ नाम 'शिवसिंह-सरोज', डॉक्टर सर जॉर्ज ग्रियर्सन आदि के ग्रंथों में लिखित है। उनके भी कुछ छंद चुने गए हैं। वर्तमान कवियों के छंद चुनने में कोई क्रम नहीं। जिस किसी ने अपने छंद भेज दिए, वे अच्छे समझे जाने पर चुन लिए गए। शेष कवियों के छंद छाँटने का प्रयत्न नहीं किया गया। ग्रंथ की मुख्यता शुद्ध उदाहरण देने में है, न कि बहुतेरे वर्तमान या प्राचीन कवियों की रचनाएँ छाँटने में। अतएव जिन महाशयों के छंद उदाहरणों में नहीं आए, उन्हें यह न सोचना चाहिए कि उनके छंद नहीं छाँटे गए। यहाँ प्रयोजन उदाहरण-मात्र से है, न कि विविध कवियों के छंदों से।

जहाँ अच्छे उदाहरण सुगमता-पूर्वक नहीं मिले, वहाँ दोहों आदि से काव्यांगों के रूप-मात्र समझा दिए गए हैं। प्रति छंद के पीछे कवि का नाम लिख दिया गया है। जहाँ नाम न लिखा हो, वहाँ

हमारा छंद न समझकर यह जानना चाहिए कि वह स्मरण-शक्ति से लिखा गया है, और कवि का नाम याद नहीं। जहाँ सुगमता-पूर्वक अच्छे उदाहरण मिल गए, वहाँ उनकी संख्या बढ़ भी गई है। कहीं-कहीं ग्रंथ संग्रह-सा जान पड़ता है। कई उदाहरण होने से जिज्ञासुओं को विविध प्रकार से उसी काव्यांग का सन्निवेश देखकर समझने में सुविधा होगी, ऐसा समझा गया है। ग्रंथ जिज्ञासुओं के लिये लिखा जाने से जहाँ छंद कठिन समझ पड़े, वहाँ अर्थ भी लिख दिए गए हैं, या कठिन स्थानों पर नोट दे दिए गए हैं। आशा है, प्रिय बालकों को लिखित काव्यांग समझने में अड़चन न पड़ेगी।

कवियों ने अपने छंद केवल काव्यांगों के उदाहरणार्थ न बनाकर विविध कारणों से बनाए थे। ऐसी दशा में उदाहरणों में उन छंदों के लिखने में कभी-कभी एकाध शब्द काव्यांग के प्रतिकूल पड़ गया था, और हमने उसे बदलकर लिख दिया। ऐसी दशाओं में शब्द-परिवर्तन केवल काव्यांगों के विचार से हुआ है, न कि रचनाओं में दोष देने के लिये।

यह ग्रंथ लिखने के लिये हमने प्राचीन तथा नवीन संस्कृत और हिंदी-साहित्यिक ग्रंथ यथासाध्य पढ़े हैं। कुछ मित्रों का विचार है, हमें अलंकार का विषय ऐतिहासिक प्रणाली पर लिखना चाहिए था, अर्थात् अलंकार अथच अन्यान्य विविध काव्यांग समय के साथ जिस प्रकार विकसित हुए हैं, उसका भी कथन करना योग्य था। इस प्रकार का विवरण एक बंगाली महाशय ने दिया भी है, किंतु वह ग्रंथ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। काणे महाशय का अलंकारों पर ग्रंथ भी इसी ढंग का है। उसमें ऐतिहासिक विवरण मौजूद है। यह ग्रंथ विश्वनाथ-कृत 'साहित्य-दर्पण' के तीन परिच्छेदों

की टीका है। इसमें संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के समय तथा अन्य बातों का सकारण निर्णय है। हम संस्कृतवाले आचार्यों के समय इसी के आधार पर देंगे, और समर्थक कारणों का विवरण न करेंगे, क्योंकि वह काणे महाशय की पुस्तक में प्रस्तुत ही है। अब इसी का विषय उठाया जाता है।

भारत में काव्यांगों का सक्रम कथन पहलेपहल भरत मुनि ने किया। कुछ लोग इन्हें पाणिनि का समकालीन समझते हैं, किंतु अब सं० ३५० के निकट इनका समय माना जाता है। आपका ग्रंथ नाट्यशास्त्र पर है, जिसमें नाटकीय विषयों के अतिरिक्त उपमा, रूपक, यमक तथा दीपक नामक चार अलंकारों का भी विवरण है। धर्मकीर्ति और भट्टि भी परम प्राचीन आलंकारिक आचार्य हैं। भरत के पूर्व भी कुछ आचार्यों का होना अनुमान किया जाता है, किंतु न तो उनके नाम प्राप्त हैं, न ग्रंथ। अतएव भरत ही पहले आचार्य रह जाते हैं। भरतादि के पीछे भामह ने काव्यालंकार-ग्रंथ रचा (सं० ५५० से ६६० के निकट), तथा दंडी ने काव्यादर्श (छठी शताब्दी में)। उद्भट ने (सं० ८५० के निकट) अलंकार-सार-संग्रह रचा, जिसका कवि-समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। रुद्रट (सं० ८५० के निकट) का काव्यालंकार-ग्रंथ प्रसिद्ध है, जिस पर नमि साधु की टिप्पणी है। वामन (सं० ८५७-६०७) ने ध्वन्यालोक रचा। ध्वनि के विषय पर यह महाशय व्याकरणाचार्य पाणिनि के समान पूज्य समझे जाते हैं। राजशेखर (सं० ६८२ के निकट)-कृत काव्य-मीमांसा तथा धारेश्वर भोजराज (सं० १०६२-११११)-कृत सरस्वती। कंठाभरण भी प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। भोजराज ने अपने ग्रंथ में कई सौ कवियों के उदाहरण दिए हैं। यही प्रथा संस्कृत के इतर आचार्यों की भी थी। क्षेमेंद्र (सं० १२०० के निकट) के औचित्य विचार-चर्चा तथा कवि-

कंठाभरण हैं। प्रसिद्ध आचार्य मम्मट भट्ट (सं० ११०० के निकट)-कृत काव्यप्रकाश परम प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है, जो अब भी विश्व-विद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक है। इस पर प्राचीन टीका-ग्रंथ नागेश भट्ट-कृत उद्योत तथा गोविंद ठक्कुर-कृत प्रदीप हैं। आजकल बालबोधिनी टीका (वर्तमान समय की) बहुत चलती है। इन दिनों प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर गंगानाथ झा ने काव्यप्रकाश पर एक अँगरेज़ी की भी टीका लिखी। धनीराम ने काव्य-प्रभाकर में काव्य-प्रकाश के अष्टम सर्ग तक का उल्था किया। हिंदी के कवि प्रायः कहा करते हैं—"मम्मट-मत को सार यह बरनत भाषा भाखि।" हिंदी के आचार्य अलंकार का विषय प्रायः अप्पय्य दीक्षित पर आधारित करते हैं, और शेष काव्यांग मम्मट पर। रुय्यक (११९२-१२१२) का 'अलंकार-सर्वस्व' भी श्रेष्ठ ग्रंथ है। केशवदास ने इसे भी अपने अलंकार-विषय का आधार माना है। हेमचंद्र (सं० ११४५-१२२६)-कृत 'काव्यानुशासन' भी उत्कृष्ट ग्रंथ है, जिसमें कथन संक्षिप्त रूप में हैं। प्रसिद्ध गीतगोविंदकार जयदेव (सं० १२५७ के लगभग)-कृत 'चंद्रालोक' को भी हिंदी के आचार्यों ने कुछ आधार माना है। विद्याधर (१३६४-८४)-कृत 'एकावली' पर मल्लिनाथ (पंद्रहवीं शताब्दी) कृत तरला टीका है। विश्वनाथ (सं० १३५७-१४४१)-कृत 'साहित्य-दर्पण' परम प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस पर रामचरण तर्कवागीश-कृत अच्छी टीका है। वर्तमान समय में 'साहित्य-दर्पण' पर शालग्राम शास्त्री-कृत विमला टीका तथा पी० वी० काणे-कृत श्रेष्ठ टीकाएँ हैं। अंतिम टीका से हमने भी अपने इस ग्रंथ में सहायता ली है। अप्पय्य दीक्षित (सं० १७वीं शताब्दी) के 'चित्रमीमांसा' तथा 'कुवलयानंद' प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। दोनो में अलंकार का विषय है। 'कुवलयानंद' जयदेव-कृत 'चंद्रालोक' का परि-वर्द्धन है, यहाँ तक कि इस ग्रंथ को अब 'कुवलयानंद चंद्रालोक'

कहते हैं। दूलह कवि ने कहा ही है—"कुवलयनंद चंद्रालोक के मते ते कहीं लुपता ये आठौ आठौ पहर प्रमानिए।" तैलंग ब्राह्मण जगन्नाथ पंडितराज त्रिशूली सम्राट् शाहजहाँ के समकालीन थे। इनका ग्रंथ 'रस-गंगाधर' अपूर्ण है, किंतु जहाँ तक है, वहाँ तक व्याख्याएँ उसमें बढ़िया हैं।

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों में अलंकार के विषय पर मम्मट, रुय्यक, जयदेव, अप्पय्य, विश्वनाथ, विद्याधर और पंडितराज प्रधान समझ पड़ते हैं। अलंकार-रत्नाकरकार शोभाकर के मतों पर भी पंडितराज ने खंडन-मंडन किया है। वैद्यनाथ सूरि-कृत 'अलंकार-चंद्रिका' भी प्राचीन ग्रंथ है। अपना 'पारिजात' लिखते समय उपर्युक्त ग्रंथों में से बहुतों को हमने देखा है।

अब हिंदी के आचार्यों का विषय उठाया जाता है। सबसे पुराने आचार्य (सं० ८०० से पूर्ववाले) पुंड कवि समझे जा सकते थे, किंतु न तो उनका ग्रंथ ही प्राप्त है, न नाम ही किसी प्रामाणिक रीति पर मिलता है। गोप भी आचार्य समझे जाते हैं, किंतु उनका भी ग्रंथ अप्रकाशित है। सबसे पुराने अलंकार-शास्त्री कृपाराम हैं, जिनका 'हित-तरंगिणी' ग्रंथ (सं० १५९८ का) है, जो छप भी चुका है, जिसके छंद मनोहर हैं। इनके पीछे प्रसिद्ध कवि केशवदास का नाम आता है, जिन्होंने सं० १६५८ में अलंकारों पर 'कविप्रिया' ग्रंथ लिखा। उसकी प्रणाली अब चलती नहीं। अनंतर चिंतामणि त्रिपाठी (सं० १७१६), महाराजा यशवंतसिंह (१७२७), कुलपति मिश्र (१७२७), सुखदेव मिश्र (१७२८), भूषण (१७३०), श्रीपति (काव्य-सरोजकार, १७७७), देव (१७८३), रसिक सुमति (१७८५), दास (१७९१), बंसीधर दलपतिराय (१७९२), सोमनाथ (१७९४), दूलह (१८०२), बैरीसाल (१८२५), रघुनाथ (१८२६), जगतसिंह (१८२७), चंदन (१८३०), ऋषिनाथ (१८३१),

गोकुलनाथ (१८३९), रामसिंह (१८४९), पद्माकर (१८५०), ब्रह्मदत्त (१८६७), प्रताप साहि (१८८२), लेखराज (१९००) और मुरारिदान (१९५०) के नाम आते हैं। इन सबके ग्रंथ हमने 'साहित्य-पारिजात' बनाते समय यत्र-तत्र देखे हैं। वर्तमान समय में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, बाबू जगन्नाथप्रसाद (भानु) तथा पंडित रामशंकर शुक्ल (रसाल) ने भी अलंकारों के विषय पर परिश्रम किया है। सुखदेव मिश्र ने अलंकारों पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा, केवल पिंगल के ग्रंथ में जहाँ-तहाँ अलंकारों का भी वर्णन कर दिया है। उपर्युक्त आचार्यों के विषय में विस्तार-पूर्वक विचार प्रकट करना अनावश्यक है, क्योंकि हिंदी जाननेवाले इन्हें बहुत करके जानते ही हैं। फिर भी वर्णन-पूर्णता के लिये कुछ लिखा जाता है। चिंतामणि, कुलपति मिश्र और देव ने पूरे अलंकार नहीं दिए। देव ने तो एक-एक छंद में तीन-तीन, चार-चार उदाहरण भरकर अथच केवल ४० अलंकार लिखकर बोझ-सा उतार दिया है। आपने पदार्थ-निर्णय पर कुछ विशेष ध्यान दिया है। इनसे इतना हमारा भी मतैक्य है कि अलंकार-विषय को लोगों ने बढ़ाया आवश्यकता से बहुत अधिक है। कई अलंकारों में एक दूसरे से बहुत कम भेद है। और नहीं, तो दस-पंद्रह अलंकार घट ही जाने चाहिए। अँगरेज़ी-फ़ारसी आदि में इनकी संख्या बहुत कम है। प्रताप साहि ने अलंकारों का विषय न कहकर व्यंजना पर विशेष ध्यान दिया है। दास के लक्षण तथा उदाहरण, दोनो में कुछ जगहों पर अशुद्धियाँ हैं, यद्यपि उदाहरणों में से कई छंद बहुत अच्छे हैं। श्रीपति, सोमनाथ, जगतसिंह, रामसिंह, महाराजा यशवंतसिंह, ऋषिनाथ, पद्माकर, बंसीधर, दलपतिराय, रसिक सुमति और चंदन के वर्णन तो पूर्ण हैं, किंतु उदाहरण बहुत बढ़िया नहीं। सोमनाथ और ऋषिनाथ ने अलंकारों को केवल दोहों आदि द्वारा निकाल दिया है। जगतसिंह,

रामसिंह, रसिक सुमति और चंदन की ये रचनाएँ कुछ-कुछ शिथि-लता लिए हैं। अंतिम दोनो कवियों ने भी अलंकारों में दोहों का ही विशेष प्रयोग किया है। पद्माकर ने भी केवल दोहों आदि में अलंकारों का विषय कहा है, और यद्यपि थे वे सुकवि, तथापि इस विषय पर उत्तमता लाने का प्रयत्न उनके पद्माभरण में बहुत कम है। लेखराज ने लक्षणों पर इतरों की भाँति विशेष श्रम नहीं किया, किंतु उदाहरण बहुत साफ़ दिए हैं। कई छंद श्रेष्ठ भी हैं। इनके सब उदाहरण गंगाजी पर ही हैं।

हिंदी के सभी आचार्यों ने लक्षण कहने में बहुत थोड़े में प्रयोजन-सा दर्शा दिया है, किंतु न तो उनमें वैज्ञानिक शुद्धता लाने का प्रयत्न किया, न खंडन-मंडन में ही संस्कृतवाले आचार्यों के समान बुद्धि-वैभव दिखलाया। उदाहरण अच्छे देने का अवश्य प्रयत्न हुआ है, और इसमें न्यूनाधिक साफल्य भी प्राप्त है। महाराजा यशवंतसिंह ने दोहों में लक्षण और उदाहरण कह दिए हैं। बहुतेरे हिंदीवाले आचार्यों ने संस्कृतवालों के भाव लेने या उनके उल्था कर देने में दोष नहीं माना है।

हमारे उत्कृष्ट आलंकारिकों में दूलह, बैरीसाल, भूषण, मतिराम, रघुनाथ, गोकुलनाथ, ब्रह्मदत्त और मुरारिदान की गणना की जा सकती है। दूलह के लक्षण और उदाहरण हैं बहुत उत्कृष्ट, किंतु थोड़े में लिखे जाने से टीका की आवश्यकता पड़ती है। रचना सवैया, घनाक्षरी आदि में है। बैरीसाल ने दोहों आदि में ही बहुत साफ़ लक्षण और उदाहरण दिए हैं। भूषण ने कुछ ही कम अलंकार लिखे हैं, तथा लक्षणों में विशेष प्रयास नहीं किया। यद्यपि हैं वे शुद्ध, तथापि इनके उदाहरण बहुत श्रेष्ठ हैं। मतिराम की भी यही बात है। ब्रह्मदत्त ने कहा तो थोड़े में है, किंतु इनके लक्षण और उदाहरण हैं बहुत साफ़ और शुद्ध, यद्यपि इतरों की भाँति लक्षणों

में पूर्णता की कमी है। ग्रंथ दोहों आदि में है। रघुनाथ के लक्षण शुद्ध तथा उदाहरण बहुत साफ़ हैं, यद्यपि साहित्यिक चमत्कार की कुछ कमी रह जाती है। गोकुलनाथ इन्हीं के पुत्र तथा समकक्ष हैं, अथच उनके उदाहरणों में साहित्यिक उत्कर्ष भी कुछ-कुछ प्राप्त है। मुरारिदान हिंदी के पहले आचार्य हैं, जिन्होंने लक्षणों में वैज्ञानिक शुद्धता लाने का सफल प्रयत्न किया है। लक्षण देने में आपने अलंकारों के नामों से ही लक्षणों के रूप निकाले हैं, जिससे कहीं-कहीं इतरों के लक्षणों से कुछ भेद पड़ गया है। आपका ग्रंथ बहुत विद्वत्ता-पूर्ण है, फिर भी उदाहरण शिथिल-से हो गए हैं। बंसीधर दलपतिराय के लक्षण अच्छे हैं, और उदाहरणों में भी थोड़ा-बहुत चमत्कार है।

वर्तमान ग्रंथों में तीनो लेखकों ने लक्षण आदि गद्य में समझाए तथा उदाहरण पद्य में दिए हैं। तीनो ग्रंथ अच्छे हैं, विशेषतया सेठजी का। आपने संस्कृतवाले आचार्यों के मतों का अच्छा विवरण देकर अलंकारों को भली भाँति समझाने का प्रयत्न किया है, केवल अपनी सम्मति बहुत कम दी है। उदाहरणों के साहित्यिक आरोचन में कुछ मतभेद संभव है। ग्रंथ उत्कृष्ट है। इतर दोनो लेखकों ने भी सांस्कृत आचार्यों के विचारों तथा अन्य बातों पर भी थोड़ा-बहुत कथन किया है, जो प्रशंसनीय है। भानु ने दोहों में लक्षण कहे हैं। इनमें खंडन-मंडन कम है।

केशवदास की 'कविप्रिया' है तो उत्कृष्ट ग्रंथ, जिसमें उदाहरण बहुत अच्छे हैं, किंतु पूरे अलंकार नहीं आए, तथा ढंग भी अनोखा है, जो आजकल हिंदी में चलता नहीं। यही दोष मुरारिदान में भी है। पदार्थ-निर्णय पर सोमनाथ तथा प्रताप साहि की मुख्यता है। इतर आचार्यों ने भी यह विषय कहा है, जिनका विशेष कथन आवश्यकतानुसार ध्वनि-भेद के वर्णन में आवेगा। अब

यह भूमिका यहीं समाप्त होती है। भाव-भेद में शृंगारिक रचना अधिक मिलती है, जिसका चलन समयानुकूल नहीं, इसलिये यथा-साध्य उसे बचाकर दूसरा खंड लिखा जायगा।

विनीत

लखनऊ
सं० १९९७

शुकदेवविहारी मिश्र
प्रतापनारायण मिश्र

वंदना

सुबुधि-करन, संसै-हरन श्रीपितु-चरन ललाम,
जिनके सुमिरन ते बसै सदा सुमति उर-धाम।
भगति-भाव सों करि प्रथम तिनको सबिधि प्रनाम;
करौं लेखनी पुनि चपल ग्रंथ लिखन के नाम।
लसत बाल-बिधु भाल, भ्रमर गुंजरत गंडथल;
एक-रदन, सुख-सदन, ताप त्रै-कदन, महाबल।
ऋद्धि-सिद्धि बस जासु, लखें जेहि दारिद भागत;
अंग-अंग पर कोटि काम-उपमा लघु लागत।
हे गन-नायक, करिवर-बदन, मो तन नेक निहारिए;
यहि पारिजात-सागर अगम के प्रभु! पार उतारिए।

सकति अनूप कबिता की कमलासन सों
जनम के पूरब कछूक नहिं पायों मैं;
भगति बिसाल कबिगन की सुधारि नहिं
रीति के पठन मैं बिसेख मन लायों मैं।

लोक-पटुता की चाल-ढालन की ओर हू
न ज्ञान-गरिमा को चित चंचल चलायों मैं;
राखु मातु सारदा ! कृपा की कोर फेरु, तऊ
साहस कै अब तौ सरन तकि आयों मैं।
लौकिक पदारथनि ही मैं मन लाय नित
बार-बार तोहि धरि ध्यान भरमायों मैं;
मानि तुलसी को मत, राम को चरित-सर
बिरचि न अंब ! एक बार अन्हवायों मैं।
छंद रचि बिसद, बखान मनभावन कै
भूलिहू न तो जस कदापि सरसायों मैं;
राखु मातु सारदा ! कृपा की कोर फेरु, तऊ
साहस कै अब तौ सरन तकि आयों मैं।
बालमीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि
लाड़िले सुतन को न तेरे बिसरायों मैं;
पंगु-सम तऊ गिरि-लंघन को धाय मातु,
तो सुत बनन हेतु लालसा बढ़ायों मैं।
भ्रातन के धवल सुजस मैं कपूत बनि
केवल कराल कालिमा को चपकायों मैं;
राखु मातु सारदा ! कृपा की कोर फेरु, तऊ
साहस कै अब तौ सरन तकि आयों मैं।
समरथ सुतन पै राखत पिता है प्रेम,
मातु पै कपूतन बिसेखि अपनावती;

देखि प्रौढ़ सुत को सुजस मन मोद भरै,
कादर को तबहूँ छिनौ न बिसरावती।
मातु भारती को हौं तौ कादर, कपूत, मति
याते अंब-चरन-सरन तकि धावती;
अरबिंद-नंद सों न सकति अमंद पाई,
मातु-नख-चंद की छटा ही चित भावती।
पोषन-भरन है करत सबही को जब,
क्यों न तब ईस कबिता को प्रतिपालैगो;
बल को बिचार जब करत न पोषन में,
सिथिल कबिन तब कैसे वह घालैगो।
सोचिकै बिसंभर को भाव यह आसप्रद
कौन कबिता सों मतिमंद कबि हालैगो;
अनुभव-हीन, रीति-पथ हू मैं दीन, तैसे
सकति-बिहीन कबि ग्रंथ रचि डालैगो।
(मिश्रबंधु-कृत)

ग्रंथ निर्माण

रिषि निधि खड चंद संबत मैं सावन सों
पूस लगि जब - जब अवकास पायो है;
लच्छन बिचारिबे त्यों जानिबे मैं तब-तब
हिंदी-संसकृतवारे ग्रंथन मँझायो है।
परम बिसुद्ध पुनि सुंदर उदाहरन
खोजि-खोजि ग्रंथ चारुता को सरसायो है;

साहित - सु - पारिजात भाग पहिलोई
ससिभाल-परताप मिलि या बिधि बनायो है।
(दोनो ग्रंथकर्ताओं-कृत)
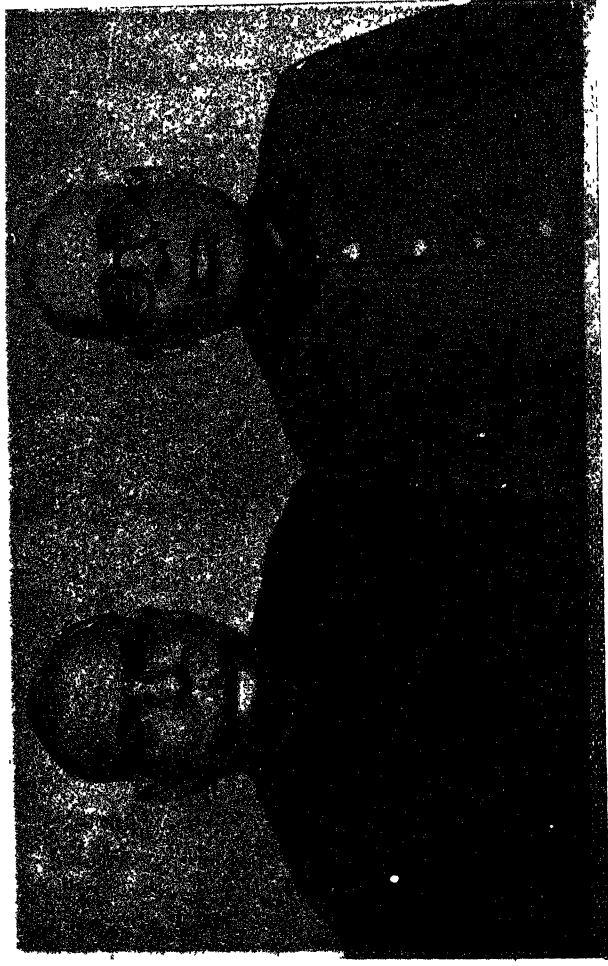
पं० प्रतापनारायण मिश्र   रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्र

साहित्य-पारिजात

साहित्य

इसका शुद्ध लक्षण देने में कई ग्रंथकारों ने प्रयत्न किया है, जिसका सारांश यहाँ भी लिखा जाता है—

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

(मम्मट)

अर्थात् काव्य वह है, जिसके शब्द और अर्थ अदोष तथा गुण-संपन्न हों, चाहे उनमें कहीं-कहीं अलंकार न भी हों ।

(२) अद्भुत वाक्यहि ते जहाँ उपजत अद्भुत अर्थ ;
लोकोत्तर रचना रुचिर सो कहि काव्य समर्थ ।

(३) रस-युत, व्यंग्य-प्रधान जहँ सब्द, अर्थ सुचि होय ;
उक्ति, युक्ति, भूषन सहित काव्य कहावै सोय ।

(साहित्य-परिचय)

(४) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।

(साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ-कृत)

अर्थात् रसमय वाक्य को काव्य कहते हैं ।

(५) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

(पंडितराज)

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य है ।

(६) होय बाक्य रमनीय जो काव्य कहावै सोय ।

(रत्नाकर)

(७) जग ते अद्भुत सुख-सदन सब्दरु अर्थ कबित्त ;
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त।

(कुलपति मिश्र)

(८) लोकोत्तरानन्ददाता प्रबन्धः काव्यनामभाक्।

(अंबिकादत्त व्यास)

अर्थात् अलौकिक आनंद देनेवाला प्रबंध काव्य कहाता है।

(९) बाक्य अरथ वा एक हू जहाँ होय रमनीय ;
सिरमौरहु ससिभाल-मत काव्य तौन कथनीय।

(मिश्रबंधु)

लक्षण — अर्थचित्र (अलंकार), व्यंग्य (व्यंग्य दो प्रकार का होता है—प्रधान व्यंग्य और गुणीभूत व्यंग्य) या इनमें से एक के भी होने से वाक्य काव्य होगा।

(ग्रंथकार)

इन लक्षणों पर विचार करने के पूर्व इतना समझ रखना चाहिए कि लक्षण लिखने में चुने हुए शब्दों का प्रयोग आवश्यक है, जिनसे न तो कुछ छूट रहे, न विचार वस्तु के बाहर निकल जाय। इन्हीं दोषों को वैज्ञानिक शब्दों में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं। अब हम उपर्युक्त प्रत्येक लक्षण पर विचार करते हैं—

(१) मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में यह लक्षण लिखा है। यदि सदोष रचनाओं को साहित्य-कोटि से निकाल डालें, तो काव्य-शरीर बहुत संकुचित हो जायगा। प्रत्येक रचना में या कम-से-कम १०० में से ९५ में कोई-न-कोई दोष दिखलाया ही जा सकता है। जैसे काने, लँगड़े या अन्य रोग-युक्त मनुष्य न्यूनाधिक सदोष होकर भी हैं मनुष्य ही, वही दशा रचनाओं की है। फिर इस लक्षण में शब्दों तथा अर्थ के तो कथन हैं, किंतु वाक्य-पूर्णता के नहीं।

(२) और (३) ये दोनो लक्षण एक ही ग्रंथ के हैं। जान

पड़ता है, नं० २ में लक्षणकार ने उत्कृष्ट काव्य का वर्णन किया है, क्योंकि वह उसे समर्थ काव्य कहता है, जो कथन मोटे प्रकार से उत्कृष्टता का बोध कराता है। फिर भी अच्छे साहित्य के लिये कोई अद्भुत कथन आवश्यक नहीं। प्रसाद, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्त आदि साहित्य के परमोज्ज्वल गुण हैं, जिनमें कोई अद्भुतता साधारणतया नहीं रहती।

(३) इसमें भारी अव्याप्ति दोष लगता है। यहाँ साहित्य के लिये रस, व्यंग्य, शुचि शब्द-अर्थ, उक्ति, युक्ति तथा भूषण, सभी कुछ आवश्यक है। इतने सुगुण सौ में ६६ अच्छे छंदों मे भी एक साथ शायद न मिलें। "जहँ" शब्द से ठीक ज्ञात नहीं होता कि कहाँ ऐसा होता है।

(४) यह रस को काव्य के लिये आवश्यक मानता है, किंतु रस-हीन रचना भी कविता-कोटि से बाहर नहीं जाती।

(५) यह लक्षण अनावश्यक बातों को छोड़कर पहलेपहल केवल रमणीयता को काव्य के लिये आवश्यक मानता है। रमणीय उसे कहते हैं, जिसमें स्वार्थ के अतिरिक्त भी चित्त रमण करे अर्थात् लगे या प्रसन्न हो। अतः रमणीय का अर्थ लोकोत्तरानंददायक होगा, जिसमें सभी विज्ञ पुरुषों का चित्त लगे। इस लक्षण में केवल इतनी कमी रह गई है कि यह शब्द को काव्य मानता है, किंतु विना पूरे वाक्य में प्रयुक्त हुए केवल शब्द में रमणीयता लाने की शक्ति नहीं है। फिर पंडितराज केवल अर्थ-रमणीयता में काव्य मानते हैं, किंतु बहुतेरे चित्र-काव्य के कमल-बंधादि ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें केवल शब्द-रमणीयता रहती है। अधिकांश कविगण केवल शब्द-रमणीयता को अर्थ-रमणीयता से भिन्न होने पर काव्य नहीं मानते। जो शब्दालंकार अर्थ समझने के पीछे रमणीय हो, वह अर्थालंकार माना जा सकता है, तथा जो केवल सुनने से विना अर्थ विचारे अच्छा लगे, वही शुद्ध शब्दालंकार है।

(६) इसमें वाक्य-रमणीयता काव्य मानी गई है। वाक्य में होते शब्द और अर्थ दोनो हैं, किंतु आचार्यों ने अर्थ का विवरण वाच्यादि

कहकर किया है और शब्द-समूह का वाक्य कहकर । वाक्य वह शब्द-समुदाय है, जिसमें कर्ता और क्रिया हों, तथा जो पूरा अर्थ प्रकट करने में सक्षम हो । कहीं-कहीं केवल क्रिया द्वारा वाक्य लिखा जाता है, किंतु वहाँ भी कर्ता ऊह्य रूप में रहता है । आचार्यों ने शब्द-समुदाय के गुण-दोषों को वाक्य के अंदर कहा है, और अर्थवालों को वाच्यार्थ में । यही उचित भी है ।

(७) इसमें वाक्य न कहकर कवि ने केवल शब्द कहा है, जो उपर्युक्तानुसार अनुपयुक्त है । फिर यह नहीं प्रकट किया कि काव्य के लिये केवल शब्द या केवल अर्थ या शब्दार्थ-रमणीयता आवश्यक है । फिर भी कुलपति मिश्र का लक्षण बहुत-से दोषों से मुक्त है ।

(८) इसमें प्रबंध शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें सेन-संचालन, बाजा बजाना आदि सभी कुछ आ जाते हैं ।

(९) इस लक्षण को मिश्रबंधुओं ने और लक्षण देखकर उन्हीं के सहारे से बनाया था, जिसमें केवल वाक्य-शब्द की मुख्यता है, और शब्द-रमणीयता, अर्थ-रमणीयता तथा शब्दार्थ-रमणीयता, तीनो में से एक के होने से भी किसी वाक्य को काव्य माना गया है ।

ग्रंथकार के लक्षण में जो लोग केवल शब्द-रमणीयता में काव्य न मानते हो, उनके लिये यह लक्षण ठीक समझा जायगा । अर्थचित्र से प्रयोजन अर्थालंकार का है । लक्षणा केवल प्रयोजनवती-मात्र में न होकर रूढ़ि में भी होती है, जो किसी वाक्य को काव्य बनाने में अपर्याप्त है । प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंग्य आ ही जाता है । रस या भाव व्यंग्य से रहित नहीं होते ।

वर्गीकरण—साहित्य तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम और अवर । व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य समझा गया है । जिसमें व्यंग्य अप्रधान (गौण) हो, वह मध्यम है । अलंकारात्मक (चित्रात्मक) काव्य तीसरी श्रेणी का समझा जाता है ।

व्यंग्य जीव ताको कहत सब्द अर्थ है देह ;
गुन गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन एह ।

उपर्युक्त कथन के अनुसार साहित्य का जीव व्यंग्य है, तथा शब्द और अर्थ से उसका शरीर बनता है। काव्य के गुण उसी शरीर के गुण हैं, भूषण अलंकार तथा दूषण दोष। यहां अव्यंग्य काव्य को मृत समझने का शाब्दिक अर्थ आता है, किंतु प्रयोजन उसकी मुख्यता-मात्र समझे जाने का है। इस खंड में केवल पदार्थ-निर्णय तथा अलंकारों का विषय कहा गया है। पिंगल को छोड़कर शेष काव्यांग द्वितीय खंड में आवेंगे।

काव्य-निर्माण की शक्ति आचार्यों ने कई प्रकार से मानी है, जिनमें जन्मज प्रतिभा, अनुभव तथा रीति-शिक्षण प्रधान समझे गए हैं। इनमें तीसरा कारण शिक्षणवाला दूसरे अनुभव में भी माना जा सकता है।

उत्तमता के विचार समय के साथ बदलते भी रहे हैं। देव कवि का समय सं० १७३० से १८२४ तक है। उन्होंने लिखा है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन ;
अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन ।

अतएव उन्हीं के समय से प्राचीन विचारों में संदेह उठकर व्यंजना-गर्भित काव्य का मान होने लगा था। उपर्युक्त विचारों से व्यंजना-शून्य सालंकार कविता अधम श्रेणी में आती है। अलंकारों के उदाहरणों में भी व्यंग्य आती है ही, किंतु वहाँ उसकी प्रधानता नहीं होती, क्योंकि अलंकार का विषय वाच्य-प्रधान है। इसे अधम काव्य कहने को जी नहीं चाहता, केवल इतना मानना ही पड़ेगा कि ध्वनि-भेद का चमत्कार अलंकार से ऊँचा है, क्योंकि वह साहित्य का जीव है तथा अलंकार भूषण-मात्र। तथापि है यह विषय भी चित्ताकर्षक अथच अधम न कहकर कविगण इसका अवर वर्ग रखते हैं। उत्तमता का यह विषय केवल साहित्यिक अंगों से संबद्ध है न कि प्रत्येक छंद की श्रेणी से। वास्तविक उत्तमता प्रत्येक छंद में सहृदय विद्वानों के चित्तों में रीझ उत्पन्न करनेवाली

शक्ति की मात्रा पर निर्भर है। कोई ध्वनि-प्रधान छंद साधारण हो सकता है, तथा अलंकार-प्रधान उससे बहुत बढ़कर। भाव भेदवाले साधारण छंदों से उत्कृष्ट आलंकारिक छंद प्रायः बढ़कर होते हैं।

पदार्थ-निर्णय

शब्द दो प्रकार के होते हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। बाजों, जानवरों, चिल्लाने आदि के अर्थ-हीन शब्द ध्वन्यात्मक कहे जाते हैं। वर्णात्मक शब्द भी सार्थक या निरर्थक होते हैं। साहित्य में अधिकतर सार्थक शब्दों से काम पड़ता है, यद्यपि केशवदासादि आचार्यों ने निरर्थक शब्द-पूर्ण एकाध छंद उदाहरण के रूप में कहे हैं। अस्तु, आगे हम जहाँ कहीं 'शब्द' का प्रयोग करेंगे, वहाँ सार्थक शब्द का ही प्रयोजन होगा।

शब्द

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक (या लक्षक) और व्यंजक।

तीन शक्तियाँ—इनके अर्थ जिन शक्तियों (वृत्तियों) से लगाए जाते हैं, उन्हें क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं।

अर्थ के भेद—इनके अर्थ भी वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ अथच व्यंग्यार्थ क्रमशः कहलाते हैं।

वाचक शब्द

वाचक शब्द—साक्षात् संकेतित अर्थ को सीधा प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाचक है। इसके चार भेद हैं—
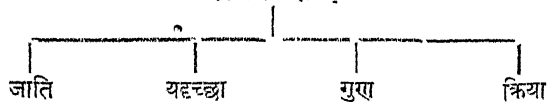
संकेत दो प्रकार का होता है—साक्षात् और व्यावहारिक (रूढ़ि)। किसी रूढ़ि संकेत को अलग दिखलाने ही के लिये साक्षात् संकेत

का विचार उठा है। अनेकार्थवाची शब्दों में जहाँ संयोगादि के कारण पहले कोई अर्थ नियत हो जाने पर पीछे व्यंजना द्वारा अन्य अर्थ निकाले जाते हैं, तब वे व्यंग्यार्थ भी प्रतिपादित अर्थ ही माने जाते हैं। इसी व्यंग्यार्थ को (तथा लक्ष्यार्थ को भी) हटाने के लिये 'वाचक शब्द' के लक्षण में 'सीधा' शब्द 'प्रतिपादन' का विशेषण रक्खा गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वाचक किस प्रकार अर्थ का प्रतिपादन करता है? जैसे हाथी शब्द के कहने से हम क्या समझकर जंतु-विशेष का विचार मन में लाते हैं? इस पर कई मत हैं—

(१) **व्यक्तिवादी**—कहते हैं कि हस्ती-शब्द से व्यक्ति-विशेष का संकेत है। अब यदि हम यह मानें कि इससे हस्ती-जाति के प्रत्येक व्यक्ति का बोध होता है, तो आनंत्य दोष लगता है, क्योंकि असंख्य हाथी थे, हैं और होंगे, सो ज्ञात ही नहीं कि हाथी-शब्द के कहने से कितने व्यक्तियों का बोध होता है। यदि इस (हाथी) शब्द से एक ही व्यक्ति का बोध मानें, तो किसी दूसरे व्यक्ति का बोध इस शब्द से न होगा।

(२) **जाति-विशिष्ट व्यक्तिवादियों**—का विचार है कि हाथी शब्द विविध गुण-युक्त जाति-विशेष के व्यक्ति का बोधक है।

(३) **अपोहवादी**—कहते हैं कि हस्ती इस कारण से हस्ती है कि वह हाथी से परे कोई इतर जंतु घोड़ा, ऊँट, बिल्ली आदि नहीं है।

(४) **जातिवादी**—कहते हैं कि हस्ती कहने से इस जाति के सब व्यक्तियों का बोध होता है। हम सबको तो ला नहीं सकते, सो हाथी के माँगे जाने से उस जाति के एक व्यक्ति को लाते हैं।

(५) **वैयाकरणों**—का मत है कि हस्ती एक उपाधि (जाति) है, और यह उपाधि एक विशेष प्रकार के गुण रखनेवाले व्यक्तियों को दी जाती है। यही मत साहित्यिकों का भी है। वे कहते हैं, वाचक में जाति, यदृच्छा, गुण और क्रिया-नामक सब शब्द उपाधि या जाति-सूचक हैं। दास कवि कहते हैं—

जाति, यदृच्छा, गुण, क्रिया—नाम जो चारि बिधान,
सबकी संज्ञा जाति गनि बाचक भनत सुजान।
जाति-नाम यदुनाथ गनि, कान्ह यदृच्छा धारि;
गुन सों कहिए कृष्ण अरु क्रिया नाम कंसारि।

दासजी कान्ह-नाम यदृच्छाभव मानते हैं, किंतु वर्तमान खोजों से सिद्ध हो चुका है कि भगवान् कारहायन-गोत्री होने से कारह कहलाते थे। सैकड़ों नामों के होते हुए इनका यदृच्छा नाम क्या था, इस बात का अब पता ही नहीं है। तो भी समझाने के लिये कान्ह-नाम यदृच्छाभव मान लिया गया है। घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि जाति-वाचक शब्द हैं। मंगलदीन, गयाप्रसाद, महँगू, नोने आदि नाम यदृच्छा के उदाहरण हैं। काला, पीला, नीला, हरा, मोटा, दुबला आदि गुणवाची हैं, तथा पकाना, मारना, सानना आदि क्रियावाची। ये चारो उपाधियाँ या जाति-वाचक शब्द हैं।

जाति—किसी वस्तु में रहनेवाले प्राणप्रद धर्म (व्यवहार में लाने योग्य बनानेवाला धर्म, जिसके कारण उस वस्तु का नाम उस शब्द द्वारा ज्ञात होता है) को जाति कहते हैं।

जैसे गो "गौ" इस कारण गाय कहलाती है, क्योंकि उसके गले में चमड़ी लटका करती है, सींग, फटे खुर, दुम आदि धर्म होते हैं। "गधा" को भी उसमें रहनेवाले प्राणप्रद धर्म (दीर्घ कर्ण, विशेष प्रकार की पुच्छ और विशेष प्रकार से शब्द करनेवाला, तथा आकृतिवाला) होने के कारण ही गधा कहते हैं।

यदृच्छा—मनुष्य द्वारा इच्छानुसार किसी वस्तु या व्यक्ति को दी जानेवाली उपाधि को कहते हैं।

यथा रामनाथ, लखनऊ आदि।

गुण—किसी वस्तु की विशेषता बतलानेवाले धर्म के कारण दी जानेवाली उपाधि गुण कहलावेगी।

जैसे मुटाई, गहराई, श्याम आदि।

क्रिया—क्रियावाचक शब्द इसके अंतर्गत हैं। चलना, पकाना आदि।

नोट—ये चारों प्रकार के शब्द जाति (उपाधि) हैं। रामनाथ जब बालक था, जब वह वृद्ध, युवा था, तब भी रामनाथ ही था, अतः यह रामनाथ शब्द जाति शब्द है। दूध, पानी, तलवार आदि की सफ़ेदी पृथक्-पृथक् है, अतः यहाँ भी जाति ही को मानकर प्रवृत्ति हुई। इसी प्रकार और भी जान लीजिए।

लक्षणा

लक्षक शब्द—(वाच्यार्थ से अभीष्टार्थ न निकल सकने के कारण) जिस पद का कोई दूसरा अर्थ (१) मुख्यार्थ के (२) बाध तथा (उसी मुख्यार्थ) के योग से (३) रूढ़ि अथवा (४) प्रयोजन से एक के आधार से निकले, उसे लक्षक शब्द कहते हैं।

नोट—इनमें से पहला और दूसरा कारण हर जगह लक्षणा में अवश्य होता है, तथा ३ और ४ नंबरवाले कारणों में से एक का होना भी आवश्यक है।

इसके भेदांतरों का चक्र यहाँ दिया जाता है—
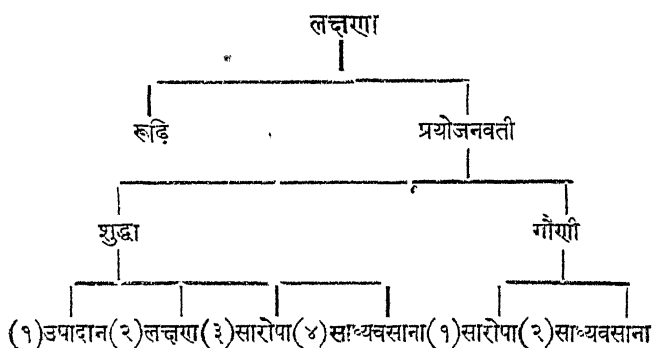
इन सबके गूढ़ और अगूढ़ दो-दो भेद और हो जायँगे, अतः चक्रवाली प्रयोजनवती लक्षणा के छओ भेदों के गूढ़ और अगूढ़-नामक दो-दो उपभेद भी हैं। इस कारण रूढ़ि को लेकर लक्षणा के तेरह भेद हुए।

रूढ़ि लक्षणा—में मुख्यार्थ का बाध होकर उसी (वाच्यार्थ) के योग से जो अनेक अर्थ निकलते हैं, उनमें से प्रसिद्ध होने के कारण केवल एक का ग्रहण होता है। यथा—पंकज।

पंकज-शब्द का वाच्यार्थ कीचड़ से उत्पन्न वस्तु है। उसमें कमल, कोकाबेली, कसेरू आदि बहुतेरी वस्तुएँ होती हैं, किंतु संसार ने कमल को ग्रहण करके इतर वस्तुओं को छोड़ दिया है। इस छोड़ने के कारण मुख्यार्थ का बाध (अवरोध) माना जाता है। होता कमल भी कीचड़ से ही है, अतएव मुख्यार्थ का योग भी प्रस्तुत है। संसार द्वारा ग्राह्य होने के कारण रूढ़ि है, प्रयोजनवान् नहीं।

यद्यपि रूढ़ि के भी भेदांतर हो सकते हैं, तथापि लोक-स्वीकृति के कारण वाचक की भाँति इसका भी सीधा अर्थ निकाला जाता है, जिससे कारणों पर ध्यान न तो अर्थ करने में जाता है, न प्रायः आचार्यों ने लिखा ही है। अतएव हम भी भेदांतरों का कथन केवल पांडित्य-प्रदर्शक अथच अनावश्यक मानते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा—में मुख्यार्थ का बाध एवं योग तो होता है, किंतु अर्थ में विशेष प्रयोजन भी रहता है।

नोट—प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन लक्षणा से न निकलकर व्यंग्य से निकलता है। निम्नोक्त "तब द्वारा...इति" उदाहरण में व्यंग्य द्वारा ही अत्यंत ख़ुशामद का प्रयोजन निकला है।

शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ लक्ष्यार्थ के योग का कारण सादृश्य से इतर हो, वहाँ मानी गई है। इसके चक्र में ऊपर कहे हुए चार भेद हैं।

(१) **शुद्धा प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा**—के लक्ष्यार्थ

में वाच्यार्थ का अन्वय नहीं होता। इसी का दूसरा नाम जहत्स्वार्था (जिसने अपना अर्थ छोड दिया है) लक्षणा भी है। यथा—

धन्य अमर छिति छत्रपति, अमर तिहारो मान ;
साहिजहाँ की गोद में हन्यो सलाबतखान।

(बनवारी)

यहाँ गोद-शब्द का मुख्यार्थ छूटकर उसी के योग से परम सामीप्य का भाव निकलता है। इसी से लक्षण लक्षणा प्राप्त होती है। गोद में विशेष रक्षा होने से यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है। सामीप्य और गोद में सादृश्य का संबंध नहीं है। इससे शुद्धा प्रयोजनवती हुई।

केतिक मिरजा की रिस खोटी ; प्रभु के हाथ सबन की चोटी।

(लाल)

हाथ में चोटी होने से पूर्ण आधिपत्य का लक्ष्यार्थ है। कोई किसी की चोटी वास्तव में नहीं पकड़े रहता। यहाँ केवल वश में रखने का प्रयोजन है। सादृश्य का संबंध न होने से शुद्धा भेद है। वश में होने रूप लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ चोटी को हाथ में रखने का अन्वय न हुआ, जिससे लक्षण लक्षणा हुई।

तब दारा-दिल दहसति बाढ़ी ; चूमन लगे सबन की दाढ़ी।

(लाल)

दाढ़ी चूमने से अत्यंत ख़ुशामद का लक्ष्यार्थ है। कोई किसी की दाढ़ी नहीं चूमता, यहाँ केवल ख़ुशामद का प्रयोजन है, जो मुख्यार्थ के बाध अथच उसी के योग से निकलता है। सादृश्य का संबंध न होने से शुद्धा भेद है। ख़ुशामद के लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ दाढ़ी चूमने का अन्वय न हुआ, जिससे यहाँ भी लक्षण लक्षणा निकली।

(२) शुद्धा प्रयोजनवती उपादान लक्षणा—में लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का भी अन्वय होता है। इसी को अजहत्स्वार्था (जिसने अपना अर्थ नहीं छोड़ा है) लक्षणा भी कहते हैं।

उदाहरण—"कुंत (भाले) आए।"

भाले स्वयं तो आते नहीं, कोई उन्हें लाता है, जिससे मुख्यार्थ का बाध हुआ, तथा उसी के योग से कुंतधारी मनुष्यों के आने का लक्ष्यार्थ निकला। कुंत और कुंतधरों में समानता का संबंध न होने से शुद्धा लक्षणा हुई। प्रयोजन पुरुषों की दारुणता प्रकट करने से प्रयोजनवती है। लक्ष्यार्थ कुंतधर मनुष्यों में वाच्यार्थ कुंत का भी अन्वय होने से उपादान लक्षणा जानना, जो शुद्धा प्रयोजनवती के अंतर्गत है।

(३) शुद्धा प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा—में विषय और विषयी, दोनों का कथन शुद्ध प्रयोजनवान् रूप में होता है।

उदाहरण—"है माया संसार रे !"

यहा संसार स्वयं तो माया है नहीं, वरन् उसकी वस्तुओं में माया का खेल रहता है। अतः मुख्यार्थ का बाध होकर यह प्रयोजन निकला कि संसार माया से भरा है। संसार माया से बहुत व्याप्त है, ऐसा बतलाने का मतलब वक्ता का है, जिससे लक्षणा प्रयोजनवती हुई। सादृश्य का संबंध न होने से शुद्धा भेद है। यहाँ विषय संसार है, तथा माया विषयी। इन दोनों के कथित होने से सारोपा लक्षणा का उपभेद है।

(४) शुद्धा प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा—में शुद्ध प्रयोजनवान् रूप में केवल विषयी का कथन होता है, (न कि विषय का भी)। यथा—

है माया संसार रे, माया ही यहि जानि;
मगन होहि जनि बिषय-सुख, हरि-चरनन चित आनि।
(कुलपति मिश्र)

इसके "है माया संसार रे" का कथन ऊपर "सारोपा" में हो चुका है।

"इसे माया ही जानो" में साध्यवसाना भेद शुद्धा लक्षणा का आता

है। वास्तव में संसार माया नहीं है। कवि का प्रयोजन ऐसा बतलाने का है कि संसार का खेल माया से इतना भरा हुआ है कि मानो संसार ही माया है। यहाँ विषय संसार का नाम नहीं आया है, केवल विषयी माया का है, जिससे साध्यवसाना उपभेद निकलता है। 'यहि' शब्द से इशारा संसार ही की ओर है, किंतु स्वयं संसार-शब्द नहीं है। ऐसे स्थानों पर भी आचार्यों ने विषय का अनस्तित्व मान लिया है। इसी उदाहरण के अन्य भाग पर इसके शुद्धा प्रयोजनवती रूप का प्रदर्शन किया जा चुका है। वही विचार यहाँ भी लागू है।

गौणी प्रयोजनवती लक्षणा—में लक्षणा का कारण समानता होती है। इस कारण इसके दो ही भेद माने गए हैं—सारोपा और साध्यवसाना। जहाँ-जहाँ लक्षणा का प्रयोजन समानता हो, वहाँ गौणी भेद माना जाता है।

गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा—में गौणी प्रयोजनवती रूप में विषयी और विषय, दोनो कथित रहते हैं। यथा—

"चंद्रमुख शोभित है।"

यहाँ विषय मुख तथा विषयी चंद्र, दोनो प्रस्तुत हैं, जिससे सारोपा भेद है। ज्योति की समानता के कारण मुख चंद्र कहा गया है, सो गौणी भेद आया। कवि का प्रयोजन अति सुंदर शोभा के कथन का है। अतएव गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा प्राप्त है।

विषय—जिस वस्तु की समानता की जाय, उसको कहते हैं। अतः "मुख" विषय हुआ।

विषयी—जिससे समानता की जाय, उसको विषयी कहते हैं। जैसे मुखचंद्र, यहाँ मुख की चंद्र से समानता की गई है, अतः "चंद्र" विषयी हुआ।

गौणी प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा—में गौणी प्रयोजनवती रूप में केवल विषयी का कथन रहता है। यथा—

चंद्रमुखी लखु लाल के चाहत नैन-चकोर ;
फूले कमलन सों अली बिहँसि चितै वहि ओर ।
(कुलपति मिश्र)

यहाँ पहले चरण में "नैन चकोर" से गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा है, और दूसरे चरण में साध्यवसाना । "फूले कमलन" में साध्यवसाना है । कमल देख सकते नहीं, जिससे मुख्यार्थ का बाध होकर उनके समान नैनों से देखने का प्रयोजन निकला, और केवल विषयी के कथन से साध्यवसाना भेद आया । कमल की उपमा नैनों से गुण के कारण दी गई है, जिससे गौणी भेद मिला । प्रयोजन नैनों में अच्छा आकार तथा गुरुता दिखलाने का है, जिससे प्रयोजनवती भेद आया ।

को भुज-दंड समर-महि ठोकै, उमड़ो प्रलै-सिंधु को रोकै ?
(लाल)

यहाँ "प्रलै-सिंधु" से अनंत सेना का प्रयोजन केवल विषयी के कथन से दिखलाया गया है । लक्षणा का विचार समता से आया है, और गुण के कारण यह लक्षणा कही गई है । अतएव गौणी साध्यवसाना लक्षणा हुई ।

नोट—लक्षणा में रूढ़ि तो व्यंग्य-रहित होती है, तथा प्रयोजनवती सव्यंग्य, परंतु प्रयोजन लक्षणा से न निकलकर व्यंजना से निकलता है । संसार का विशेष माया-युक्त होना तथा नैनों की उत्कृष्ट सुंदरता आदि प्रयोजनों के जो ऊपर कथन हुए हैं, वे केवल समझाने को लक्षणा में किए गए हैं, किंतु निकलते व्यंग्य ही से हैं । वैज्ञानिक शुद्ध भेद समझाने के लिये आचार्यों ने ये कथन लक्षणा में रक्खे हैं, यद्यपि आ व्यंजना भी जाती है ।

हर प्रयोजनवती लक्षणा के दो-दो भेद और होते हैं, अर्थात् गूढ़ और अगूढ़, जिससे यह लक्षणा बारह प्रकार की हो जाती है ।

गूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा—वह है, जिसे केवल परिपक्व बुद्धिवाले पुरुष समझ सकते हैं । यथा--

लसै लाल भाल, उर अद्भुत माल, कान्ह
अनमिख रहे ब्रत नैननि लियो अखै ;
फूले अंग-अंग, रुचि राजै बहुरंग, मनो
आवत अनंग संग लीन्हे छबि सों सखै ।
अति सरसात गात, रस बरसात, पिय
मौन गहे साहस अपार सिंधु जो नखै ;
प्रीति प्रतिपालन को आए हो गोपाल आजु,
ऐसी कौन बाल जो न लाल मुख तो लखै ।
(कुलपति मिश्र)

मस्तक लाल होने से उसमें महाउर का लगा होना प्रकट है । "लसै" का लक्षण लक्षणा से प्रयोजन (विपरीत भाव से) "अति अनुचित" लगता है । "अद्भुत माल" से असली माला का प्रयोजन न होकर गाढ़ालिंगन से गुरियों का हृदय पर उपटा (छपा) होना प्रकट होता है । "अनमिख ··अखै" से जागरण के कारण नेत्रों में अक्षय ब्रत (महदालस्य) प्रकट हुआ । "फूले अंग-अंग" से शोथ का भाव साहित्य-विरोधी न लेकर गात-शैथिल्य (ढीलापन) का आवेग । "बहुरंग" से कज्जल, सिंदूर आदि लगा होना व्यंजित है । "राजै" से विपरीत लक्षणा द्वारा बहुत बुरा लगना प्रकट है । "मनो···सखै" कामदेव का सखा वसंत-ऋतु है । अंग-अंग का फूलना तथा बहुत रंगों का होना ये वसंत के लिये योग्य हैं । "अति सरसात···बरसात" द्वारा विपरीत (लक्षण) लक्षणा से बुरा लगना प्रकट है । "पिय ..नखै"—हे प्रियतम ! जो मूर्तिमान् हिम्मत अपार समुद्र "नखै" (लाँघ जाय), वह भी आपका छवि-समुद्र देखकर मौन (चुपका) हो जाय । प्रयोजन रूप देखकर नायिका के साहस छूटने का है । चौथे चरण में भी विपरीत लक्षणा से मुख न देखने की इच्छा प्रकट है । यह उदाहरण गूढ़ लक्षणा का है, क्योंकि साधारण लोग इसे नहीं समझ सकते ।

अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा—उसे कहते हैं, जिसे साधारण बुद्धिवाले लोग भी समझ सकें। यथा—

सज्जन मुख मीठे बचन सहजहि कहत बनाय;
कैबो कौन सुगंध को भ्रमरहि देत सिखाय।
(कुलपति मिश्र)

"मीठे बचन" से सुखद भाषण और "सहजहि" से स्वाभाविकता के भाव प्रकट ही निकलते हैं, जो सभी समझ सकते हैं।

ऊपर के भेद पंडितराज के मतानुसार दिए गए हैं। संस्कृत के कुछ अन्य आचार्यों ने ये भेद कुछ इतर प्रकारों से भी दिखलाए हैं, जिनमें विश्वनाथ-कृत साहित्य-दर्पण के विचार अच्छे समझ पड़ते हैं। वे नीचे एक चक्र में दिखलाए जाते हैं—
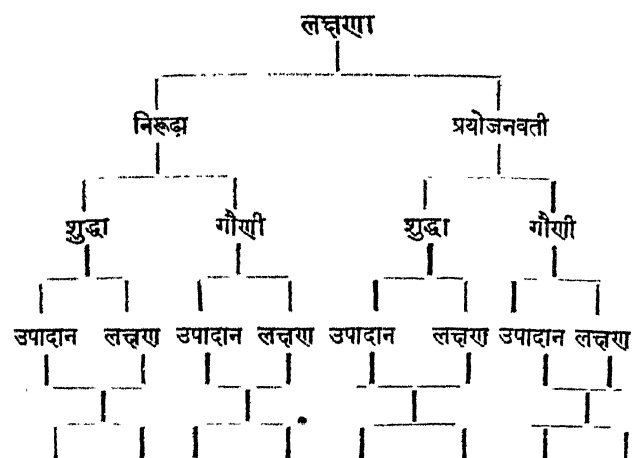
इनमें निरूढ़ा (रूढ़ि) के भी उपभेद दिखलाए गए हैं, जो दिखलाना हमें ऊपर अंकित कारणों से आवश्यक नहीं समझ पड़ता।

प्रयोजनवतीवाले इनके उपभेद अब लिए जाते हैं। इनमें उपादान सारोपा का उदाहरण है "कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति" तथा लक्षण सारोपा का है "कलिंगः पुरुषोऽयुध्यत"। साधारण प्रयोग में इस प्रकार की भाषा प्रचलित नहीं, जिससे केवल वैज्ञानिक शुद्धता के कारण ये भेद दिखलाना अनावश्यक-सा हो जाता है।

रसगंगाधर-कार के अनुसार जो भेद हमने ऊपर लिखे हैं, उनमें भी किसी-किसी ने दंश दिया है। यथा, "है माया संसार रे" का लक्ष्यार्थ हुआ "संसार माया-रूप है।" इस प्रकार अर्थ लगाने से यहाँ लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का भी अन्वय हो ही जाता है, जिससे उपादान लक्षणा भी हो जायगी, यद्यपि उदाहरण यह सारोपा का है।

इसी प्रकार "गंगावासी" है तो शुद्धा प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा का उदाहरण, किंतु प्रयोजन "गंगा-तट-वासी पुरुष" का होने से और उदाहरण में केवल "गंगावासी" के कथन होने से यहाँ केवल विषयी के मिलने से साध्यवसाना का भी रूप निकल आता है।

इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि रसगंगाधर के भेद वैज्ञानिक नहीं। बात यह है कि उपादान और लक्षण लक्षणा के उदाहरणों में सारोपा या साध्यवसाना की भी अतिव्याप्ति दिखलाई जा सकती है। इसीलिये विश्वनाथ ने सारोपा और साध्यवसाना को उपादान और लक्षण लक्षणाओं के उपभेद कह दिया है। फिर भी ऐसा करने में उन्हें उदाहरण ऐसे लाने पड़े हैं, जो प्रचलित भाषा में न रहने से गुत्थल मालूम पड़ने लगते हैं। इसी कारण हमने व्यवहार की मुख्यता मानकर पंडितराज का अनुगमन किया है। हिंदी के बड़े आचार्यों ने भी ऐसा ही किया है। इनमें कुलपति, श्रीपति, दास आदि के नाम आते हैं।

व्यंजना

व्यंजना—अभिधा और लक्षणा के विरत होने पर जिस शक्ति द्वारा कोई अन्य (विशेष) अर्थ भी जाना जाय, वह व्यंजना-वृत्ति है।

इस अर्थ को व्यंग्यार्थ तथा शब्द को व्यंजक शब्द कहते हैं। इसके भी भेद चक्र द्वारा प्रकट किए जाते हैं—
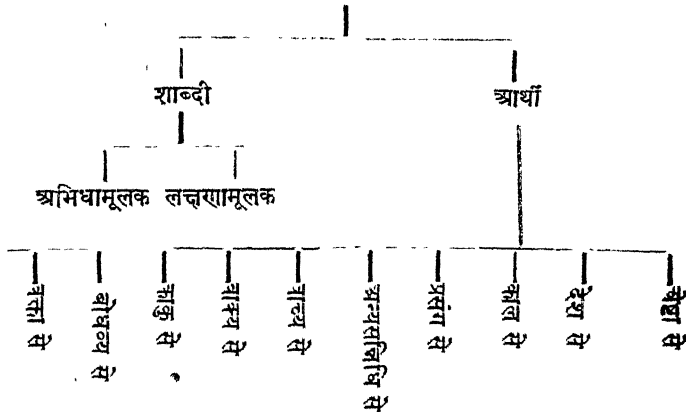
इन दसों भेदों के तीन-तीन उपभेद भी होते हैं, अर्थात् वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा तथा व्यंग्यसंभवा।

अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना—**उस स्थान पर होती है, जहाँ पहले संयोग आदि से एक अर्थ नियत हो जाने पर कोई अन्य अर्थ किसी कारण-वश उन्हीं शब्दों से निकलता है।**

अनेकार्थवाची शब्दों का एक अर्थ नियत करने के लिये साहित्यिकों ने १५ कारण माने हैं—(१) संयोग, (२) विप्रयोग, (३) साहचर्य, (४) विरोधिता, (५) अर्थ, (६) लिंग, (७) अन्य शब्द-सन्निधि, (८) सामर्थ्य, (९) औचित्य, (१०) प्रकरण, (११) देश, (१२) व्यक्ति, (१३) काल, (१४) स्वरादि और (१५) नं० १४ के आदि शब्द से अभिनय या कोई अन्य ज्ञातव्य कारण का बोध होता है।

नोट—ये सब अभिधामूला व्यंजना के भेद नहीं, प्रत्युत व्यंग्यार्थ निकलने के पूर्व एकार्थ दृढ़ होने के विविध कारण-मात्र हैं।

"संख-चक्र-युत हरि", "तजे संख चक्र करि[1] आनि[2]";
राम-लखन दसरथ-तनै "साहचरज" ते जानि।
रामार्जुन तिन "बैर" ते परसुराम इत मानि;
तारन हित सु स्थाणु भजु, इहाँ "अरथ" ते जानि।
मकरध्वज कोप्यो कहे इहाँ "लिंग" ते लेखि;
कर सों सोहत नाग है, "पदयोगहि" करि पेखि।
मधुमत्या कोकिल कहे "समरत्थहि" उर आनि;
रच्छ सुंदरी कहत ही तहँ "औचित" करि जानि।
राजत देव सुदेस मैं तत "प्रकरन" कर बेस;
गगनहि राजत चंद्र है, इहाँ जोर है "देस"।
(चिंतामणि)

"व्यक्ति"हि सों कहुँ जानिए एकै अरथ निपाट[3];
सरसति को कहिहै कहो बानी बैठो हाट।
(दास)

राजै दिन सब अग्नि निसि "चित्रभानु" ते लेखि;
इते पयोधर बढ़ भए, यह "अभिनय" करि पेखि।
(चिंतामणि)

स्थाणु नाम ठूँठ तथा महादेव का है। पदयोगहि = शब्द-सन्निधि। मधुमत्या = वसंत से उन्मत्त।

रच्छ सुंदरी—यहाँ जब स्त्री से रक्षा करने की प्रार्थना है, तो औचित्य से उसकी अनुकूलता का तात्पर्य निकलता है।

यदि चित्रभानु दिन में कहा जाय, तो सूर्य से प्रयोजन निकलेगा, तथा इसी शब्द को रात में कहने से अग्नि का बोध होगा। संस्कृत-भाषा में

---

१. करके। २. लाओ। ३. निपट।

यह कमी भी है कि एक-ही-एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जिससे निश्चित अर्थ का अंदाज़-मात्र बहुधा रहता है, पूर्ण दृढ़ता नहीं। इसीलिये विविध प्रकार के उपर्युक्त विचार अर्थों के अंदाज़ लगाने को लिखे गए हैं। यह दोष भाषा-सौंदर्य तथा थोड़े शब्दों में बहुत अर्थ लाने की शक्ति प्राप्त करने को अंगीकार किया गया है।

अब इन पंद्रहों कारणों के विवरण दिए जाते हैं—

(१) संयोग—किसी प्रकार का साथ शब्द द्वारा अमुख्यता से प्रतिपादन होना संयोग है।

"संख-चक्र-युत हरि"

में हरि के अनेकार्थ हैं, जैसे बंदर, सिंह, सर्प, मंडूक, जल आदि। इनमें विष्णु का अर्थ संयोग से पुष्ट होता है। यहाँ मुख्यता हरि की है, तथा अमुख्यता शंख-चक्र की, जो "युत" शब्द से प्रतिपादित है।

संयोग और साहचर्य में भेद—यदि कहें कि शंख-चक्र और हरि आ रहे हैं, तो सबकी मुख्यता हो जाने से संयोग न रहकर साहचर्य का उदाहरण हो जायगा।

"हरि को खोजन हरि चले, हरि बैठे हरि पास ;
वै हरि हरि में हरि गए, वै हरि फिरे निरास।"

मेंढक को खोजने सर्प चला। मेंढक जल के पास बैठा था। वह तो जल में कूदकर ग़ायब हो गया, और साँप निराश होकर पलट गया। यह उदाहरण हरि शब्द के अनेकार्थ का है, संयोग का नहीं।

(२) विप्रयोग—संयोगवाली वस्तुओं का अभाव विप्रयोग है।
"संख चक्र तजे हरि" इसका उदाहरण है।

(३) साहचर्य—किसी प्रकार का बराबरवाला प्रसिद्ध साथ साहचर्य है।

"राम और लक्ष्मण आते हैं।"

कहने से साहचर्य द्वारा दोनो दशरथ-नंदन प्रकट होते हैं। राम से

परशुधर, रावणारि तथा बलराम में से किसी का प्रयोजन निकल सकता है, किंतु लक्ष्मण के साथ से रावणारि ही राम सिद्ध हो जाते हैं।

(४) विरोधिता—इसमें प्रसिद्ध शत्रुता या एक स्थान में न रह सकने के कारण एक अर्थ का निश्चय होता है।

"रामार्जुन का युद्ध हो रहा है।"

ऐसा कहने से सहस्रार्जुन के शत्रु परशुराम का बोध राम शब्द से हुआ। दूसरा उदाहरण है—

"धूप-छाँह।"

(५) अर्थ—से प्रयोजन (मतलब) लेना चाहिए। (शब्द द्वारा न कहा हुआ) प्रयोजन समझने के कारण एकार्थ का नियत करना अर्थ द्वारा होता है।

"तरने के लिये स्थाणु को भजो।"

स्थाणु हैं तो महादेव तथा ठूँठ दोनो, किंतु भजन द्वारा तरने के कारण अर्थ महादेव का लगेगा।

(६) लिंग—शब्द द्वारा कथित केवल किसी खास वस्तु में रहनेवाला जन्मज चिह्न लिंग है।

"मकरध्वज कोप्यो।"

यहाँ लिंग से कामदेव का अर्थ लगता है, क्योंकि दूसरा अर्थ समुद्र जड़ होने से कोप नहीं कर सकता।

लिंग, अर्थ और संयोग में भेद—नं० ५ (अर्थ) में मतलब सोचना पड़ा, किंतु यहाँ केवल "कोप्यो" शब्द से प्रयोजन निकल आया। शंख-चक्र जो संयोगवाले विचार हैं, वे जन्मज नहीं, प्रत्युत लिंग जन्मज है। यह भेद लिंग और संयोग में है।

(७) अन्य शब्दसन्निधि—में ऐसे शब्दों के पास होने से अर्थ बैठता है, जिनका एक ही अर्थ संगत होता है। यथा—

'कर सों सोहत नाग है।"

इसमें कर का अर्थ नाग शब्द के कारण हाथ न होकर सूँड़ होगा। नाग साँप और हाथी, दोनो को कहते हैं। साँप के न तो हाथ होते हैं, न सूँड़। इससे कर के कारण नाग का अर्थ यहाँ हाथी होगा।

लिंग और अन्य शब्दसन्निधि का भेद—लिंग में एक शब्द का अर्थ पहले ही से निश्चित होता है, किंतु यहाँ दोनो शब्द अनिश्चित होकर एक दूसरे के अर्थ का समर्थन करते हैं।

(८) सामर्थ्य—शब्द द्वारा न कहा हुआ अर्थ योग्यता के विचार से निश्चित सामर्थ्य से होता है। यथा—

"मधुमत्या कोकिल है।"

में मधु के अर्थ शहद, चैत्र, वसंत, मद्य आदि कई हैं, किंतु कोकिल को उन्मत्त करने की शक्ति वसंत में होने से यहाँ वसंत ही का अर्थ बैठेगा।

सामर्थ्य, लिंग और अर्थ में भेद—लिंग में केवल कांप्यो शब्द के कारण अर्थ मिला, किंतु सामर्थ्य में सोच-साचकर निकालना पड़ा। अर्थ नं० ५ में चतुर्थी (संप्रदान) विभक्ति (के लिये) से प्रयोजन निकलता है, तथा सामर्थ्य में तृतीया (करण) (के द्वारा या से) से।

(९) औचित्य—का प्रयोजन है योग्यता (वाजबियत)।

"रख सुंदरी!"

कहने से वाजिब यही समझ पड़ता है कि यह कामार्त पुरुष का वचन होने से नायिका को सम्मुख करने के अभिप्राय से कहा गया है, न कि किसी शत्रु द्वारा आक्रमण से बचाने को।

अर्थ, सामर्थ्य तथा औचित्य का भेद—इससें कोई विभक्ति नहीं, जैसी अर्थ (नं० ५) और सामर्थ्य (नं० ८) में रहती है।

(१०) प्रकरण—का अर्थ है बातचीत का विषय।

"राजत देव सुदेस मैं।"

में देव (राजा) अच्छे देश में शोभा पाता है। यहाँ प्रकरण द्वारा यह प्रकट होगा कि देव का अर्थ राजा है।

(११) **देश—से स्थान विशेष का प्रयोजन है।**

"गगनहि राजत चंद्र है।"

कहने से चंद्र शब्द के कपूर, शशि आदि अर्थों में से शशि ही निश्चित हो जाता है, क्योंकि वही आकाश में शोभित है।

(१२) व्यक्ति—**यहाँ किसी शब्द के पुंलिंग या स्त्रीलिंग होने से तात्पर्य है।**

"बानी बैठो हाट।"

में बानी शब्द के अर्थ बनिया या सरस्वती दोनो हैं, किंतु क्रिया बैठो के पुंलिंग-सूचक होने से अर्थ वैश्य का ही ठीक बैठेगा, न कि सरस्वती का। हाट शब्द भी बनिए का ही भाव (नं० ७) अन्य शब्दसन्निधि द्वारा प्रकट करता है।

(१३) काल—**से प्रयोजन समय का है।**

"राजै चित्रभानु।"

कहने से चित्रभानु को सूर्य मान या अग्नि, इसमें सहायता नहीं मिलती, किंतु "राजै चित्रभानु दिन" कहने से अर्थ सूर्य का आ जायगा तथा "निशि" कहने से अग्नि का।

(१४) **स्वर—से प्रयोजन बोलने के प्रकार का है। इससे एक अर्थ का नियम नहीं होता।**

साहित्य-दर्पण में आया है कि किसी का यह आक्षेप है कि भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में यह लिखा है कि शृंगार और हास्य में स्वरितोदात्त * का तथा करुणादि रसों में अनुदात्त स्वरित का प्रयोग करना चाहिए। इसलिये इसे भी एकार्थ-नियत कारक मानना योग्य है। वही इसका यह उत्तर देते हैं कि अभिधा में एकार्थ नियत करने को स्वर

---

* स्वरित स्वर विशेष को कहते हैं तथा उदात्त ऊँची आवाज़ को। अनुदात्त नीची आवाज़ है।

काम में नहीं आता, वरन् काकु या उदात्त से केवल व्यंजना में अर्थ बदला जाता है। स्वर अर्थ बदलने के काम आता है, न कि नियत करने के। अतएव इसका वर्णन आर्थी व्यंजना में आगे आवेगा।

(१५) (नं० १४) में प्रायः स्वरादि लिखा जाता है। वहाँ के आदि शब्द से अभिनय या किसी अन्य प्राप्य कारणों का प्रयोजन निकलता है। हाथ आदि द्वारा इशारे को अभिनय कहते हैं।

"इते पयोधर बड़ भए।"

में हाथ आदि से इंगित होने के कारण पयोधर का अर्थ बादल न होकर स्त्री का अंग होगा।

नोट—उपर्युक्त १५ कारणों से अनेकार्थवाची शब्दों का अर्थ एक नियत हो जाने के पीछे जहाँ किसी विशेष कारण-वश कोई अन्य अर्थ निकले, वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना होगी।

उपर्युक्त भेद शाब्दी व्यंजना के नहीं, वरन् एकार्थ नियत करने के मार्ग-मात्र हैं। यह काम अभिधा-शक्ति का है, किंतु आचार्यों ने इस विषय का कथन अभिधा के पास न करके इसी स्थान पर किया है। इस बात के समर्थन में भी कारण मिल सकने से हमने भी उनका अनुगमन किया। दास ने यह वर्णन अभिधा के प्रकरण में किया भी है।

इन कारणों में से अर्थ, सामर्थ्य, औचित्य और लिंग में एक दूसरे से बहुत कम भेद है। संयोग, विरोध, विप्रयोग और साहचर्य सब एक प्रकार के संबंध ही हैं, जो एक में मिलाए जा सकते हैं। यदि अकेले प्रकरण को मान लें, तो पंद्रहों का प्रयोजन उसी से निकल सकता है। कुलपति मिश्र ने इन सबको न मानकर केवल संयोग, विप्रयोग, विरोध, अर्थ, प्रकरण, अन्य शब्दसन्निधि, लिंग, समय और देश को ही माना है।

अब खास व्यंजना का कथन चलता है।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का लक्षण ऊपर आ चुका है। अब उदाहरण दिया जाता है—

जान्यों हौं तिहारे अनगन है अमोल धन,
मेरो तन जातरूप तातैं निंदरत हौ ;
'सेनापति' पायँ परे, बिनती करेहूँ तुम्हैं
देतीं जे न अधरतो, तहाँ को ढरत हौ।
बाट मैं मिलाय तारे तौल्यो बहुबिधि, तऊ
दीन्हों है सजीव आप तापर अरत हौ ;
पीछे डारि अधमन हम दीन्हो दूनो मन,
तुम पछितात इत पाँव न धरत हौ।
(सेनापति)

इस छंद के दो अर्थ हैं—तन जातरूप=थोड़ा सोना। एक अर्थ यह है कि तुम्हारे पास असंख्य अनमोल धन है, सो तुम मेरी थोड़े-से सोने के कारण निंदा करते हो। दूसरा अर्थ यह है कि तुम्हारे पास असंख्य युवतियों का धन है, सो जो मेरा शरीर सोने-सा है, उसकी भी निंदा करते हो। सेनापति कवि कहते हैं कि पैर पड़ने तथा बिनती करने से जो तुम्हें आधी रत्ती भी नहीं देतीं, उनसे प्रसन्न हो। दूसरा अर्थ है कि जो स्त्रियाँ तुम्हें अधर (ओंठ, चुंबन) नहीं देतीं, उनसे प्रसन्न हो। सोने के तारे (सितारे) बाँट से मिलाकर आपने कई भाँति से तोला, तो भी मैंने सजीव (तोल में ज़िंदा, कुछ अधिक) ही दिया, उस पर भी झगड़ते हो। दूसरा अर्थ है कि मार्ग में आँखें मिलाकर आपने कई प्रकार से जाँचा, और मैंने जीव-सहित (शरीर) अर्पित किया, तो भी आप अनुकूल नहीं होते। औरों का आधा मन (तोल) पीछे छोड़कर हमने दूना मन तक दिया। दूसरा अर्थ है कि औरों ने तुम्हें आधा ही चित्त दिया, और मैंने दूना।

यहाँ सोनारपन-संबंधी जो अर्थ निकलता है, वह प्रकरण के कारण अभिधा द्वारा नियत हो जाता है। तत्पश्चात् विशेष कारण-वश जो नायक-नायिका-वृत्तांत मिलता है, वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का विषय

अनेकार्थवाची शब्दों के कारण से है। इस अर्थ का भी संबंध है शब्दों से ही, और अगली भी माना जा सकता है, सो शाब्दी व्यंजना हुई।

भयो अपत, कै कोप-युत, कै बौरयो यहि काल ;
मालिनि आजु कहै न क्यों वा रसाल को हाल।

(दास)

यहाँ अर्थ आम और नायक, दोनो पर स्पष्ट है। आम्र-पक्षवाला अभिधा से नियत हो जाने पर दूसरा नायक-पक्ष का अर्थ जो अनेकार्थ-वाची शब्दों के कारण निकला है, वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का विषय है।

लक्षणामूलक शाब्दी व्यंजना—जिसके लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा ज्ञात होता है, उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा के सब उदाहरणों में लक्षणामूलक शाब्दी व्यंजना का भी काम पड़ता है। एक और उदाहरण दिया जाता है—

फलीं सकल मन-कामना, लूट्यो अगनित चैन ;
आजु अँचै हरि-रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन।

(दास)

यहाँ फलीं, लूट्यो, अँचै तथा प्रफुल्लित शब्दों के अर्थ लक्षणा द्वारा लगते हैं। इन सबका प्रयोजन दर्शनभव आनंद प्रकट करने का है, जो लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना से निकलता है। ऊपर गूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा का जो उदाहरण दिया हुआ है, वह इस व्यंजना का भी अच्छा उदाहरण है।

आर्थी व्यंजना—वक्ता आदि की विशिष्टता के कारण जिस व्यंजना का उद्भव होता है, उसे आर्थी कहते हैं। आर्थी नाम अर्थ-संबंधी विशेष चमत्कार के कारण पड़ा।

(१) वक्ता से आर्थी व्यंजना—वक्ता कुछ कहनेवाले को कहते हैं।

देखु री, दर्पन ओर चितै रचि मेरे सिंगार बिगारत हैं हरि;
कंचन हू रुचि रंच रुचै नहिं, मोतिन की मरि मो तन की सरि।
'देव' रहै दबि सो छबि छाती कि बोझ मरौं मनि-माल बृथा धरि;
भाल मृगम्मद-बिंदु बनायकै इंदु-सी मोहिं गोबिंद गए करि।
(देव)

यहाँ वक्ता के नायिका होने से उसका रूपगर्विता होना व्यंजित है। सरि = माला; बराबरी। मणिमाल से छाती की शोभा दब जाती है, सो उसे धारण करके मैं वृथा ही बोझ से मरती हूँ। मृगमद (कस्तूरी) का तिलक लगने से मत्थे में चंद्र के समान कलंक-सा लग गया, जिससे जो मुख चंद्र से श्रेष्ठतर था, वह घटकर अब उसके बराबर रह गया। चौथे पद की व्यंजना कुछ गूढ़ है, तथा इतरों की अगूढ़।

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक-सी;
छूटी अलकनि छलकनि जल-बुंदन की,
बिना बेंदी बंदन, बदन सोभा बिकसी।
तजि-तजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-गुंज,
गुंजरत मंजु रव बोलै बाल पिक-सी;
नीवी उमसाय, नेकु नयन हँसाय, हँसि
ससि-मुखी सकुचि सरोवर तें निकसी।
(देव)

कुंजों को छोड़कर भ्रमर-भीर पद्मिनी नायिका के मुख के निकट मँडराती है, तथा उन्हें यह जतलाकर भगाने के लिये नागरी नायिका बोलती है कि यह कमल नहीं, मुख है। स्नान के पीछे सरोवर से निकलने का वर्णन है। यदि नायक को इस छंद का वक्ता मानें, तो

श्रीपति भनत जाय रहे हैं बिराट-गेह,
जहँ दिन-दिन अनुचित अधिकात भो ;
तापर तकत मया करिकै सुजोधन पै,
धरम-सरूप राजा मो पर रिसात भो।
(श्रीपति)

यह भीम का सहदेव प्रति वचन है। स्वर बदलकर भीम द्वारा "धरम......रिसात भो" कहने से यह व्यंग्य निकलता है कि मुझ पर क्रोधित न होकर उन पर होना चाहिए, जिनके कारण कथित उपद्रव हुए। इसको सीधे पढ़ने से कुछ व्यंग्य नहीं निकलता, परंतु स्वर फिराकर पढ़ने से ; "धर्म-स्वरूप राजा मुझ पर क्रोधित हैं?" यह प्रश्न प्रतीत होता है ; उसके अनंतर व्यंग्य से यह निकलता है कि मुझ पर न क्रोधित होकर युधिष्ठिर को कौरवों पर रोष करना चाहिए।

काकु और काकु-आक्षिप्त व्यंग्यों का विषय-पृथक्करण—

दुहूँ ओर घोर जोर चलत हथ्यारन के,
कौरव सहस कर आपने न मारिहौं ;
करिहौं न जेर दुरजोधन के आतरन,
अनुचितकारी भारी दल न उखारिहौं।
दलिहौं न गदा सों सुजोधन को दीह उर,
क्रूर अति रहो, ताहि कब लौं निहारिहौं ;
लैकै कछु ग्राम भूप रावरो धरम-धाम
चाहत करन सामुहे ही हौं न धारिहौं।
(धनीराम)

यहाँ भीमसेन की उक्ति युधिष्ठिर द्वारा भेजे हुए सहदेव प्रति है। फिरे हुए कंठ-स्वर के कारण यहाँ भी उलटा अर्थ हो जाता है, किंतु पृथक् व्यंग्य नहीं निकलता। अतएव काकु-आक्षिप्त (काकु वैशिष्ट्य से खींचकर लाया हुआ) गुणीभूत व्यंग्य है, जो आगे इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में, मध्यम काव्य

के उदाहरण में, आवेगा। पहले छंद में स्वर-परिवर्तन व्यंग्य के निकलने में प्रश्न-मात्र की प्रतीति कराता है—अर्थात् प्रश्न-मात्र पर काकु की विश्रांति हो जाती है। व्यंग्य उसके अनंतर निकलता है। और इधर दूसरे उदाहरण में काकु के कारण वक्ता के कथन के साथ ही वाच्यार्थ का अर्थ तत्काल बदल जाता है। व्यंग्य के समझने में विलंब नहीं लगता—यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ निषेध के साथ ही प्रतीत होता है। अतः पहले काकु वैशिष्ट्य में प्रश्न के अनंतर व्यंग्य प्रतीत होने से उत्तम (मुख्य) व्यंग्य और दूसरे काकु-आक्षिप्त में अर्थ तत्काल बदल जाने से व्यंग्य गौण (अमुख्य) हो जाता है। यह भेद हुआ।

(४) वाक्य से आर्थी व्यंजना—सार्थक शब्द-समूह वाक्य है।

आईहिं गोधन-पूजन को सब गोकुल-गाँव की गोपकुमारी ;
तामैं महा इक सुंदरी ही भनि 'श्रीपति' श्रीवृषभानुदुलारी।
राख्यो इतै-उतै नेकु न स्यामजू, मेरे कपोलन दीठि न टारी;
हौं तौ वहै, अरु वेई कपोल हैं, ह्वै गई औरई दीठि तिहारी।

(श्रीपति)

वक्ता के कपोलों पर जब राधा का प्रतिबिंब पड़ता था, तब श्याम ने उस पर से निगाह न हटाई, किंतु पीछे प्रतिबिंब के हट जाने से बात और हो गई। यहाँ पूरे वाक्य से उपर्युक्त व्यंग्य अर्थ द्वारा निकलता है।

आजु कछू औरै भए, छए नए ठिक ठैन ;
चित के हित के चुगुल ये नित के होहिं न नैन।

(बिहारी)

आज कुछ और हुए हैं, नए छाए हुए हैं, चित्त के प्रेम की चुगली करते हैं, तथा नित के न होकर नवीनता-युक्त हैं। इन चारो भावों से कहीं प्रेम जुड़ने का व्यंग्य निकलता है।

अचल सो ह्वै रहो पुरोहित हिमंचल को,
अंचल दृगंचल सों गाँठि-सी परत ही;
बधू नवऊढ़ को निहारि मुनि मूढ़ भए,
बचननि बेद बिधि गूढ़ उचरत ही।
चंद्र-कला च्वै परी, असंग गंग ह्वै परी,
भुजंगी भाजि च्वै परी बरंगी के बरत ही;
कामरिपु 'देव' भुज दामरि पहिरि काम
कामरि करी है भुज भामरि भरत ही।

(देव)

शिव के नेत्र की गाँठ पार्वती के आँचल से पड़ने पर पुरोहित मुनि अचल हो गया कि इतना बड़ा योगी कैसे कामासक्त हुआ? ऐसी गुणवती नवोढ़ा द्वारा शैव-पराजय से पुरोहित मुनि मूढ़ हो गए, क्योंकि उनके शिव-संबंधी विचार झूठे पड़ गए। गंगा पार्वती की बड़ी बहन होकर भी छोटी बहन के पति के सिर पर चढी होने से असंग हो गईं, अथवा पार्वती का अपार सौंदर्य देखकर असंग हो गईं। चंद्र-कला की पराजय मुख के सौंदर्य से व्यंजित है, और भुजंगी की लटों से। चौथे पद में भामरि भरते ही जब यह दशा हुई, तब आगे अधिक होगी, ऐसा व्यंजित है। पहले दो पदों की व्यंजना ऊपर दिखलाई जा चुकी है।

(५) वाच्य से आर्थी व्यंजना—शब्दार्थ वाच्य है।

गूढ़ बन सैल बूढ़े बैल को गहाई गैल,
भूत न चुड़ैल छैल छाके छबि ओज के;
भंग के रंग दे भगीरथ को गंग उत-
मंग जटा राखत न राख तन खोज के।
'देव' न बियोगी, अब योगी ते सँयोगी भए,
भोगी भोग अंक परजंक नित्त चोज के;

ब्याल गजखाल मुंडमाल औ' डमरु डारि
हवै रहे अमर मुख सुंदर सरोज के।
(देव)

पहले पद में शिव को अपने साथी नंदीगण, भूत, चुड़ैल आदि की आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि वह नवोढ़ा के सौंदर्य-भव प्रभाव से छके हुए हैं। बूढ़ा बैल होने से पुराने योगी होने का व्यंग्य शब्दार्थ से आया।

उतमंग = उत्तमांग, सिर। भंग का रंग (पुराना आनंद) छोड़ा। यहाँ भी शब्दार्थ से व्यंग्य है। या तो शरीर-भर में राख लगाते थे या अब उसका खोज भी नहीं। इससे एकदम स्वभाव पलटने का व्यंग्य है। 'अब' (तृतीय पद का) शब्द नई घटना विवाह का स्मरण व्यंग्य द्वारा कराता है। 'अंक' शब्द से भली भाँति भोग के वश में होने का व्यंग्य है। 'चोज' भी यही भाव प्रकट करता है।

(६) अन्य सन्निधि से आर्थी व्यंजना—श्रोता से इतर किसी व्यक्ति की समीपता से यहाँ व्यंग्य निकलता है।

निश्चल ब्यसनी पत्र पर उत बलाक यहि भाँति,
मरकत-भाजन पर मनौ अमल संख सुभ काँति।
(दास)

सुभ काँति = शुभ कांति = सफ़ेद शोभावाला। मरकत = पन्ना (हरे रंग का)। ब्यसनी = व्यसनी (बैठने का) आदी।

व्यंजना उसके निश्चल व्यसनी होने से सदैव जन-शून्यता की है। नायिका नायक को सुनाकर सखी से साधारण वर्णन करती है, जो नायक को सहेट-स्थान की सूचना देता है।

(७) प्रसंग से आर्थी व्यंजना—

धन, जोबन, तन, सकल सुख रहत न जानै कोय;
करि लीजै ये ही घरी, जो कछु करनो होय।
(कुलपति मिश्र)

यहाँ यदि धार्मिक प्रसंग हो, तो इस कथन से धर्मोपदेश का व्यंग्य होगा, और यदि शृंगार का (प्रसंग) हो, तो शृंगारिक प्रयत्न का ।

(८) देश से आर्थी व्यंजना—देश स्थान को कहते हैं ।

सुखद कुंज, छाया सुघन हरत हिए की ताप ;
निरखि दुपहरी जेठ की चलन चहत अब आप ।

गरम देशवाली जेठ की दुपहरी में सुखद कुंज और घनी छाया छोड़कर जाने से मना करना व्यंग्य है । देश और काल, दोनो से यहाँ व्यंग्य है ।

(९) काल से आर्थी व्यंजना—

इसका उदाहरण ऊपर भी आ गया है ।

सूर उदित हू मुदित-मन मुख-सुखमा की ओर ;
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहिचल चखन-चकोर ।

(बिहारी)

मुख चंद्र से श्रेष्ठतर होना व्यंग्य है, जो बात प्रातःकाल में भी मलिन न पड़ने से प्रकट हुई । यहाँ प्रतीप-अलंकार-व्यंग्य है ।

(१०) चेष्टा से आर्थी व्यंजना—

हरखि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल को साथ ;
आँखिन ही मैं हँसि धर्‌यो सीस हिए धरि हाथ ।

(बिहारी)

हृदय पर हाथ रखने से प्रेम बतलाया गया, तथा सिर पर हाथ रखने से बालों की कालिमा से प्रकट किया गया कि रात्रि में मिलन होगा । दोनो चेष्टाओं से व्यंग्य है ।

उपर्युक्त दस कारणों में से कहीं एक और कहीं अनेक से **आर्थी** व्यंजना निकलती है । **अर्थ** तीन प्रकार का होता है—**वाच्यार्थ**,

लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। इसलिये इन्हीं के अनुसार आर्थी व्यंजना भी वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा तथा व्यंग्यसंभवा होती है। आर्थी व्यंजना के ये ही तीन भेद हैं, तथा ऊपर लिखे हुए दसो उसके प्रकट होने के कारण-मात्र हैं (जैसा कि आचार्यों ने माना है)। अतः ये आर्थी व्यंजना के भेद नहीं, ऐसा हमारा विचार है।

वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

केसवदास के भाल लिखी बिधि रंक को अंक बनाय सँवारयो;
छोरे छुटो नहिं धोए धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पखारयो।
ह्वै गयो रंक सों राव तहीं, जब बीर बली बलबीर निहारयो;
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।
(केशवदास)

यहाँ वक्ता की विशेषता तथा वाच्यार्थ से यह व्यंजित होता है कि तीर्थ-स्नान से बीरबल के दर्शन-मात्र का प्रभाव विशेष है।

भूलति ना वह भूलनि बाल की, फूलनि-माल की, लाल पटी की;
'देव' कहै लचकै कटि चंचल चोरी दृगंचल चाल नटी की।
अंचल की फहरानि हिए रहि जानि पयोधर पीन तटी की;
किंकिनि की झननानि झुलावनि झूकनि सों झुकि जानि कटी की।
(देव)

वक्ता यहाँ नायक है, तथा उसकी आसक्ति व्यंग्य।

लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

लेहु लला उठि, लाई हौं बाल को, लोक की लाजन सों लरि राखौ;
फेरि इन्हें सपनेहू न पैयत, लै अपने उर मैं धरि राखौ।
'देव' लला, अबला नवला यह चंद-कला कठुला करि राखौ;
आठहु सिद्धि नवौ निधि लै घर-बाहर भीतर हू भरि राखौ।
(देव)

यहाँ लक्ष्यार्थ है उठकर लेने से स्वागत का। लोक-लाज से बढ़कर निधि प्राप्त होने से उस (लोक-लाज) का परित्याग बतलाया गया है। बढ़कर का विचार व्यंग्यार्थ है। "उर मैं धरि राखौ" से अति निकट का भाव लक्षणा द्वारा आया, तथा बहुत खातिर का भाव व्यंग्य द्वारा। "कठुला करि राखौ" में भी वे ही बातें हैं, तथा हृदयस्थ अभूषणवत् मानने से मान की महत्ता भी है। इनके आने से आपके घर में मानो आठो सिद्धियाँ तथा नवो निधियाँ भर गईं, जिससे नायिका का व्यंग्य द्वारा माहात्म्य प्रकट है।

सीतल होत हियो सुनत, कहत बात तुतरात ;
लालन भले, भलो बदन आय दिखायो प्रात।

(कुलपति मिश्र)

यहाँ खंडिता का वचन है। विपरीत लक्षणा से हृदय शीतल होने तथा भले-भलों के प्रतिकूल अर्थ हैं। व्यंग्य से नायक के वदन का चिह्नित होना अथच उसका सापराध आचरण प्रकट है।

व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

चंदन-पंक छुटो कुच को, मिटि चारु गई अधरा की ललाई ;
रोम खरे, बिथुरी अलकैं, अँखियाँ ते गई कजरा की निकाई।
झूठ कहै सब बैन बनाइकै, न्हाइ सरोवर मो ढिग आई ;
ह्वाँ नहिं नेकु गई सजनी, जेहि पापी के पास हौं तोहि पठाई।

(कुलपति मिश्र)

इसका पहला अर्थ शाब्दिक है। वाच्यार्थ सीधा तो यह निकलता है कि दूती नायक के पास नहीं गई, वरन् तालाब में स्नान करके आई है। नायक सहेट-स्थान पर वादा करके भी नहीं आया था, जिससे वह पापी कहा गया है। दूती वहीं से उसे लाने को प्रेषित हुई थी, किंतु न लाकर उसने अपना ही काम बना लिया। इसी की शिकायत व्यंग्य द्वारा है।

उसका चंदन छूट गया है, ओंठ की सुर्खी मिट गई है, रोंगटे खड़े हैं, लटें बिथुरी हैं, तथा आँख से काजल धुल गया है। वक्ता है अन्य-सुरति-दुःखिता तथा बोधव्य है रति-चिह्नित दूती। यहाँ पहला व्यंग्य यह निकला कि उसने तालाब में स्नान नहीं किया, वरन् सुरति के कारण उपर्युक्त शारीरिक चिह्न उसे प्राप्त हुए। इससे दूसरा व्यंग्य यह प्राप्त होता है कि एक ही अधर की ललाई मिटी है (ऊपरवाले की नहीं), जिससे अधर-पान का भाव दृढ़ होता है। कज्जल की निकाई-मात्र मिटी है, पूरा कज्जल नहीं। यह स्नान के प्रतिकूल बात है। यदि स्नान के कारण रोएँ खड़े हुए होते, तो कुछ दूर चलने पर गरमी के कारण ठीक हो जाते। अतएव सात्त्विक भाव का रोमांच प्राप्त है। यह छंद संस्कृत के एक छंद पर आधारित है। उस पर मम्मट, विश्वनाथ, इन दोनों के टीकाकारों, पंडितराज, अप्पय्य दीक्षित, पी० बी० काणे आदि अनेकानेक आचार्यों के मत प्राप्त हैं। जो व्यंग्य पृथक् कारणों पर आधारित किए गए हैं, उन्हें द्वितीय व्यंग्य भी मान सकते हैं, और पहले के समर्थक होने से पहले व्यंग्य के अंतर्गत भी। दूती को झूठा तथा नायक को पापी बतलाने से नायिका का क्रोध व्यंजित होता है, जिससे उसका अन्य-सुरति-दुःखिता होना प्राप्त है। काकु द्वारा यह भी प्रकट किया गया कि दूती ने सरोवर में स्नान नहीं किया। अन्य काकु से "हाँ नहिं नेकु गई" से वहीं जाना भी प्रकट है। अतएव अन्य-सुरति-दुःखिता का भाव पुष्ट होता है। व्यंग्य द्वारा ये सब विचार पहले ही व्यंग्य में आ जाते हैं। यहाँ दूसरा व्यंग्य हमको बहुत साफ़ नहीं देख पड़ता। अतएव दूसरा उदाहरण दिया जाता है—

निश्चल व्यसनी पत्र पर उत बलाक यहि भाँति,
मरकत-भाजन पै मनौ अमल संख सुभ काँति।

(दास)

यहाँ पहला व्यंग्य है स्थान की शून्यता, तथा दूसरा है वहाँ चलकर सुरति-प्रार्थना।

व्यंग्य-प्रकाशन में कभी अर्थ को शब्द की सहायता मिलती है, और कभी शब्द को अर्थ की, परंतु जो मुख्य हो, उसी को मानना चाहिए। जैसे ऊपर के चंदन-पंकवाले उदाहरण में पापी शब्द से व्यंग्य को कुछ सहायता अवश्य मिलती है, किंतु मुख्यता अर्थ ही की है; अतः उसे आर्थी व्यंजना ही मानना चाहिए। यह मत साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ का है।

प्रानप्रियाहि समीप लहि कह्यो पुजारिहिं टेरि—
पूजन आजु कराइए पूरन सत बिधि हेरि।

(मिश्रबंधु)

पुजारी से यह कहना कि आज पूर्णता के साथ पूजन कराइए, यह व्यंजित करता है कि देर तक पूजा करनी है। यह अभिधामूला आर्थी व्यंग्य है। पुजारी से पुकारकर कहने में प्राणप्रिया पर सविलंब पूजनेच्छा प्रकट करने की भी अभिधामूला आर्थी व्यंग्य है। प्रयोजन यह है कि यह इच्छा समझकर वहाँ वह देर तक ठहरे। इन दोनो व्यंग्यों से यह दूसरा व्यंग्य निकलता है कि देर तक प्रिया के दर्शन पूजन के बहाने से हों।

दूसरे कि बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ
कोकिल-कपोतन की धुनि सरसाति है;
पूरि रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि,
'मतिराम' अलि-कुलनि अँधेरी अधिकाति है।
नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, बन
कुंजन मैं होति जहाँ दिन हू मैं राति है;
ता बन के बीच कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है?

(मतिराम)

यहाँ पहली व्यंजना से तो शून्य स्थल प्रकट होता है, तथा दूसरी से सहेट के योग्य स्थान आदि।

बेलिन सों लपटाइ रही हैं तमालन की अवली अति कारी ;
कोकिल कूकि कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँदवारी।
होहि प्रसन्न, न होहि दुखी, 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी ;
मंजुल बंजुल-कुंजन के घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी।
(मतिराम)

बंजुल=अशोक।

यहाँ पहली व्यंजना से एकांत स्थल प्रकट होता है। सहेट-स्थल आदिवाली जो दूसरी व्यंजना है, वह इस व्यंग्य से निकलती है। "प्रबीन सबै नर-नारी" ऐसा पद भी आ गया है, जिससे वही भाव व्यंजना का शब्द द्वारा भी निकल आता है। पूरे छंद में वाच्य से एक व्यंग्य निकलता है, और फिर व्यंग्य से व्यंग्य आ जाता है।

तात्पर्य

मीमांसक एक और वृत्ति मानते हैं। उसका नाम तात्पर्य वृत्ति है। मम्मट के काव्य-प्रकाश के टीकाकारों में इस वृत्ति को उनको मान्य या अमान्य होने के विषय में मतभेद है। किसी-किसी का मत है कि उन्होंने तात्पर्य वृत्ति को माना नहीं ; केवल उसका उल्लेख-मात्र कर दिया है। दूसरों का मत है कि वे इस वृत्ति को मानते थे। तीसरे कहते हैं कि उन्होंने अपना मत इसके विषय में लिखा ही नहीं कि यह वृत्ति उनको मान्य थी अथवा अमान्य।

तात्पर्याख्या वृत्ति—पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों को वाक्य में आए हुए पदों के साथ संबंध बोध करानेवाली वृत्ति होती है *।

---

* तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ; तात्पर्यार्थंतदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे। (साहित्य-दर्पण)

इन मीमांसकों के दो मत हैं—

(१) अन्विताभिधानवादी—कहते हैं कि पदों का अर्थ पृथक्-पृथक् नहीं ज्ञात होता ; प्रत्युत उनका अन्वयित अर्थ ही ज्ञात होता है। अतः तात्पर्य वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। यह गुरु-मत या प्रभाकर-मत के नाम से प्रसिद्ध है।

जैसे किसी ने कहा—"गाय ले आओ", और उसका नौकर गाय ले आया। अब उसने पुनः कहा—"गाय को बाँध दो।" किसी ने उस गाय को बाँध भी दिया। अब वह पुनः आज्ञा देता है कि "घोड़े को ले आओ", मनुष्य इस आज्ञा का भी पालन करता है। चौथी बार उसने कहा—"घोड़े को भी बाँध दो", इस आज्ञा का भी पालन किया जाता है। यहाँ सुननेवाले बालक को व्यतिरेकादि द्वारा "लाओ", "घोड़ा", "गाय" और "बाँधो" शब्दों का अर्थ अन्वयित* अर्थ के साथ ही ज्ञात हुआ। अतः इन्हीं कारणों से वे तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार नहीं करते।

(२) अभिहितान्वयवादी—मीमांसक कहते हैं कि अभिधा शक्ति से पदों का पृथक् पृथक् अर्थ ज्ञात हो जाने पर उन भिन्न-भिन्न अर्थों को परस्पर संबंधित करके वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित करनेवाली तात्पर्य वृत्ति है। यह कुमारिल भट्ट का "भाट्ट मत" कहा जाता है।

इनका मत है कि अभिधा, लक्षणा या व्यंजना शक्ति से शब्दों का अलग-अलग ही अर्थ ज्ञात हो सकता है, अतः वाक्य में आए भिन्न-भिन्न अर्थों का सामूहिक अन्वय-ज्ञान किसी अन्य ही वृत्ति से मानना चाहिए। इसका ज्ञान कराने के लिये वे तात्पर्य वृत्ति स्वीकार करते हैं।

---

* अन्वय—पदों की परस्पर आकांक्षा-संबंधी योग्यता ; परस्पर संबंध।

इसके अर्थ को वे तात्पर्यार्थ और वाक्य को तात्पर्यबोधक मानते हैं। यह वाक्य में आए पदार्थों का परस्पर संबंध शब्दों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से ज्ञात होता है। जब यह संबंध ज्ञात हो जाता है, तब इससे एक विशेषार्थ बोध होता है। यही तात्पर्यार्थ है।

वाक्य—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों का समूह है।

आकांक्षा*—पद को अन्य शब्द की जिज्ञासा बनी रहने को कहते हैं।

यदि कोई मनुष्य "घोड़ा" शब्द कहे, तो इसका कोई संबंधित अर्थ न निकल सकने के कारण इस घोड़े शब्द की आकांक्षा बनी रहती है। परंतु यदि इसके आगे "आया" और कह दें, तो आकांक्षा की पूर्ति हो जायगी।

योग्यता×—पदों के परस्पर संबंध में बाधा न उपस्थित होना है।

जैसे कोई कहे कि "हम रोटी पीवेंगे", तो यहाँ रोटी और पीने के अर्थों में परस्पर संबंध में बाधा उपस्थित होती है, क्योंकि रोटी पी नहीं, खाई जाती है। किंतु यदि कोई कहे "मैं पानी पीऊँगा", तो पानी पीने का ही पदार्थ होने से संबंध में बाधा पड़ने की संभावना नहीं है। यदि रोटी के विषय में खाना क्रिया कही जाय, तो वहाँ भी रोटी में खाए जाने की योग्यता होने के कारण कुछ गड़बड़ न पड़ेगी।

सन्निधि+—एक पद के पीछे दूसरे के उच्चारण में अधिक समय का न लगना सन्निधि है।

---

* आकांक्षा—पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम्।

× योग्यता—पदानां परस्परसम्बन्धबाधाभावः।

+ सन्निधि—पदानामविलम्बेन उच्चारणम्।

यदि वाक्य का एक शब्द अभी कहा जाय और दूसरा दो घंटे बाद, तो उस वाक्य का कोई अर्थ नही हो सकता। इस कारण एक वाक्य में एक पद के पीछे ही दूसरे पद का उच्चारण होना भी आवश्यक है।

व्यंजना की मान्यता

व्यंजना-वृत्ति मानी जाय या नहीं, इस विषय पर भी आचार्यो में कुछ मतभेद है।

अभिहितान्वयवादी—कहते हैं, यह तात्पर्य वृत्ति से भिन्न कुछ भी नहीं।

किसी वृत्ति के विरत हो जाने पर फिर उससे कोई काम नहीं लिया जा सकता। अतएव अर्थ समझने के बाद इन लोगों की मानी हुई तात्पर्य वृत्ति व्यंजना का काम नहीं दे सकती, ऐसा मत विश्वनाथ का है। यदि कहा जाय कि वह दूसरी बार काम कर सकती है, तो अभिधा वृत्ति से काम न चल सकने पर ये ही लोग लक्षणा क्यों मानते हैं, अथच अभिधा से ही दूसरा अर्थ भी क्यों नहीं मान लेते? गंगावासी से जब गंगातट-वासी लक्षणा से मानते हैं, तब लक्षणा द्वारा प्रयोजन न बनने पर व्यंजना भी माननी पड़ेगी, क्योंकि उससे तो भाव मूल शब्दों से प्रायः इतनी दूर चले जाते हैं, जितने लक्षणावाले जाते ही नहीं।

अन्विताभिधानवादी—समझते हैं, काव्य आनंदानुभव के लिये पढ़ा जाता है। अतः इसमें शब्दों का तात्पर्य आनंदानुभव ही है। जब आनंद उन्हीं शब्दों से निकलता है, तब वह उन्हीं का शब्दार्थ हुआ, जिससे व्यंग्य का पृथक् अस्तित्व अमान्य है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि तात्पर्य से प्रयोजन (१) शब्दों से निकलते हुए अर्थ का है, या (२) तात्पर्य-नाम्नी वृत्ति से उसका निकलना?

यदि पहला विचार माना जाय, तो व्यंजना-वृत्ति के माननेवालों से भी

कोई विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि अर्थों का निकलना दोनो पक्ष जब मानते ही हैं, तब यदि व्यंजनावादियों ने अर्थ-प्राप्ति के विधान में आगे बढ़कर एक वृत्ति का भी सहारा ले लिया, तो कोई वास्तविक विरोध न हुआ।

यदि द्वितीय प्रयोजन तात्पर्य वृत्ति का माना जाय, तो जो तर्क तात्पर्य को संबंध-बोधक वृत्ति माननेवाले अभिहितान्वयवादियों के प्रतिकूल किया गया है, वही यहाँ भी आरोपित हो जाता है, अर्थात् तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थ का संबंध-मात्र बोधित हो सकता है, और पीछे विरत होकर वह कोई काम नहीं चला सकती।

यदि कोई अन्य भिन्न वृत्ति का प्रयोजन तात्पर्य से माना जाय, तो व्यंजना ही के मानने में क्या दोष है, क्योंकि ऐसी दशा में केवल नाम का अंतर रह जायगा।

इन बातों के अतिरिक्त रस की उत्पत्ति यदि तात्पर्य से मानें, तो भी काम नहीं चलती। भरत मुनि ने रस की निष्पत्ति उचित ही स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों से मानी है, जिससे रस उनका कार्य हुआ, तथा वे रस के हेतु हैं। अब यदि तात्पर्य द्वारा इन भावों तथा रस की उत्पत्ति साथ ही मानी जाय, तो यह विचार अतर्क्य न ठहरेगा। पहले हेतु होता है, और तब फल। इन दोनो की साथ ही उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, जिससे विभावादि कारणों को पहले मानकर तब तर्क-शास्त्र के अनुसार रस माना जा सकेगा। यहाँ रस का विषय नहीं उठाया गया है, वरन् यह वर्णन केवल तर्कात्मक है। यही तर्क व्यंजना के विषय में भी लागू है।

लक्षणा का प्रयोजन स्वयं उससे बोधित न होकर व्यंजना से होता है। यथा "हम गंगावासी हैं" कहने में गंगा के भीतर बसना जब प्रवाह के कारण संभव नहीं, तब मुख्य अर्थ का बाध होकर उसी के योग से गंगा-तट-वासी का अर्थ निकलता है, तथा अर्थ को इसके पीछे कोई आकांक्षा नहीं रह जाती। अतएव शीतत्व और पवित्रता का

दूसरा भाव लक्षणा से नहीं निकल सकता। यदि इसे ही लक्ष्यार्थ मानना चाहें, तो गंगा-तट वाच्यार्थ मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में भी मुख्यार्थ के बाध का कोई कारण प्रस्तुत नहीं, अथच तट के वाच्यार्थ शीतत्व एवं पावनत्व का योग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि किनारा चार-पाँच मील दूरी तक माना जा सकता है, जिसमें हर जगह शीतलता आदि गुण नहीं होते। अतः वाच्यार्थ तट का योग भी प्रयोजन में नहीं माना जा सकता। जब और योग आते ही नहीं, जो लक्षणा के लिये आवश्यक हैं, तब प्रयोजन रूप लक्ष्यार्थ भी अप्राप्त रहेगा। अतः फल यह निकलता है कि प्रयोजन व्यंग्य का ही विषय है, लक्ष्य का नहीं।

यहाँ तक जो विचार इस विषय पर लिखे गए हैं, वे विशेषतया मम्मट और विश्वनाथ तथा उन दोनो के टीकाकारों के कथनों पर आधारित हैं। अब पंडितराज का मूल आधार लेकर वाच्यसंभवा शाब्दी व्यंजना पर कथन किए जाते हैं।

(१) इसमें पहला मत साहित्यिकों का लिखा जाता है। अनेकार्थ-वाची शब्दों के सब या अनेक अर्थ पहले विज्ञ श्रोताओं के सामने उपस्थित होते हैं, और पीछे से प्रकरणादि की सहायता से एक अर्थ रहकर शेषार्थों का बाध हो जाता है। अनंतर अन्य अर्थ व्यंजना की सहायता से निकलते हैं। पृष्ठ २६ पर सोनारीवाले सेनापति के छंद में दोनो अर्थ पाठकों की बुद्धि में पहले आते हैं, और पीछे वक्ता को सोनारी तथा बोधव्य को ज़ेवर बनवानेवाला मानने से केवल एक अर्थ रहकर दूसरे का बाध हो जाता है।

अनंतर वह दूसरा अर्थ व्यंग्य द्वारा प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि संयोगादि की सहायता से दूसरा अर्थ जब दब चुका, तब व्यंग्य से वह कैसे निकलेगा, तो उत्तर यह है कि संयोगादि का संबंध एकार्थ नियत करने के लिये केवल वाच्यार्थ से है, न कि व्यंग्यार्थ में।

(२) दूसरे मतवालों का कहना है कि संयोगादिकों द्वारा केवल

इतना निर्णय होता है कि वक्ता का अभिप्राय किस अर्थ में है, इससे दूसरे अर्थ की रुकावट नहीं होती। पीछे उनमें व्यंजना द्वारा दूसरे अर्थ के निकालने में तीन मत हैं—

(अ) दूसरे अर्थ के जानने में पहला (अर्थ) क्रिया-रूप से काम देता है। मतलब यह कि पहला अर्थ दूसरे का साधन-रूप होता है।

(आ) दूसरा अर्थ भी अभिधा द्वारा प्राप्त प्रथमार्थ ज्ञान के पद-ज्ञान से व्यंजना द्वारा आता है।

(इ) दूसरी बार छंद पढ़ने से पद-ज्ञान से ही दूसरा अर्थ व्यंजना द्वारा निकलता है। इन तीनो मतों में अंतर बहुत थोड़ा देख पड़ता है।

(३) तीसरे मतवाले उपर्युक्त दोनो मतों का खंडन करते हैं। वे कहते हैं, संयोगादि से एक अर्थ के दृढ़ हो जाने पर भी दूसरे का वास्तविक बाध न होकर वह अभिधा से ही निकलता है, न कि व्यंजना से। इस संबंध में पंडितराज निम्नांकित उदाहरण देते हैं—

"अबलानां श्रीहरण करके चपलाएँ जब रात-दिन वारिवाहकों के साथ रहती हैं, वह समय आ गया है।"

यहाँ अबलानां, वारिवाहक और चपला योगरूढ़ि शब्द हैं, अतः इनका सीधा अर्थ कामिनी, मेघ और बिजली है, जिससे अर्थ हुआ कि कामिनियों की प्रभा का नाश करके बिजलियाँ जब बादलों में चमका करती हैं, वह समय आ गया है।

यहाँ तात्पर्य से कोई अर्थ तो रोकना पड़ता नहीं, अतः दूसरा अर्थ अभिधा द्वारा नहीं निकल सकता, जिससे वह व्यंग्य द्वारा निकला हुआ ही मानना पड़ेगा। वह अर्थ यह है कि "कमज़ोरों का श्री-हरण करके चपलाएँ (कामिनियाँ) जब वारिवाहकों (पानी ढोनेवालों) से प्रीति करती हैं, वह समय आ गया है।" इस स्थान पर दूसरा अर्थ अभिधा

से नहीं निकलता, क्योंकि रूढ़िवाला अर्थ क़रीब-क़रीब वाच्यार्थ ही-सा निकलता है । जब एक स्थान पर व्यंग्य मानना ही पड़ता है, तब इतर स्थानों में भी मानने में दोष नहीं । व्यंजना का विषय इसी स्थान पर समाप्त होता है ।

ध्वनि का विषय इसी से मिलता-जुलता है, किंतु भाव, रस और अलंकार बिना जाने उसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता । इसीलिये ध्वनि का विषय दूसरे खंड में, भाव तथा रस कह चुकने पर, लिखा जायगा ।

अलंकार

पहले कहा जा चुका है, साहित्य-शरीर के लिये अलंकार भूषण-मात्र हैं। उत्तम काव्य ध्वनि-मूलक (व्यंग्य-प्रधान) कहलाता है, और मध्यम गुणीभूत व्यंग्य-युक्त। जहाँ व्यंग्य की प्रधानता नहीं होती, अर्थात् वह अप्रधान रूप से रहता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है।

अलंकार का विषय भाषा के सौंदर्य पर आधारित है। उससे भाव को सहायता मिल सकती है, किंतु मुख्यता भाषा के ही रंजन की है।

अलंकार—जिससे शब्द या वाच्यार्थ की शोभा बढ़े, उसे अलंकार कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—(१) अर्थालंकार और (२) शब्दालंकार। कहीं-कहीं एक ही अलंकार में शब्द और अर्थ, दोनो का रंजन होता है। वहाँ मिश्रालंकार कहे जा सकते हैं।

धारेश्वर भोजराज ने तीनो प्रकार के चौबीस-चौबीस अलंकार माने हैं। पीछे से समय के साथ अर्थालंकारों की संख्या बढ़ती गई। हमने वर्तमान पद्धति पर चलकर ही यह वर्णन किया है। मुख्यता केवल अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों की है, किंतु वर्णन-पूर्णता के विचार से मिश्रालंकार भी लिख दिए गए हैं। अर्थालंकार अब संख्या में इतर दोनो से बहुत अधिक हैं, और उन्हीं के साथ हम इस गहन विषय को उठाते हैं।

अर्थालंकार—जहाँ अर्थ विचारने पर रमणीयता मिले, वहाँ अर्थालंकार होगा।

शब्दालंकार—जिस वर्णन में श्रवण-मात्र से रमणीयता प्राप्त हो, वहाँ शब्दालंकार समझा जाता है।

मिश्रालंकार—में दोनो प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक अलंकार मिले रहते हैं।

शब्दालंकार किसे मानें, और अर्थालंकार किसे, इस विषय पर कुछ मतभेद संभव है। कुछ आचार्य श्लेष को शब्दालंकार मानते हैं, यद्यपि उसमें अर्थ का खासा विचार है। जो अलंकार हमने शब्दालंकारों में कहे हैं, उनमें भी कुछ में अर्थ का विचार आ जाता है, जैसे वृत्त्यनुप्रास, यमक, पुनरुक्तिवदाभास आदि में। पूर्णरूपेण शब्दालंकार केवल छेकानुप्रास रह जाता है। उसमें भी यदि बिना अर्थ का चमत्कार लाए हुए कोई केवल छेकानुप्रास का प्रयोग करे, तो सौंदर्य का अभाव-सा हो जायगा।

वीप्सा में भी बिना अर्थ-चमत्कार के काव्य का आरोपण ही कठिन हो जायगा। जैसे "वह बार-बार आता है" में वीप्सालंकार तो है, किंतु कोई रमणीयता न होने से काव्य नहीं। जब वीप्सा के साथ रमणीय कथन भी होंगे, तभी अलंकार की शोभा है।

इन कारणों से यह विचार उठ सकता है कि शुद्ध शब्दालंकार कोई है ही नहीं। फिर भी आचार्यों ने इसका अस्तित्व माना है। इस विषय पर हम अपने विचार यथास्थान फिर भी प्रकट करेंगे।

अलंकारों के वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया है, और हमने भी इस पर श्रम किया था, किंतु यह ठीक बैठता नहीं, क्योंकि एक ही अलंकार के विविध भेद और कहीं-कहीं वही अलंकार पृथक् वर्गों में पड़ने लगते हैं। अतएव यह विषय हम ग्रंथ में सन्निविष्ट नहीं करते। अब विविध अलंकारों का वर्णन अर्थालंकारों के साथ उठाया जाता है।

अर्थालंकार

(१) उपमा

उपमान—उसे कहते हैं, जिससे बराबरी की जाय। जैसे—"भगवान् काम-से सुंदर हैं।"

उपमेय—जिसकी बराबरी हो, उसे उपमेय कहेंगे।

वाचक—जिस शब्द से बराबरी प्रकट की जाय, उसे वाचक कहते हैं।

साधारण धर्म—जिस गुण आदि को लेकर उपमेय-उपमान की बराबरी की जाती है, उसे धर्म कहते हैं।

उदाहरण में भगवान् उपमेय एवं काम उपमान है, और इन दोनो में अनुगमन करनेवाला सुंदरता-रूप साधारण धर्म लिखा गया है, तथा 'से' पद उपमा का वाचक है।

उपमान और उपमेय के पर्यायवाची शब्द—उपमान को अप्रस्तुत, अप्रकृत, विषयी और अवर्ण्य भी कहते हैं। उपमेय को विषय, प्रकृत, प्रस्तुत और वर्ण्य भी कहा जाता है।

उपमा—उपमान और उपमेय के साधारण धर्म-संबंध में शोभा होने पर उपमालंकार होता है।
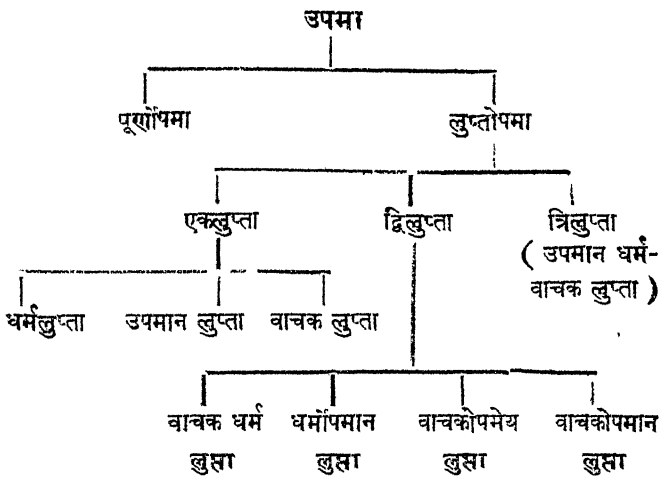
नोट—उपमा के इन भेदों को हमने स्वीकार किया है, परंतु अन्यों ने पूर्ण लुप्ता, धर्मलुप्ता तथा उपमान लुप्ता में श्रौती और आर्थी के दो-दो भेद और माने हैं। त्रिलुप्ता में केवल एक भेद उपमानधर्मवाचकलुप्ता होता है। उपमा के कुछ अन्य भेद भी आचार्यों ने माने हैं; उनका चक्र नीचे दिया जाता है। उपमा के दो मुख्य भेद हैं—(१) पूर्णोपमा तथा (२) लुप्तोपमा।
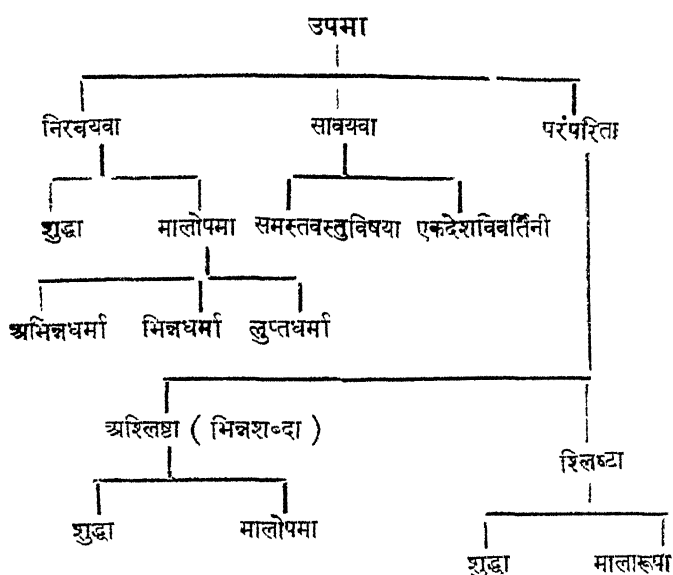
(१) पूर्णोपमा—जहाँ उपमा के चारों अंग पृथक् शब्दों द्वारा कथित हों, वहाँ पूर्णोपमा होगी। यथा—

आलस बलित कोरैं काजर-कलित 'मति-
राम' वै ललित अति पानिप धरत हैं;

सारस सरस सोहैं सजल सहास सग-
रब सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं।
बरुनी सघन बंक तीछन कटाच्छ बड़े,
लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं;
गाढ़े ह्वै गड़े हैं, न निसारे निसरत मैन-
बान-से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं।
(मतिराम)

नेत्र मैन-बाण-से बिसारे (विष-युक्त) हैं, इसमें उपमा के चारो अंग प्राप्त हैं।

वाको बदन मयंक-सो अति ही सुखद लखात;
हरि के नैन चकोर लौं जेहि देखत न अघात।
(बेरीसाल)

यहाँ दो बार पूर्णोपमा है। "बदन मयंक-सो सुखद" तथा "नैन चकोर लौं न अघात," ये ही दोनो पूर्णोपमाएँ हैं।

कटु औषध-सा स्वार्थ-त्याग भी कुछ अवश्य दुखदाता है,
पर इसके बिन देश देह-सम कभी नहीं सुख पाता है।
(मिश्रबंधु)

यहाँ भी पूर्णोपमा है।

साजि चतुरंग बीर रंग मैं तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल फैल खैल भैल खलक मैं गैल-गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उसलत है;
तारा सो तरनि धूरि धारा मैं लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।
(भूषण)

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै - भानु कैसी ,
फारैं तम - तोम - से गयंदन के जाल को ;
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिनि-सी ,
रुद्रहि रिझावै दै - दै मुंडन की माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहुबली ,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल को ;
प्रतिभट सुभट कटीले केते काटि - काटि ,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को।
(भूषण)

उलदत मद अनुमद ज्यों जलधि-जल ,
बलहद भीमकद काहू के न आह के ;
प्रबल प्रचंड गंड मंडित मधुप - बृंद ,
बिंध्य-से बुलंद सिंध सातऊ के थाह के।
'भूषन' भनत झूल झंपित झपान झुकि ,
झूमत झुलत झहरात रथ डाह के ;
मेघ - से घमंडित मजेजदार तेज - पुंज ,
गुंजरत कुंजर कुमाऊँ - नरनाह के।
(भूषण)

एकै एक सरस अनेक जे निहारे तन ,
भारे लाज भारे स्वामि काम प्रतिपाल के ;
चंग लौं उड़ाई जिन दिल्ली की वजीर भीर ,
पारे बहु मीरन किए हैं बे हवाल के।
सिंह बदनेस के सपूत श्रीसुजानसिंह ,
सिंह लौं झपटि नख दीन्हे करबाल के ;
वेई पठनेटे सेल-साँगनि खखेटे भूरि
धूरि सों लपेटे लेटे भेटे महाकाल के।
(सूदन)

हारे देखि हाड़ा मन मारे कमधुज-बंस,
कूरम पसारे पायँ सुनत नगारे के;
केते पुर जारे, केते नृपति सँघारे तेई,
जोरि दल भारे ब्रजभूमि पै हँकारे के।
रारे मधुसूदन सबारे बदनेस प्यारे,
ब्रज रखवारे निज बंस अवधारे के:
होत ललकारे सूर सूरज प्रताप भारे,
तारे-से छिपैंगे सब सुभट सितारे के।
(सूदन)

कमधुज = कबंधज, राठौर। कहते हैं, कन्नौजपति जयचंद का कबंध युद्ध में उठा था। इसी से उनके वंशधर कबंधज कहलाते हैं।

अवधारे = निश्चय-पूर्वक तय करने से। रारे = लड़ाई में। बदनेस प्यारे = सूरजमल महाराज बदनसिंह के पुत्र जाट थे, जिनके वंशधर भरतपुर-नरेश अब भी हैं।

कवियों ने पूर्णोपमा के दो भेद माने हैं—(१) श्रौती और (२) आर्थी। (लुप्तोपमा के भेदों में भी जहाँ पर वाचक उक्त होता है, वहाँ भी ये भेद माने गए हैं।)

श्रौती—में ऐसे वाचक लाए जाते हैं, जिनसे उपमेय और उपमान में धर्म की तुल्यता हो, अर्थात् उनमें साधर्मता वाच्य हो (दोनो में धर्म का एक-सा होना सीधे प्रकार से प्रकट हो।)

श्रौती उपमा वाचक—लौं, यथा, इव, वा, जिमि, सी, सो, से आदि ऐसे ही वाचक हैं। इनसे प्रकट होता है कि धर्म में उपमेय और उपमान एक-से हैं। यथा—

"ससि-सो उज्ज्वल तिय-बदन, पल्लव-से मृदु पानि।"

यहाँ सो अथच से शब्द की सामर्थ्य से उपमेयों में साक्षात् सीधे 'धर्म-

संबंध ही का ज्ञान उपमानों से होता है। यही मत साहित्यदर्पण का भी है।

आर्थी उपमा—में पहले स्वयं उपमान और उपमेय की समानता पाई जाती है, और पीछे उनमें धर्म की एकता अर्थ-बल से निकलती है।

आर्थी उपमा के वाचक—तुल्य, समान, सम, सरिस आदि शब्द हैं। यथा—

"सारद हरि हीरा-सरिस जस उज्ज्वल हिय आनि।"

यहाँ सरिस के कारण यश का शारद आदि से पहले समानता का विचार उठता है, और तब उज्ज्वलता धर्म का।

ये दो भेद संस्कृत के आचार्यों तथा कुछ हिंदीवालों ने भी लिखे हैं, सबने नहीं। यहाँ इतना भारी भेद नहीं दिखाई देता कि दो भेदांतर स्थापित किए जायँ। यह चमत्कार केवल उदाहरणों के अंतर में दिखलाया जा सकता है।

इसी भाँति बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मोपमा, निरवयवोपमा, सावयवोपमा, समस्तवस्तुविषयोपमा, एकदेशविवर्त्युपमा, परंपरितोपमा, वैधर्मोपमा आदि के वर्णन आचार्यों ने किए हैं, किंतु इन्हें भी अलग भेद न मानकर उदाहरणांतर कह सकते हैं। इनके विशेष कथन रूपकादि में आवेंगे।

उपमादि के लक्षण ऊपर आ गए हैं, किंतु याद रखने के लिये समझने-भर को दूलह का छंद नीचे लिखा जाता है, जिसमें लक्षण तो नहीं हैं, किंतु समझाने तथा याद दिलाने का मसाला अच्छा है—

बाचक धरम उपमेय उपमान, कान्ह
काम-से रुचिर तहाँ उपमा बखानिए;
एक, दोय, तीन लुपैं लुपतोपमा हैं आठ,
तिनको उदाहरण ही सों पहिचानिए।

आनन-सो आनन अनन्वै कंज-से हैं नैन ,
नैन - से हैं कंज उपमेयोपमा मानिए ;
जानिबे के हेत कबि 'दूलह' सुगम कियो ,
नाम लच्छ्य लच्छन कबित्त ही सों जानिए ।

(दूलह)

(२) लुप्तोपमा—उपर्युक्त चारों में से उपमा में जहाँ एक से तीन तक अंगों का लोप हो, वहाँ लुप्तोपमा होती है ।

पद्माकर तथा बेरीसाल ने चौथे अंग का भी लोप मानकर एक भेद पूर्णलुप्तोपमा भी कहा, जो अन्य आचार्यों ने नहीं लिखा । कुवलयानंद चंद्रालोक में आठ लुप्ताओं के कथन हैं, जिन्हें दूलह ने भी लिया है ।

१—धर्मलुप्ता—

"बदन सुधानिधि-सो लखौ ।"

में उज्ज्वलता धर्म का लोप है ।

२—उपमान लुप्ता—

"सुंदर नंदकिसोर-सो हौं न निहारयो आन ।"

संस्कृत और हिंदी के कुछ आचार्यों ने ऐसे कथन में उपमान लुप्ता माना है, किंतु इसे असम या अतिशयोक्ति भी कहा जा सकता है ।

असम (अतिशयोक्ति) और उपमा का विषय-पृथकरण—जब यह मान लिया जाय कि उसने तो नहीं देखा, किंतु है कोई अवश्य, तब उपमान लुप्ता हो सकेगी, किंतु जब यह अभिप्राय लिया जायगा कि ऐसा सुंदर कोई है ही नहीं, तब असम या अतिशयोक्ति हो जायगी ।

असम अलंकार—उसे कहते हैं, जहाँ किसी उपमेय के योग्य उपमान का पूर्ण अभाव हो । यथा—

"सुंदर नंदकिसोर-सो है न जगत में आन ।"

(कस्यचित्कवेः)

नोट—इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी किंचित् पृथक्ता होने पर हमने पृथक् अलंकारता स्वीकार नहीं की है; परंतु पाठकों के ज्ञानार्थ उस अलंकार का वर्णन-मात्र कहीं पर कर दिया है।

उपमान लुप्ता यथा—

"कोकिल - से, बचन मधुर जाके सुखदानि।"

(दूलह)

में उपमान लुप्ता स्पष्ट है, क्योंकि कोकिल न होकर उसके वचन उपमान हैं, जिनका कथन नहीं है।

३—वाचक लुप्ता—

"प्रीति सों न पगैं तिन्हैं कुलिस-कठोर जानि ;

प्रेम परतीति तैं पसीजत है पाहनो।"

(कुलपति मिश्र)

में तिन्हें कुलिश(के समान)-कठोर जानो का प्रयोजन है, किंतु यहाँ वाचक प्रकट न होकर ऊह्य (गुप्त) है।

४—वाचक धर्मलुप्ता—

"सजल जलद अभिराम तन तड़ित ललित पट पीत ;

नंदनँदन सखि चंद-मुख लखौ चित्त नवनीत।"

(चिंतामणि)

चंद-मुख और चित्त नवनीत, दोनो में वाचक धर्मलुप्ता है, क्योंकि यहाँ न तो वाचक है न धर्म।

वाचक लुप्ता तथा रूपक में भेद—वाचक लुप्ता तथा अभेद रूपक में यह भेद है कि जहाँ वर्णन में उपमेय की विशेषता हो, वहाँ उपमा तथा उपमान की विशेषता होने से रूपक होता है, ऐसा मत साहित्यदर्पणकार का है।

इस पूरे दोहे में उपमेय (रूप) की मुख्यता है, उपमानों की नहीं। इसी से उपमा है। रूपक में उपमेय अपना (रूप) छोड़-

कर उपमान का रूप धारण करता है, जिससे उसी (उपमान) की मुख्यता हो जाती है, जो वहाँ योग्य भी है।

५—धर्मोपमान लुप्ता—

"हरि नीके लखि लेहु जू हरिनी के-से नैन।"

यहाँ केवल हरिनी का कथन है, उसके नेत्रों का नहीं, यद्यपि उपमान उसके नेत्र ही हैं। नेत्रों की गुरुतावाला धर्म भी अकथित है। इसी से धर्मोपमान लुप्ता है।

६—वाचकोपमेय लुप्ता—

"उज्ज्वल धूर कपूर कगार अगार तें मुक्ति-नटी जहँ पैयत;
ताही के बीच बहै सुधा सुद्ध, लखे कलि-दोष छुधा-सी नसैयत।"

(लेखराज)

'कगारों के बीच शुद्ध सुधा बहती है' में वाचकोपमेय लुप्ता है, क्योंकि उपमेय गंगाजी का नाम न लेकर केवल शुद्ध (धर्म) सुधा (उपमान) के कथन द्वारा उपमेय गंगाजी की प्रशंसा है।

७—वाचकोपमान लुप्ता—

"दाड़िम दसन सोहाहीं।"

इसका अर्थ है दाड़िम (अनार) (के दानों) (से) दाँत शोभित हैं। वाचक (से) और उपमान (अनार के दानों) के अप्रकट होने से यहाँ वाचकोपमान लुप्ता है। यहाँ यद्यपि दाड़िम में अनार के दानों का बोध होता है, तथापि अलग शब्द द्वारा कथन न होने से कवियों ने उसका लोप माना है।

८—वाचक धर्मोपमान लुप्ता—

"गजगमनिहि लखि दुरि नंदलाल।"

(बैरीसाल)

हे नंदनंदन! छिपकर गजगामिनी नायिका को देखो। यहाँ वाचक,

उपमान और धर्म के लिये पृथक्-पृथक् शब्द न होने से उनका लोप माना गया है। ठीक अर्थ यह बैठाया जाता है कि गज-गति के समान मस्तानी चाल से चलनेवाली नायिका को देखो।

अब उपमा के कुछ अन्य भेदांतर कहे जाते हैं—

(३) मालोपमा—**में एक ही उपमेय के एक ही या भिन्न धर्मों से अनेक उपमान होते हैं।**

एक धर्म-युक्त मालोपमा। यथा—

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है;
पौन बारिबाह पर, संभु रति-नाह पर,
त्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृगराज हैं;
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है।

(भूषण)

यहाँ प्रबल पड़ना धर्म सब उपमानों पर लागू है।

रूप-जाल नँदलाल के परि करि बहुरि छुटैं न;
खंजरीट - मृग - मीन - से ब्रज-बनितन के नैन।

(मतिराम)

यहाँ उपमेय नैन के लिये एक धर्म (न छूटने) पर खंजरीट, मृग तथा मीन उपमान हुए हैं।

भिन्न धर्म-युक्त मालोपमा—

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति;
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति।

(मतिराम)

जीति अरि लेत नित पारथ-समान तुम,
भीषम-समान पुरुषारथ करत हौ ;
करन को दान औ' कृपान में लजाय देत,
बिदित पिनाकी-सम धनुष धरत हौ।
दीन-प्रतिपाल सिवराज नरपाल-मनि
स्वारथ के हेतु नहिं रन में लरत हौ ;
धारि भुज-दंडन पै धरम दुवार आजु
हरि के समान भार भूमि को हरत हौ।
(मिश्रबंधु)

इन उदाहरणों में उपमेय एक ही है, किंतु उपमान कई, जिन सबके संबंध में धर्म भिन्न हैं।

(४) रसनोपमा—

में ज़ंजीर के समान उपमा का एक वर्ग अन्य (उपमा) के दूसरे वर्ग से फँसा रहता है।

इसमें उपमा अनेक स्थलों में होती है, और प्रथम स्थल का उपमेय आगे आनेवाले वर्ग में उपमान हो जाता है। यथा—

बंस-सम बखत, बखत-सम ऊँचो मन,
मन-सम कर, कर - सम करी दान के।
(मतिराम)

यहाँ चार वर्ग हैं, जिनमें अलग-अलग चार उपमाएँ हैं, और प्रति पहलीवाली का उपमेय दूसरी में उपमान हो जाता है, यही संबंध है।

वाच्योपमा, लक्ष्योपमा और व्यंग्योपमा-नामक तीन और भेद कुछ कवियों ने माने हैं। यथा—

(५) वाचकोपमा—

भौंह कमान कटाच्छ सर, समर-भूमि बिचलै न ;
लाज तजे हू दुहुन के सलज सूर-से नैन।
(मतिराम)

यहाँ जो उपमा "सलज सूर-से नैन" में है, वह केवल अभिधा द्वारा सिद्ध होने से वाच्योपमा मानी गई है।

(६) लक्ष्योपमा—

बिधु कैसो बंधु कैधौं चोर हास्यरस ही को,
कुंदन को बादी कैधौं मोतिन को मीत है;
पुत्र कलहंस को कै छीरनिधि पृच्छक है,
हिमगिरि प्रभा प्रभु प्रगट पुनीत है।
अमल अमित अंग गंग के तरंग सम,
सुधा को समूह रिपु रूप को अभीत है;
देस-देस दिसि-दिसि परम प्रकासमान
कैधौं 'केसौदास' रामचंद्रजू को गीत है।
(केशवदास)

यहाँ उपमा के वाचक बंधु, चोर, बादी, मीत, पुत्र, पृच्छक (प्रश्न-कर्ता) और रिपु हैं, जिनसे लक्षणा शक्ति द्वारा सिद्ध होने से लक्ष्योपमा हुई।

(७) व्यंग्योपमा—

अद्वितीय निज को समुझि ससि जनि हर्षित होय;
रे सठ, भुवमंडल सकल कहा लियो तैं जोय।
(मुरारिदान)

यहाँ व्यंग्य द्वारा चंद्रमा के समान किसी वस्तु का होना प्रकट किया गया है, जो उपमान रूप में है। इसी से व्यंग्योपमा हुई। भाव रस-गंगाधर (पंडितराज-कृत) से लिया गया है।

केशवदास, भूषण आदि ने कुछ और भेद भी लिखे हैं, जिनका वर्णन अनावश्यक है, क्योंकि उनमें से अधिकांश इतर अलंकारों में चले जाते हैं। उपमा के पूर्णोपमा और लुप्तोपमा-नामक दो ही भेद हम मानते हैं।

शेष भेदांतर दूसरे प्रकार के उदाहरण-मात्र कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें इन भेदों से पृथक् कोई विशेष चमत्कार नहीं है।

अनन्वय (२)

अनन्वय—सादृश्यांतर व्यवच्छेदार्थ (दूसरी वस्तु से सादृश्य हटाने को) किसी वस्तु की उपमा उसी से दिए जाने में अनन्वयालंकार होता है।

प्रयोजन यह है कि उपमेय के समान किसी अन्य वस्तु के न होने से वही उपमान भी हो जाता है। यथा—

तीनि देव बड़े, ते लुकाने पहिलेई, याते
एक ब्रह्मलोक छीरसिंधु एक नग मैं;
ताहू पै न जान्यो भेव, पूछे जात अहमेव,
बृथा करि सेव पूजैं देव-देव पग मैं।
कोऊ न लखान्यो, लख्यो लाखन मैं 'लेखराज',
इत-उत जाय धाय यों ही नापी मग मैं;
पाप-ताप पाता करि सुजस को ख्याता गंगे,
मुकुति की दाता माता तो सी तुही जग मैं।
(लेखराज)

कहा कंज, खंजन कहा, कहा मीन को काम,
तेरे दृग से दृग अली तेरे ई अभिराम।
(बैरीसाल)

उपमेयोपमा (३)

उपमेयोपमा—यह है, जहाँ तृतीय सादृश्य व्यवच्छेदार्थ पहले उपमान और उपमेय दूसरे स्थान पर क्रमशः उपमेय और उपमान हो जावें।

प्रयोजन यह है कि उपमेय और उपमान जो कहे गए हैं, उनके समान तीसरी वस्तु कोई नहीं है। यथा—

तेरो तेज सरजा समत्थ! दिनकर-सो है,
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर-सो;
भौंसिला-भुवाल! तेरो जस हिमकर-सो है,
हिमकर सोहै तेरे जस के अकर-सो।
'भूषन' भनत तेरो हियो रतनाकर-सो,
रतनाकरौ है तेरे हिय सुखकर-सो;
साहि के सपूत सिवसाहि दानि! तेरो कर
सुरतरु सोहै, सुरतरु तेरे कर-सो।
(भूषण)

अकर=आकर=खान।

प्रतीप (४)

सम्मिलित लक्षण—(प्रतीप का अर्थ प्रतिकूलता है) उत्कृष्ट गुणी का तिरस्कार होना उससे प्रतिकूलता करनी है।

इसके पाँच भेद हैं।

प्रथम प्रतीप—में प्रसिद्ध उपमान को उपमेयवत् वर्णन करना है।

सखि, तो मुख-सो ससि भयो हिय धरि सुधा प्रकास;
त्यों हीं कर-सो कंज भो पति-जीवन करि बास।
(बैरीसाल)

मुख शशि के संबंध में उपमेय है, किंतु यहाँ उपमान बना है। जीवन=पानी।

फटिक सिलान सों सुधारयो सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को सो अधिकाय उमगै अमंद;

भीतर सों बाहर लौं भीति न दिखैए 'देव',
दूध को सो फेनु फैल्यो आँगन फरस बंद।
तारा-सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद;
आरसी से अंबर मैं आभा-सी उजेरी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चंद।
(देव)

यहाँ प्रसिद्ध उपमान चंद्र उपमेय है तथा राधा उपमान। साधारण-तया उपमान उत्कृष्ट गुण-युक्त रहता है, किंतु यहाँ प्रसिद्ध उपमान की उपमा उपमेय से दिए जाने के कारण उसका निरादर हुआ है।

नोट—कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि उपमान उत्कृष्ट गुणवाला और उपमेय न्यून गुणवाला होता है। इसी तत्त्व को ध्यान में रख-कर प्रतीप-अलंकार स्वीकार किया गया है।

द्वितीय प्रतीप—में प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाकर वर्ण्य (असली उपमेय) का निरादर होता है। यथा—

कहा कलि - कलुष - निकंदन को मद, याके
सरस असुर कुल कालिका सँहारे हैं;
'लेखराज' पाप जारिबे को कहा गर्ब,
रावरे-से बहु बिटपि-समूह बह्नि जारे हैं।
कहा निज सोभा पै भभरि भोरे भूली आपु,
आपु से बिपुल प्रभा पुंज भानु धारे हैं;
कहा निज तारेन को गहति गरूर गंगे,
तिनही से भारे हौं निहारे नभ तारे हैं।
(लेखराज)

बिटपि=बिटपी अर्थात् शाखा से युक्त वृक्ष।

हे गंगे ! जैसे भारी पापी तुमने तारे है, वैसे ही भारे (बड़े) नक्षत्र आसमान में हैं। यहाँ कहने-भर को उपमेय गंगा का निरादर है, किंतु वास्तव में ऊँचा भाव यह प्रकट किया गया है कि नक्षत्रों के समान पापी गंगा ने तार दिए। अपकर्ष भी शाब्दिक-मात्र है।

सागर में गहराई, मेरु में उँचाई,
रतिनायक मैं रूप की निकाई निरधारिए;
दान देवतरु मैं, सयान सुरगुरु मैं,
प्रसाद गंगनीर वारो कैसे कै बिसारिए।
तरनि मैं तेज बरनत 'मतिराम', जोति
जगमगै जामिनी रमन मैं बिचारिए;
राव भावसिंह कहा तुमहीं बड़े हौ जग,
रावरे सुगुन और ठौर हू निहारिए।

(मतिराम)

यहाँ उपमेय भाऊसिंह का यह कहकर निरादर किया गया है कि तुम्हीं अकेले बड़े नहीं हो, क्योंकि तुम्हारे गुण अन्यत्र भी प्राप्त हैं। वास्तविक प्रयोजन उपमेय में इन गुणों के आरोप से प्रशंसा का है। फिर अन्यों में एक-ही-एक गुण है, किंतु इनमें सब वर्तमान होने के कारण वास्तविक अपकर्ष भी नही है।

सिव प्रताप तव तरनि-सम अरि पानिप हर मूल ;
गरब करत केहि हेत है बड़वानल तो तूल।

(भूषण)

यहाँ एक ही गुण होने से कुछ अपकर्ष आ गया है। प्रतीप उत्कृष्ट गुणवाले के निरादर में होता है। तीनो उपर्युक्त उपमेयों के भारी गुणी अथच गर्व करने के योग्य होने से उत्कृष्टता आई है।

तृतीय प्रतीप—में प्रसिद्ध उपमान का उपमेय के आगे निरादर होता है। यथा —

जलधर छाँड़ि गुमान को हौं हीं जीवन - दानि ;
तोसों ही पानिप भर्यो भावसिंह को पानि ।
(मतिराम)

गरब करति कत चाँदनी हीरक छीर-समान ;
फैली इती समाजगत कीरति सिवा खुमान ।
(भूषण)

बूँदहि बूँद सु गारिकै, झारिकै, बारिकै जारि दियो नहिं पीर की ;
मूँदिकै भाजन काढ़ि मथो, कथो अंग नहीं मति जासु अधीर की ।
पान कै लीन्हो कहै 'लेखराज'जू जामैं रहै न छटा छबि छीर की ;
कैसे गरूर कै कूर करैगो सो फेरि बराबरी गंग के नीर की ।
(लेखराज)

चंद अरबिंद बिंब बिद्रुम फनिंद सुक
कुंदेन गयंद कुंद-कली निदरति है ;
चंपा संपा संपुट कदलि घनस्याम कहा,
कुसुम के अंगराग अंगना करति है ।
केहरि कपोत पिक पल्लव कलिंदी घन,
दरके निरखि दार-यो छतिया बरति है ;
मेरे इन अंगन की नकल बनाई बिधि,
नकल बिलोके मोहि न कल परति है ।
(घनश्याम शुक्ल)

संपा=बिजली ।

यहाँ अगर बराबरी न कर पाना अर्थ कीजिए, तो चतुर्थ अन्यथा तृतीय प्रतीप होगा । द्वितीय पद में पंचम प्रतीप है ।

इसमें तीसरे और पाँचवे प्रतीपों के उदाहरण हैं । यथा—

दुरित दुरूह दुख द्वंद खंड-खंड होत,
रंचहू कृपा के भए संकट-कदन की ;

धूमकेतु कैसो पेखि प्रखर प्रकास-पुंज,
धूम-धूसरित होति मंजुता मदन की।
दंपा की दमकहू दलित-सी दिखाई देति,
दंत - दुति देखि हिम-नंदिनी-नदन की;
कलिमल-कलुख-निकुंज की निकंदिनी है,
धन्य कमनीयता मतंगज - बदन की।
(उमेश)

दुरित=पाप। दुरूह=कठिन। दंपा=बिजली।

'दलित-सी दिखाई देति' में पंचम प्रतीप है।

चतुर्थ प्रतीप—में उपमान उपमेय की बराबरी नहीं कर पाता। यथा—

चंदन मैं नाग, मद भरयो इंद्रनाग, बिष
भरयो सेसनाग कहै उपमा अबस को?
भोर ठहरात न कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात बात लागे दिसि दस को।
संभु नील - ग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन 'भूषन' सरस को?
छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक, याते
रूप एक टंक ये लहैं न तव जस को।
(भूषण)

यहाँ अगर अर्थ में बराबरी न कर पाना-मात्र मानिए, तो चतुर्थ और यदि उपमान का व्यर्थ होना अर्थ कीजिए, तो पंचम प्रतीप मानना चाहिए।

यह झूठी उपमा सुकबि क्योंकरि करै प्रमान;
बिन कटाच्छ के कमल ये दग - सम कहत अयान।
(बैरीसाल)

जाती है, उससे पृथक् किसी अन्य गुण में विशेषता होती है, उसी में नहीं। जैसे—

"मुख है अंबुज-सो सही मीठी बात बिसेखि।"

यहाँ कमल से उपमा तो रंग के कारण दी गई है, किंतु मीठी बात के कारण मुख में विशेषता आई। यह मत स्वयं हमारा है, और किसी आचार्य के कथन में हमने इसे नहीं देखा। असल में यह किसी-किसी के मत से प्रतिकूल भी है। जैसे "चंद्र मुख से श्रेष्ठतर है' को हम व्यतिरेक न कहकर प्रतीप कहेंगे। "मुख चंद्र-सा है, किंतु कलंक-रहित।" ऐसा कथन व्यतिरेक में जायगा।

यदि इसे न मानिए, तो चौथे प्रतीप का लक्षण निम्नानुसार लिख सकते हैं—यदि उपमान उपमेयता पाकर उस(उपमेय)की समानता न कर सके, तो चतुर्थ प्रतीप होगा। यदि व्यतिरेकवाला हमारा मत न माना जाय, तथा चतुर्थ प्रतीप का लक्षण भी जैसे-का-तैसा रक्खा जाय, तो इस(चतुर्थ प्रतीप)में व्यतिरेक की अति-व्याप्ति हो जायगी।

केते करे सुकपोत कपोतक पिंजर पिंजर बीच बिबादनि;
को गनै चातक चक्र चकोर कला पिक मोर मराल प्रबादनि।
बीन ज्यों बोलति बाल प्रबीन नवीन सुधारस बाद सवादनि;
वारौं सुकंठी के कंठ खुले कल कंठन के कलकंठ निनादनि।

(देव)

राधिका-सी सुर-सिद्ध-सुता, नर-नाग-सुता कबि 'देव' न भू पर;
चंद करौं मुख देखि निछावरि, केहरि कोटि लटी कटि हू पर।
काम-कमानहू को भृकुटीन पै, मीन-मृगीन हू को दृग दू पर;
वारौं रि कंचन कंज-कली मृगनैनी के ओछे उरोजन ऊपर।

(देव)

पंचम प्रतीप—में उपमान उपमेय के आगे व्यर्थ हो जाता है। यथा—

पार्वतीजी के विवाह में—

चंद्रकला च्वै परी, असंग गंग ह्वै परी,
भुजंगी भाजि श्वै परी बरंगी के बरत ही।

(देव)

घूँघट खुलत अबै उलटु ह्वै जैहे 'देव'
उद्धत मनोज जग जुद्ध जूटि परैगो;
ऐसी न सुरोक सिख, को कहै अलोक बात,
लोक तिहूँ लोक की लुनाई लूटि परैगो।
दैयन दुराव मुख नतरु तरैयन को,
मंडलहु मटकि, चटकि टूटि परैगो;
तो चितै सकोचि सोचि-मोचि मृदु मूरछि कै
छोर ते छपाकर छता-सो छूटि परैगो।

(देव)

ऐसी शिखा देवलोक में भी नहीं है। तेरी ओर देखकर चंद्रमा संकुचित होकर, सोच करके, मोचि (लचककर), कुछ मूर्च्छित होकर अपनी सीमा से छाता की भाँति छूट पड़ेगा।

यों सिवराज को राज अडोल कियो सिव जोब कही ध्रुव धू है;
कामना दानि खुमान लखे न कछू सुररूख न देवगऊ है।
'भूषन' भूषन मैं कुल भूषन भौंसिला भूप धरे सब भू है;
मेरु कछू, न कछू दिग-दंति, न कुंडलि, कोल, कछू न कछू है।

(भूषण)

ए री वृषभानुलली, तेरे यै जुगुल जानु
मेरे बलबीरजू के मन ही हरत हैं;

गौरभ सुभाय अरु रंभा ते सदंभ मुख
'केसौ' सुभ करभ की आभा निदरत हैं।
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सौं
देखि-देखि गजराज लाजन मरत हैं;
मोचि-मोचि मद, रचि सकल सकोच सोचि,
सुधि आए सुंडन की कुंडली करत हैं।
(केशवदास)

चंड परताप हिंदूपति परतापसिंह
दौम मैं पसारि मारतंड को दबायो है;
पूरन त्यों कीरति पसारि कै निसा के बीच
ससि के उजास को निरास कै छपायो है।
भनत 'बिसाल' यह पेखि कै प्रभाव बिधि
आपनी चतुरता बिचारि मुद पायो है;
चेति फिरि जग की प्रगति के मिलाइबे को
भानु सितभानु हित राहु उपजायो है।
(विशाल कवि)

सूर्य-चंद्र को व्यर्थ मानकर ही ब्रह्मा ने उन्हें ग्रसने को राहु उत्पन्न किया।

पाँचों प्रतीप याद करने के लिये नीचे दूलह के छंद उद्धृत किए जाते हैं—

उपमान जहाँ उपमेय ह्वै जाय, तहाँ पहिलोई प्रतीप गनो;
कुच-से कमनीय बने करि-कुंभ, कहै कबि 'दूलह' लोग बनो।
उपमान जहाँ उपमेयता लै फिरि ताहि निरादरै दूजी भनो;
सखि, नैनन को जनि जोम करौ, इनके सम सोहत कंज बनो।
(दूलह)

वर्ण्य वस्तु वर्णिकै अवर्ण्य को अनादरै,
सु तीसरो प्रतीप कबि 'दूलह' गनायो है;

विम्ब भरे कैबर नसै बर गरब एरे,
तेरे तुल्य बचन प्रपंचिन को गायो है।
चौथो उपमान उपमेय की न समता को,
मुख-सो मयंक काहू भूलि ठहरायो है;
उपमान है न काम पाँचवों प्रतीप नाम,
राम तन ताके काम काके मन भायो है।
(दूलह)

रूपक (५)

रूपक—जहाँ सादृश्य के कारण वर्ण्य को अवर्ण्य से अभेदता या तद्रूपता देकर एक को दूसरे के रूप में रँगने का चमत्कार हो, वहाँ रूपक-अलंकार होता है।

इसके अभेद और तद्रूप-नामक दो मुख्य भेद हैं। इन दोनो में सम, अधिक और न्यून के भेदांतर होते हैं। रूपक में वाचक न आना चाहिए, जिसमें वह उपमा न हो जाय।
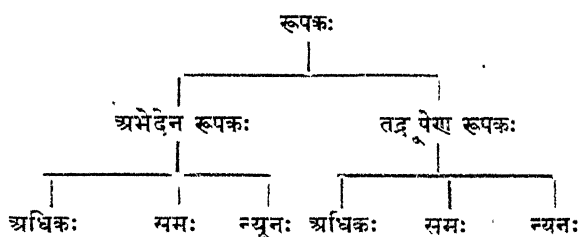
(१) **अभेद रूपक**—में उपमेय उपमान का रूप धारण करके उसमें बिलकुल मिल जाता है।

१—**समाभेद रूपक**—में उपमेय उपमान एक दूसरे के बराबर रहते हैं। यथा—

धार मैं धाय धसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं उकसीं न अबेरी ;
री अँगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी।
'देव' कछू अपनो बसु ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गईं पखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।
(देव)

बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेस रखियाँ ;
बूड़ीं जल ही मैं दिन जामिनि हूँ जागीं, भौंहैं
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
आँसू सो फटिक माल लाल डोरे सेली पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ ;
दीजिए दरस 'देव', लीजिए सँजोगिनि कै,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की अँखियाँ।
(देव)

कोयन जोति चहूँ चपला सुरचाप सुभ्रू रुचि कज्जल कादौ ;
बूँद बड़े बरसैं अँसुवा, हिरदै न बसै निरदैपति जादौ।
'देव' समीर नहीं दुनिए, धुनिए सुनिए कल कंठ निनादौ ;
तारे खुले न घिरी बरुनी घन नैन भए दोउ सावन-भादौ।
(देव)

सुभ्रू=सुभ्रू ; अच्छी भौंहैं। हिरदै न बसै=हृदय पर नहीं बसा है, अर्थात् वियोग की दशा है। वर्षा का पवन संसार को ध्वनित नहीं करता, वरन् सोहावने शब्द का कंठ सुन पड़ता है। यहाँ दोनो नेत्र सावन-भादौं हो गए हैं। नक्षत्र (घन से घिरे हैं) और आँख की पुतलियाँ (बरुनी से घिरी हैं) खुली नहीं हैं।

अंबर अडंबर डमरु गरजत बारि,
बरसि - बरसि सोखे बरसै बिसालु है ;

'देव' पल घरी जाम दोऊ दृग सेत स्याम
न्यारो एक-एक मूँदि खोलत उतालु है।
कौतुक त्रिबिध चहुँ चौहटे नचायो मीचु,
महि में मचायो चल अचलनि चालु है;
खेलत खेलैया ख्यालु, ताकि न थिरातु कालु,
माया गुन जालु अद्भुत इंद्रजालु है।
(देव)

बैठी कहा धरि मौन भटू, रँगभौन तुम्हें बिनु लागत सूनो;
चातक ह्वै तुमहीं ररि 'देव' चकोर भयो चिनगी करि चूनो।
साँझ सोहाग की माँझ उदौ करि सौति-सरोजन को बन लूनो;
पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिए पूनो।
(देव)

पावस से चेत करने का प्रयोजन है नायक का रोना बंद करने से, तथा अपने मुख-चंद्र के प्रकाश से पूर्णिमा करने का।

चोटी भुजंग महाछबि देति है, मोतिन की सरि गंग रसाल है;
सीस को फूल कलानिधि की कला, बंदन भाल बिलोचन लाल है।
सारी गयंद की खाल मनोहर, त्यों अँगराग बिभूति बिसाल है;
राजत सेज बघंबर पै बृषभानुसुता ससिभाल कृपाल है।
(विशाल कवि)

यहाँ समाभेद रूपक है। बंदन=ईंगुर।

जहाँ उपमान के अभेद तद्रूप करि
उपमेय रोप्यमान रूपक ये द्वै कहैं;
कहे कबि 'दूलह' अधिक सम न्यून ताके
एक-एक प्रति तीनि-तीनि भेद ये लहैं।
राम अबियोगी तुम, राम तुम जज्ञपाल,
राम तुम लंक के बिरोध बिनही अहैं;

बैन सुधा सुने जीजै, नैन-कंज देखे सुख,
प्यारे न्यारे चंद हौ, मृगान रथ में नहैं।

(दूलह)

इसमें छओं रूपकों के सूक्ष्मतया लक्षण और उदाहरण समझाने-भर को है।

चौथे चरण में न्यारे शब्द का अन्वय तीनो उदाहरणों के साथ करने से तद्रूपता आ जाती है।

२ अधिकाभेद रूपक—में उपमेय में कुछ अधिकता दिखलाई जाती है। यथा—

है यह साँचो काम, देह धरे बिहरत फिरत;
सरस आठहू जाम, संग लिए रति है तिया।

(बैरीसाल)

काम में अनंग होने की न्यूनता है, किंतु उपमेय सदेह होने से उसमें उपमान से अधिकता आ गई।

जंग मैं अंग कठोर महा, मद नीर झरैं झरना सरसे हैं;
झूलति रंग घने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा बिकसे हैं।
सुंदर-सिंदुर मंडित कुंभनि गैरिक सृंग उतंग लसे हैं;
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं।

(मतिराम)

यहाँ सजीवता का आधिक्य है।

३ न्यूनाभेद रूपक—में उपमेय उपमान से कुछकम दिखलाया जाता है।

नोट—कुछ आचार्यों का विचार है कि यह न्यूनता वास्तव में आदर-सूचक अथच महत्ता-पूर्णता का कारण होनी चाहिए, जिसमें उपमेय का वास्तविक निरादर न हो। यथा—

राम अबियोगी तुम, राम तुम जज्ञपाल;
राम तुम लंक के बिरोध बिनही अहैं।
(दूलह)

यहाँ अवियोगी होने से उपमेय अधिक, यज्ञपाल होने से सम और लंका का अविरोधी होने से न्यून है, क्योंकि राम की मुख्य महत्ता लंका-विजय है, जो उपमेय में नहीं। आंतरिक महत्ता दिखलाने को यह विचार आरोपित होगा कि उपमेय से लंका विरुद्ध भी नहीं है, जैसा कि उपमान राम से है।

महादानि याचकन को भाऊ देत तुरंग;
पच्छन बिगिर बिहंग हैं, सुंडन बिगिर मतंग।
(मतिराम)

यहाँ घोड़े विना परों के उड़ते हैं, तथा विना शुंड के हाथी के समान बड़े हैं। न्यूनता दोनो उदाहरणों में देखने-भर की है, वास्तव में नहीं।

(२) तद्रूप रूपक—में उपमेय उपमान का रूप तो ग्रहण करता है, पर वही नहीं हो जाता, जिससे दूसरे रूप में वही कहा जाता है।

१—सम तद्रूप रूपक—

छाँह करैं छितिमंडल पै, सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं;
पानिप को सरसावत हैं, सिगरे जग के मिटि ताप गए हैं।
भूमि पुरंदर भाऊ के हाथ पयोद नहीं सब काज ठए हैं;
पंथिन को पथ रोकिबे को घने बारिद-बृंद बृथा उनए हैं।
(मतिराम)

वह इंद्र स्वर्ग के हैं, किंतु भाऊ भूमि के, जिससे पार्थक्य सिद्ध है।

कबिजन - मन - कमलन को बिकास कर
मोह - निसि नास कर प्रगट दिखात हैं;

रसिक-मधुव्रत को पास कर खासकर,
मूकन उलूकन को त्रासकर ख्यात हैं।
कंबखत नखत लखत ही चखत, मीत
बखत बुलंद चकवान दरसात है;
पूरब सुकबि लेखराज ते उदित ह्वै कै
आज ब्रजराज दूजो सूरज लखात है।
(विशाल)

ब्रजराज लेखराजजी कवि के पुत्र थे। 'दूजो' शब्द से तद्रूपता ग्रहण होती है।

कानन के चारी चारु, भारी हैं चपल महा,
थिरता न गहैं कहूँ एक घरी हारिकै;
कहै 'रघुनाथ' पर पलकन फरकाय
कौतुकै करत मद जोबन को धारिकै।
कजरारे चीकने बिसद भारे रंगन सों
दुचितई डारैं देखे सुचितई टारिकै;
बाहरे न जाहि कोऊ लेइगो बझाय देखि
तेरे नैन खंजन ये खंजन बिचारिकै।
(रघुनाथ)

यहाँ 'तेरे' शब्द से पार्थक्य प्रकट है। पहले उदाहरण के अंतिम चरण में कुछ आधिक्य का रूप आ जाता है, किंतु अमुख्य-विषयक होने से इसे सम ही मानना चाहिये। जो कोई अधिक मानें, वे उसी का उदाहरण मान लें।

बटु ह्वै नटु ह्वै कै रिझावैं जिन्हैं, कबि 'देव' कहैं बतियाँ तुतरी;
बिधि ईस के सीस बसी बहु बारन कोरि कला रज सिंधु तरी।
जगमोहनि राधे तू पाँय परौं, बृषभानु के भौन अभै उतरी;
गुन बाँधे नचावति तीनिहु लोक लिए कर ज्यों कर की पुतरी।
(देव)

यहाँ राधा और गंगा का तद्रूप सम रूपक है। यह गंगा वृषभानु के भवन में है, इससे तद्रूपता है।

२—अधिक तद्रूप रूपक—

लगति कलानिधि चाँदनी निसि ही में अभिराम ;
दीपति या मुख चंद की दिपति आठहू जाम।

(बैरीसाल)

३—न्यून तद्रूप रूपक—

नहिं रतनाकर ते भयो, चलि देखौ निरसंक ;
याते दूजो कहत हौं याको बदन मयंक।

(बैरीसाल)

वर्णन-शैली के अनुसार समाभेद रूपक तथा सम तद्रूप रूपक अन्य कई प्रकार के भी होते हैं, जिनका चक्र नीचे दिया जाता है—
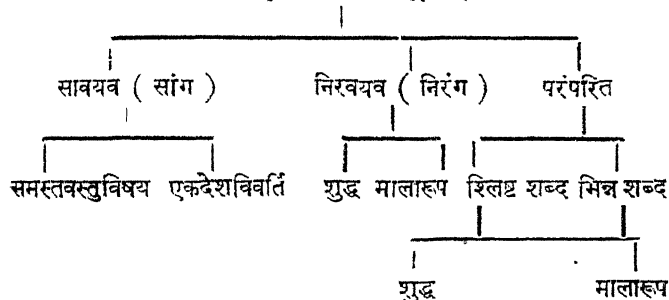
(१) **सावयव रूपक**—में उपमेय का उपमान में अंगों-सहित आरोप रहता है। इसके दो भेद होते हैं (१) समस्त-वस्तुविषय (२) एकदेशविवर्ति।

१—**समस्तवस्तुविषय**—में सभी अंगों का आरोप शब्द द्वारा कथित होता है। यथा—

आस-पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं,
बनन अगार दीठि गली ह्वै निबरते ;
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ीं,
बिधु बरम्हंड उतरात बिधि बरते ।
सारद जुह्वाई जह्नु पूरन सरूप धाई,
जाई सुधा-सिंधु नभ सेत गिरिबरते ;
उमड़ो परति जोति-मंडल अखंड सुधा-
मंडल मही मैं इंदु-मंडल-बिबरते ।
(देव)

सब ओर पूर्ण प्रकाश के समूह देख पड़ते हैं, जो वनों, भवनों, गलियों (आदि) में दृष्टि से निवृत्त होते हैं, अर्थात् नज़र से गुज़र जाते हैं । उस पारा के समुद्र-रूपी श्वेत प्रकाश में अपार दसो दिशाएँ डूब गई हैं, किंतु उसी में ब्रह्मा के वरदान से चंद्रमा और ब्रह्मांड उतरा रहे है । श्वेत गिरिवर के सुधा-सिंधु से उत्पन्न जह्नु की शारदी जुन्हाई (गंगा) पूर्ण रूप से धाई । प्रयोजन यह है कि गंगा-रूपी ज्योत्स्ना भी उसी प्रकाश-पुंज से निकली है, जिस प्रकाश का अंश श्वेतगिरि पर सुधा-सरोवर के रूप में स्थित है । भाव यह है कि संसार में प्रकाश-पुंज सर्वत्र व्याप्त है, किंतु आकाश-रूपी परदा उसे पृथ्वी पर नहीं आने देता । उसी परदे में चंद्रमा एक छिद्र है, जिसमें से होकर यह प्रकाश-पुंज सुधा-मंडल के समान पृथ्वी पर उमड़ा पड़ता है । यहाँ देव कवि ने सारे संसार का रूपक प्रकाश में बाँधा है, और उसके विविध अंगों का कथन उसी रूप में किया है, जिससे समस्तवस्तुविषय अभेद रूपक आया है ।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी ; दारुन रोष-तरंगिनि बाढ़ी ।
पाप-पहार प्रगट भइ सोई ; भरी क्रोध-जल जाय न जोई ।
बर दोउ कठिन कूल हठि धारा ; भँवर कूबरी बचन प्रचारा ।
ढाहति भूप रूप तरु मूला ; चली बिपति बारिधि अनुकूला ।

यहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने केकयी का रूपक नदी से बाँधा है, जो समस्तवस्तुविषयक अभेद सावयव रूपक है।

परंपरित तथा सावयव रूपक का पृथक्करण—क्रोध-पूर्ण तरुणी तथा वेगवती नदी की समानता विना अन्य कारणों के भी हो सकती है। यह बात आगे आनेवाले कुलपति मिश्र-कृत परंपरित रूपक के उदाहरण में न होगी। यही भेद है। नदी से इतर पाप पहार, क्रोध जल, दो वरदान कूल आदि के रूपक समर्थक-मात्र हैं। पंडितराज का कथन है कि सावयव में एक मुख्य रूपक होता है, तथा शेष उसके समर्थक रहते हैं।

यह बात उपर्युक्त दोनो उदाहरणों में है। उपर्युक्त समाभेद रूपक के भी दूसरे तथा तीसरे उदाहरण इसके भी कहे जा सकते हैं।

बिंधेसुरी को घट्यो परताप, बढ़ी सब देवन के उर संका;
राकसबंस बढ़े खल-बृंद, बजै परिपूरन पाप को डंका।
साधु बिभीषण व्याकुल देखि सुनौ अब अंजनी के सुत बंका;
रावन फेरि चढ़ैं दल साजि, भयो मिरजापुर दूसर लंका।

यहाँ मिरज़ापुर का लंका से सावयव तद्रूप रूपक बाँधा गया है।

गाजिकै घोर कढ़ो गुफा फोरिकै पूरि रही धुनि है चहूँ देस री,
दोऊ कगार बगारिकै आनन पाप मृगान को खात जो बेस री।
तापै अघात कबौं न लख्यो गनि नेकु सकै नहिं सारद सेस री;
सो 'लेखराज' है गंग को नीर जो अदभुत बेसरी बेसरी केसरी।
(लेखराज)

अदभुत बेसरी बेसरी केसरी = एरी! आश्चर्य-युक्त सूरत का बेसरी (अद्वितीय, बिना बराबरी का)। रूपक सांग है।

२—एकदेशविवर्ति रूपक—में कुछ अंगों का शब्दों द्वारा

कथन होता है, और कुछ का ग्रहण अर्थ-बल से करना पड़ता है। यथा—

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठि मुख चाड़;
फिरि न टरी परियै रही परी चिबुक के गाड़।

(बिहारी)

यहाँ दृष्टि यात्री है, जो बात कही नहीं गई है, किंतु अर्थ-बल से निकलती है। शेष बातें शब्द द्वारा कही गई हैं।

करे चाह सों चुटुकि कै खरे उड़ौहैं मन;
लाज नवाए तरफरत करत खुदी ये नैन।

(बिहारी)

यहाँ रूपक नैनों का तो घोड़े से बाँधा गया है, किंतु उसका कथन नहीं है, जो अर्थ-बल से आता है। इसी प्रकार लाज का रूपक लगाम से है, जो कही नहीं गई है।

नोट—ये सब भेद तद्रूप में भी दिखलाए जा सकते हैं।

(२) निरवयव रूपक—में संपूर्ण अंगों का रूपक नहीं बाँधा जाता, केवल एक अंग का वर्णन किया जाता है। एक रूपक हो, तो शुद्ध रहा, तथा कई उपमान एक ही उपमेय के होने से मालारूप कहलाता है।

इसके सामने सावयव में पूर्णता अधिक होती है।

१—शुद्ध निरवयव रूपक—

हरि मुख पंकज, भ्रुव धनुष, खंजन लोचन मित्त,
बिंब अधर, कुंडल मकर, बसे रहत मो चित्त।

(दास)

यहाँ एक-ही-एक रूपक में अंगों का कथन नहीं है, न एक ही उपमेय के कई उपमान हैं, वरन् दोहे में पाँच पृथक् शुद्ध निरवयव रूपक हैं।

प्रबल प्रताप द्वीप सातहू तपत जाको,
तीनि लोक तिमिर के दलन दलत है;
देखत अनूप 'सेनापति' राम - रूप - रवि
सबै अभिलाष उर अंतर फलत है।
ताही उर धारौ, दुरजन को बिसारौ नीच,
थोरो, धन पाय महा तुच्छ उछलत है;
सब बिधि पूरो, सुरबर सभा रूरो यह
दिनकर सूरो उतराइ ना चलत है।
(सेनापति)

उपर्युक्त छंद राम और सूर्य, दोनो पर लागू है।

तिमिर = अज्ञान, अंधकार। राम = रामचंद्र, अभिराम। दुरजन = बुरा मनुष्य, दु (बुरी) रजन (रात)। धन = रुपया-पैसा, धन राशि का सूर्य। दिनकर सूरो = दिन करनेवाला सूर्य, सूर्य-वंश का बहादुर।

२—मालारूप निरवयव रूपक—

दरप सिरी कंदरप की घन की सहज मसाल;
भागनि की अधिदेवता कौन धन्य ही बाल।
(चिंतामणि)

यहाँ एक उपमेय के तीन उपमान लाए गए हैं, जिससे मालारूप निरवयव रूपक है, क्योंकि अंगों का विस्तार नहीं है।

कंदर्प=कामदेव। घन की मसाल=बिजली।

(३) परंपरित रूपक—में एक आरोप के सिद्ध करने को कारण रूप दूसरा आरोप भी आता है।

(१) श्लेष से काम निकालने में श्लिष्ट शब्द रूपक है, तथा (२) अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भिन्न शब्द रूपक आता है। इन दोनो में दो-दो भेद शुद्ध और मालारूप के होते हैं।

१—शुद्ध श्लिष्ट परंपरित रूपक—

सुंदर नंदन-नंद को रूप जितो जनु काम ;
गोपी फूली हेम तन बेलि रसिक अलि स्याम ।

(चिंतामणि)

भगवान् का रूप ऐसा सुंदर है, मानो उन्होंने कामदेव को जीता है। यहाँ तक रूपक का संबंध नहीं है। गोपी सोने की रस-युक्त बेलि फूली है, अर्थात् यह सोना सूखा नहीं है। उधर श्याम इस फूली बेलि के लिये रसीले भ्रमर हैं। रसिक शब्द श्लिष्ट है, जो एक स्थान पर रस-युक्त का अर्थ देता है, और दूसरी ओर रस लेनेवाले का।

उदाहरण शुद्ध परंपरित का है, मालारूप का नहीं। एक माला रूप का उदाहरण ऊपर निरवयव में आ चुका है, उसी प्रकार यहाँ भी समझ लीजिए। उदाहरण में गोपी के फूली बेलि होने के कारण भगवान् भ्रमर कहे गए हैं।

२—अश्लिष्ट (भिन्न शब्द) मालारूप परंपरित रूपक—

दारिद दुरद मरदन काज अंकुस है,
अरि-कुल-तिमिर बिनासन को भान है ;
खल-गिरि ढाहन को भादौं की नदी है, पुर
दुनी को गरब रोग-हरन निदान है।
कीरति - सुरसरी को जनक सुमेरु, फौज
मोह के बिदारन को हरि-पद-ध्यान है ;
कूरम कलस जयसिंहजू के नंद महा-
राज रामसिंह कर राजत कृपान है।

(कुलपति मिश्र)

यहाँ रामसिंह के खड्ग के लिये कई रूपक बाँधे गए हैं, और प्रत्येक

रूपक पहले के कारण रूप से आया है। जब दरिद्र हाथी है, तब तलवार अंकुश बनी। शत्रु-वंश के अंधकार होने से वह सूर्य है। इसी प्रकार के और भी सब रूपक हैं, जिनसे परंपरित रूपक मालारूप में प्राप्त है। यहां अश्लिष्ट परंपरित में मालारूप है, और श्लिष्ट में शुद्ध रूप।

सावयव रूपक तथा परंपरित में भेद—सावयव रूपक में एक रूपक प्रधान होता है, तथा अन्य उसके समर्थक-मात्र, किंतु वह विना उनकी सहायता के भी प्रसिद्ध होने से सिद्ध रहता है। इधर परंपरित में दूसरा रूपक पहले के कारण रूप से आता और विना उसके सिद्ध नहीं होता। यही कुलपतिवाला उदाहरण इसका प्रमाण है।

नोट—अधिकतर हिंदीवाले आचार्यों ने रूपक के अभेद तद्रूप अधिक सम न्यूनवाले छ ही रूप कहे हैं। वे ही वास्तविक भेद हैं भी, और जो सांग, निरंग और परंपरित के नए भेद-भेदांतर दिखलाए गए हैं, उनमें भी अभेद या तद्रूप होते हैं। ये नवीन भेद केवल दूसरे प्रकार के उदाहरण-मात्र हैं, और मुख्य भेद नहीं समझे जा सकते।

सांग, निरंग और परंपरित उपमा—इन्हीं परंपरित आदि में यदि उपमा वाचक शब्द बढ़ा दिए जायँ, तो इन्हीं नामों की उपमाएँ हो सकती हैं।

परिणाम (६)

परिणाम—उपमान की पात्रता न रखने के कारण वह उपमेय के रूपवाला होकर क्रिया करता है। यथा—

> कर-कंजनि खंजन-दगनि सखिमुखि अंजन देति ;
> बिज्जु-हास ते 'दास'जू मन-बिहंग गहि लेति।
>
> (दास कवि)

यहाँ उपमान कमल क्रिया नहीं करता, किंतु उपमेय हाथ से मिलकर करता है।

पहले पद में क्रिया (देति) है, परंतु अंजन देने की क्रिया कमल नहीं कर सकते, अतः यहाँ भी परिणाम है। अलंकार के लिये खंजन अनावश्यक है। वैसे ही विन्दु उपमान काम नहीं करती, किंतु उपमेय हास से मिलकर मन पकड़ती है। विहंग का विचार मन के साथ परिणाम के लिये अनावश्यक है।

तो चख-कंजन-कोर दौरि-दौरि अंजन - भरी—
पिय-चितवनि बरजोर हरे लेत, हारैं न ये।
(गोकुलनाथ)

कमल में दौड़ने की शक्ति नहीं है, किंतु उपमेय नेत्र से उसे वह मिलती है। प्रियतम की दृष्टि को ये नेत्र हरे लेते हैं।

देखि लिए तिनरे अपमारग, जानि लिए उर अंतर के छल ;
काह करैगो मेरो द्विजराज, कहौ किमि जीति सकै अबला-दल।
रे रतिराज, कहा डरपावत, आवत नेक न लाज अरे खल,
तोहि 'बिसाल' न माल गनै कछु संकर के पद-पंकज के बल।
(विशाल)

यहाँ पंकज काम नहीं करते, वरन् पद करते हैं।

परिणाम का रूपक से पृथक्ता—रूपक में उपमेय उपमान का रूप धारण करता है, किंतु परिणाम में उपमान उपमेय से मिलता है, सो मानो उसका रूप धारण करता है, जिससे प्रधानता उपमेय-वाली क्रिया की हो जाती है। यथा—

है यह नायक दच्छिन छैल, पै तैं अनुकूल कर्‌यो चितचोर है ;
हे अभिमानिय आपने रूप को, दीन ह्वै तो सों रह्यो निसि-भोर है।
है रँग रावरो गौर रँग्यो, पुनि तेरहि प्रेम-पग्यो झकझोर है ;
है घनस्याम, पै तेरो पपीहरा, है ब्रजचंद, पै तेरो चकोर है।

यहाँ परिणाम "है ब्रजचंद, पै तेरो चकोर है" में समझ लीजिए। चकोर एकटक देखने का काम करता है, किंतु शब्द क्रियात्मक नहीं है। फिर भी अलंकार माना गया है।

रूपक और परिणाम में मतभेद—रूपक और परिणाम में भेद यह है कि पहले में क्रिया उपमान की होती है, तथा दूसरे में उपमेय की। भूषण का निम्न-लिखित छंद सर्वस्वकार के मत पर चलकर उपर्युक्त मत के प्रतिकूल है। यथा—

भौंसिला भूप बली भुव को भरु भारी भुजंगम-सों भुज लीनो ;
'भूषन' तीखन तेज तरन्नि-सों बैरिन को कियो पानिप हीनो।
दारिद दौ करि बारिद-सों दलि त्यों धरनीतल सीतल कीनो ;
साहितनै कुल चंद सिवा जस चंद सों चंद कियो छबि छीनो।

(भूषण)

यहाँ भूषण के उपमान भुजंगम, तरणि और वारिद काम करते हैं, उपमेय भुज, तेज और करि नहीं। इससे अधिकतर आचार्यों के मतानुसार यहाँ रूपक है, परिणाम नहीं। परिणाम में कार्य उपमेय का होना आवश्यक होने से सर्वस्वकार तथा भूषण और मतिराम के मत ठीक नहीं समझ पड़ते। मतिराम कहते हैं—

हाथिन बिदारिबे को हाथ हैं हथ्यार तेरे,
दारिद बिदारिबे को हाथी यै हथ्यार हैं।

(मतिराम)

यहाँ पहले उदाहरण में हाथ उपमेय हैं, और हथ्यार उपमान, तथा काम उपमान करता है। दूसरे उदाहरण में हाथी उपमेय है तथा हथ्यार उपमान, किंतु काम उपमेय करता है। अतएव आप दोनो ओर झुकते हैं। इनका लक्षण भी इसी प्रकार दुरुखा है।

सर्वस्वकार का मत है कि रंजन-मात्र से रूपक और कार्य होने से परिणाम होना चाहिए। यह भेद पक्का नहीं समझ पड़ता, क्योंकि

जब उपमेय उपमान का रूप ही रूपक में ग्रहण करता है, तब बिना उसी का-सा काम भी हुए रूप-ग्रहण अधूरा ही रहेगा। इससे रूपक में रंजन-मात्र रखकर कार्य की अव्याप्ति अधूरापन लाएगी।

मम्मट रूपक ही कहते हैं, परिणाम नहीं। उनके टीकाकार का मत है कि परिणाम भी रूपक ही के अन्तर्गत मान लेना चाहिए। यथा—

मुख-ससि होत प्रसन्न—परिणाम।

मुख-ससि हरत अँध्यार—रूपक।

यहाँ यदि वैज्ञानिक अर्थ (शब्दबोध) लगाया जाय, तो पहले उदाहरण से शशि अलग कर देना पड़ेगा, तथा दूसरे से मुख। अतएव ये दोनो अलंकार मिल नहीं जाते, सो एक ही नहीं हैं। इसलिये परिणाम का अलग अलंकार होना ठीक समझ पड़ता है।

उल्लेख (७)

उल्लेख—के दो भेद हैं। पहले में गुण के कारण एक का अनेक वास्तविक रूपों में कथन या विचार करते हैं। दूसरे में एक ही व्यक्ति किसी को अनेक वास्तविक रूपों में समझे या कहे।

प्रथम उल्लेख—

कवि कहैं करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माहिं कीन्हों इमि छेव है;
कहत धरेस सब धराधर सेस, ऐसो
और धराधरन को मेट्यो अहमेव है।
'भूषन' भनत महाराज सिवराज, तेरो
राज-काज देखि कोऊ पावन न भेव है;
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुब कहै,
बहरी निजाम को जितैया कहै देव है।

(भूषण)

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ;
गुरुजन जानत लाज है, प्रियतम जानत प्रीति ।
(मतिराम)

कोऊ कहै नाग-सो लखात करवाल बर,
म्यान सों जबहिं रन माहिं निकसत है ;
कोऊ कहै सूर के समान है खरग, जाहि
देखि सूर-मुख ज्यों कमल बिकसत है ।
कोऊ कहै सोहै जमदंड के समान यह,
करषत रहै सदा प्रानिन के प्रान को ;
भाषत अपर असि चंचला अपर, जाहि
लखे मुँदि जात चख कादर के मान को ।
(मिश्रबंधु)

इन तीनो उदाहरणों में अनेक पुरुष एक ही को अनेक भाँति सोचते या कहते हैं, जिससे सबमें प्रथम उल्लेख है ।

द्वितीय उल्लेख—

पैज प्रतिपाल, भूमि-भार को हमाल, चहूँ
चक्क को अमाल भयो दंडक जहान को ;
साहिन को साल भयो, ज्वाल को जवाल भयो,
हर को कृपाल भयो, हार के बिधान को ।
बीर रस ख्याल सिवराज भुवपाल तुव
हाथ को बिसाल भयो 'भूषन' बखान को ;
तेरो करवाल भयो दक्खिन को ढाल, भयो
हिंद को दिवाल, भयो काल तुरकान को ।
(भूषण)

सखिन को सुख सुने सौतिन को महादुख,
होत गुरुजनन को गुन को गरूर है ;

'देव' कहै लाख-लाख भाँति अभिलाख पूरि,
पी के उर उमगत प्रेम-रस पूर है।
तेरो कल बोल कलभाषिनि ! ज्यों स्वाति-बुंद,
जहाँ जाइ परै, तहाँ तैसोई सरूर है;
ब्याल-मुख बिष ज्यों, पियूष ज्यों पपीहा-मुख,
सीपी-मुख मोती, कदली-मुख कपूर है।
(देव)

बिघन बिनासन हैं, आछे आखु-आसन हैं,
सेए पाकसासन हैं सुमति करन को ;
आपदा के हरन हैं, संपदा के करन हैं,
सदा के धरन हैं सरन असरन को।
कंज-कुल को है, नव पंकज न जोहै सरि,
'सुखदेव' सोहैं धरे अरुन बरन को ;
बुद्धि के बिधायक, सकल सुखदायक,
सु सेवो कबिनायक बिनायक-चरन को।
(सुखदेव)

आखु=चूहा, जो गणेश की सवारी है। पाकसासन=इंद्र।

जनक है ज्ञान को, बखान को युधिष्ठिर है,
दान को दधीचि, कलि काम-तरवर है ;
पृथु प्रजा-पालन को, काल अरि-जालन को,
सुकबि - मरालन को मान - सरवर है।
दौलति कुबेर 'बेनी' मेरु मरजाद को है,
मुकुट महीपन को जाहि हरवर है ;
राजन को राजा महाराजा श्रीटिकैतराय,
जाहिर जहान में गरीब - परवर है।
(बेनी कवि)

खल खंडन, मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड ;
दल दंडन दारुन समर हिंदुराज भुज-दंड ।
(करन कवि)

बुद्धि के प्रकासक, अबुद्धि के बिनासक,
मदन-मद-नासक, अनंद के करन हैं ;
जन-मन-रंजन, गरब गुरु गंजन,
भरम-भव-भंजन, भगत के भरन हैं ।
भनत 'बिसाल' कबि कुल के कलपतरु,
पालक परम दुख-दारिद-दरन हैं ;
तारन-तरन, असरन के सरन सिव
संकर-चरन मेरे मन के हरन हैं ।
(विशाल)

यहाँ वक्ता केवल एक है तथा वर्णन अनेक ।

मालारूपक, भ्रांतिमान् तथा उल्लेख का विषय-विभाजन— साहित्य-दर्पण के अनुसार मालारूपक में गृहीता या वक्ता एक ही होता है, किंतु प्रथम उल्लेख में अनेक । भ्रांतिमान् में कथित वस्तु उस रूप में वास्तविक नहीं होती, जिसमें वह कही जाती है, किंतु उल्लेख में वास्तविकता है ।

स्मृतिमान् (८)

स्मृतिमान्—सादृश्य के कारण किसी वस्तु के याद आने को स्मृतिमान् कहते हैं । यथा—

चंद सुधा सदन बिलोके तेरे बदन के
सुधि आई ता समै मदन साजी दौर है ।
(दूलह)

पन्नग मीन कपोत चकाचकी बाल मरालन केते गहे हैं;
बिद्रुम औ' मुकता पुखराज बिसाहिबे को अति नेह नहे हैं।
देख्यो तुम्हें जब सों, तब सों उनके ढँग ये 'रघुनाथ' लहे हैं;
रोज तमासे को जात तितै, जितै ओज सों फूलि सरोज रहे हैं।

(रघुनाथ)

'केसव' एक समै हरि-राधिका आसन एक लसैं रँग-भीने;
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन मैं द्दग दीने।
भाल के लाल में बाल बिलोकत ही भरि लालन लोचन लीने;
सासन पीय सबासन सीय हुतासन में मनौ आसन कीने।

(केशव)

यहाँ करुण-रस सब अंगों से पुष्ट होने से पूर्ण है, तथा स्मृति उसी का संचारी भाव है, और यही अलंकार भी है, जो सादृश्य से सिद्ध होता है।

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल - मंद समीर;
मनु ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।

(बिहारी)

यहाँ वियोगावस्था में भी संयोग का स्मरण सघन कुंज, सुखद छाया, शीतल-मंद समीर के सादृश्य के कारण आया है, जो बातें संयोग की दशा में थी।

कुंद मयंक, सरोज बिलोचन, किंसुक तीसरो लोचन लाल है;
आरसी-फूल हलाहल के सम, कंज सनाल त्यों सूल कराल है।
पीरे प्रसून बघंबर बेस, पराग की पुंज बिभूति बिसाल है;
ऐसो बसंत को बानक देखि हिये बिच आवत संकर ख्याल है।

(विशाल)

किंसुक=पलाश-पुष्प। आरसी=अलसी का फूल।

वैधर्म्य से स्मृतिमान—राघवानंद महापात्र सादृश्य के अतिरिक्त वैधर्म्य से भी स्मृति अलंकार मानते हैं। यथा—

"जब-जब शिरीष पुष्पवत् कोमला सीता को पर्वतों में चलने से कष्ट होता है, तब-तब राम को उनके राजसदनवाले सुखों का स्मरण आता है।"

समझ ऐसा पड़ता है कि यहाँ स्मृति रस का अवयव (अंग)-मात्र है, न कि अलंकार भी। आचार्यों ने स्मृति में सादृश्य आवश्यक माना है। दर्शन-शास्त्र में स्मरण कई सादृश्य से इतर कारणों से भी कहा गया अथच ठीक भी है, किंतु आचार्यों ने अलंकार का चमत्कार केवल सादृश्यवाले कथन में माना है।

भ्रांतिमान् (६)

भ्रांतिमान्—सादृश्योद्भव कवि-कल्पित भ्रम के अनाहार्य- (बनावटी नहीं, असली) वत् वर्णन में भ्रांति अलंकार है।

नोट—आचार्यों ने असली भ्रम में अलंकार नहीं माना है, जो केवल कवि-कल्पित भ्रम में समझा गया है। यदि सीप में चाँदी का और रात में ठूँठ से मनुष्य का भ्रम हो, तो भाषा-संबंधी चमत्कार न होने से आचार्य अलंकार नहीं मानते। किंतु—

आभा तरिवन लाल की परी कपोलनि आनि ;
कहा छिपावति चतुर तिय, कंत-दंत-छत जानि।
(मतिराम)

में माना है, क्योंकि यहाँ भ्रम वास्तविक न होकर कवि-कल्पित है। नीचेवाले दोनो दोहों में भी यही बात है। पहले में भ्रम का निवारण हो गया है, किंतु नीचेवालों में नहीं हुआ है।

पायँ महावर दैन को नायनि बैठी आय ;
फिरि-फिरि जानि महावरी एँड़ी मीड़ति जाय।
(बिहारी)

कौंहर-सी एँड़ीन की लाली लखै सुभाय;
पायँ महावर देन को आय भई बेपाय।

(बिहारी)

नवल नवाब खानखानाजू तिहारी त्रास
भागे देसपति धुनि सुनत निसान की;
'गंग' कहै तिनहूँ की रानी रजधानी तजि
बन बिललानीं, सुधि भूलीं खान-पान की।
तेई मिलीं करिन, हरिन, मृग, बानरन,
तिनहूँ सों तहाँ भली भई रच्छा प्रान की;
सची जानीं करिन, भवानी जानीं केहरिन,
मृगन कलानिधि, कपिन जानी जानकी।

(गंग)

महाकवि गंग के इस छंद में भी कवि-कल्पित भ्रम है। नीचे का छंद देखने को तो अपह्नुति का भी रूप लिए हुए है, किंतु है वास्तव में भ्रांतिमान् ही, क्योंकि यह भ्रांतापह्नुति के लक्षण में नहीं आता। यथा—

नाग नहीं, बर बेनी बिराजति, चंद नहीं, सिर - फूल रसाल है;
गंग नहीं, मुकुतान की माल, हलाहल नाहिं, मृगम्मद ख्याल है।
है न बघंबर, सारी अनूप, बिभूति नहीं, अँगराग बिसाल है;
हे रतिनाथ, सतावै कहा, बिधु-भाल नहीं, यह सुंदर बाल है।

(बिशाल)

घोर घटा जटाजूट बिराजत, बारि बिसाल सु देव-नदी-सम;
चंचला चारु छपाकर की छटा, स्यामलता बिष सों न कछू कम।
त्यों धुरवा-सी बिभूति लसै, धुरवान की धार सो ब्याल अनूपम;
यों ऋतु पावस को लखि रूप भयो सबको सिव संकर को भ्रम।

(बिशाल)

इस छंद में भ्रांतिमान् अलंकार है।

संदेहवान् (१०)

संदेहवान्—में सादृश्योद्भव संशय होता है।

भ्रांतिमान् में निश्चय होता है, किंतु इसमें संशय बना रहता है।

यथा—

कै यह फूल्यो पलासन को बन, कै बर होलिका को रँग राजत ;
कै जल-सागर को बड़वानल, कै रबि प्रात समै छवि छाजत।
कै रन मैं करवाल 'बिसाल' किधौं चकचौंधत चंचला भ्राजत ;
कै बजरंग बली बिकराल, किधौं सिव को चख लाल बिराजत

(विशाल)

बारन उबारन के हेत कैधौं आतुर ह्वै
निकस्यो तरंगिनी के तीर के अचल सों ;
कैधौं बन-बागन सों, तट के तड़ागन सों,
पुहुप परागन सों, कैधौं नव थल सों।
कैधौं कढ़ो सरस पुनीत पद्माकर सों,
अनिल सों, कैधौं कल कमल के दल सों ;
प्रगटो भुसुंड सों कि दंत ही के खंड सों
कि गरज प्रचंड सों कि नैन ही के जल सों।

(उमेश)

इसमें देखने को तो संदेहवान्-सा लगता है, किंतु है नहीं, वरन् यह वितर्क संचारी का उदाहरण है। इसमें सादृश्य का अभाव है।

मुख सरद-चंद पर श्रम-सीकर जगमगैं नखतगन जोती-से ;
कै दल गुलाब पर शबनम के हैं कनके रूप उदोती-से।
हीरे की कनियाँ मंद लगैं, हैं सुधा किरन के गोती-से ;
आया कै मदन आरती को धर कनक-थार पर मोती-से।

(भूषण के वंशधर शीतल कवि)

बानी को बसन कैधों बात के बिलास डोलै,
कैधों मुख - चंद्र चारु चंद्रिका - प्रकास है ;
कबि 'मतिराम' कैधों काम को सुजस, कै
पराग-पुंज प्रफुलित सुमन सुबास है।
नाक नथुनी के गज-मोतिन की आभा, कैधों
देहवंत प्रगटित हिय को हुलास है ;
सीरे करिबे को पिय नैन घनसार कैधों
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है।
(मतिराम)

लखे वहि टोल मैं नौल बधू मृदु हास मैं मेरो भयो मन डोल ;
कहौं कटि छीन को डोलनो डौल कि पीन नितंब उरोज की तोल ।
सराहौं अलौकिक बोल अमोल कि आनन-कोष को रंग तमोल ;
कपोल सराहौं कि नील निचोल किधौं बिबि लोचन लोल कपोल ।
(दास)

यहाँ पहले कई उदाहरण तो संदेहवान् में आते हैं, किंतु ऊपरवाला सादृश्योद्भव न होने से नहीं आता । कवि का प्रयोजन यह है कि सारे अंग परम श्रेष्ठ हैं, जिससे वह निश्चय नहीं कर पाता कि किसे सराहना के लिये चुने । उसे संदेह कोई नहीं है ।

संदेहवान् और द्वितीय समुच्चय का भेद—

आनि कै सलाबतखाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर पंजर करेजे जाय करकी ;
दिल्लीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को सुनी जो बात बरकी ।
कहै 'बनवारी' पातसाह के तखत पास
फरकि-फरकि लोथि लोथिन पै अरकी ;

बाढ़ि की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
कर की बड़ाई, कै बड़ाई जमधर की।
(बनवारी)

जमधर (तलवार), उसकी बाढ़ि (धार), चलाने की युक्ति तथा हाथ, इन चार वस्तुओं की बड़ाई हो सकती है। कवि कहता है, इन चारों में से मैं किसकी प्रशंसा करूँ ? प्रयोजन यह है कि सब हेतु पूर्णतया संपन्न हैं, सो इनमें से कार्य किस हेतु द्वारा हुआ, सो संदिग्ध है। यहाँ संदेहवान् अलंकार न होकर (नं० ५४) द्वितीय समुच्चय है, जिसका वर्णन आगे होगा। दासजीवाला छंद भावभेद में जायगा।

अपह्नुति (११)

अपह्नुति का सम्मिलित लक्षण—वर्ण्य या अवर्ण्य का नकार लाकर या हेतु देकर पर्यस्त, भ्रांत, छेक या कैतव द्वारा निषेध लाने अथच उस (निषेध) का हेतु सोचने में जहाँ चमत्कार हो, वहाँ अपह्नुति अलंकार माना जाता है।

इसके छ भेद हैं—शुद्ध, हेतु, पर्यस्त, भ्रांत, छेक और कैतव अपह्नुति।

(१) शुद्धापह्नुति—में नकार भाववाले शब्द लाकर किसी का निषेध करके उसे दूसरा ठहराया जाता है। यथा—

पारावार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग,
मोरि चारु अंग मन मानै न निहारिकै ;
छिन-छिन सागर मैं उठैं ज्यों मतंग-सम
प्रबल तरंग कवि बरनै बिचारिकै।
जरत - बरत बड़वानल सों बारिनिधि,
बीचिन के सोर सों जनावत पुकारिकै ;

उग्यत बिरंचि ताहि प्यावत पियूष निज
कलानिधि - मंडल - कमंडल ते ढारिकै।
(मतिराम)

कवि का प्रयोजन यह है कि गंगाजी प्रिया बनकर समुद्र में नहीं मिली हैं, वरन् सिंधु को बड़वानल से जलते अथच तरंगों द्वारा पुकारते देखकर ब्रह्मा चंद्रमा-रूपी कमंडल से गंगा-रूपी अमृत ढालकर समुद्र को पिलाते हैं। "मन का न मानना" नकारवाचक शब्द हैं, जो असली मामले का निरोध करते हैं।

जिन मुच्छन धरि हाथ कछू जग सुजस न लीनो;
जिन मुच्छन धरि हाथ कछू पर-काज न कीनो।
जिन मुच्छन धरि हाथ दीन लखि दया न आनी:
जिन मुच्छन धरि हाथ कबौं पर-पीर न जानी।
अब मुच्छ नहीं, ते पुच्छ हैं, कबि 'भरमी' उर आनिए;
चित दया दान सनमान बिन मुच्छ न नर-मुख जानिए।
(भरमी कवि)

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगैं भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरख समाज को;
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल मेघ,
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी रिपु-रानी कहैं,
पिय भजौ देखि उद्यौ पावस के साज को;
घन की घटा न गज घटन सनाह साजे,
'भूषन' भनत आयो सेन सिवराज को।
(भूषण)

यह नहिं जावक है सखी, पिय-अनुराग-प्रमान;
हठि लाग्यो तव पगन मैं, मेटत मान अमान।
(वैरीशाल)

अनुराग (प्रेम) का भी रंग लाल माना गया है, जिससे जावक को नकार देकर वह अनुराग कहा गया है। सब उदाहरणों में शुद्धापह्नुति स्पष्ट है।

(२) हेत्वपह्नुति—में कारण कथित होकर गुरु के निषेध-मूलक अन्य का कथन होता है। यथा—

ससि तौ न होइ है गरम, रबि है न राति,
जानियत निकस्यो ज्वलन जलनिधि सों।
(रघुनाथ)

यहाँ कवि उष्णता के कारण चंद्र का तथा रात्रि के कारण सूर्य का निषेध करके चंद्र को समुद्र की ज्वाला बतलाता है। चंद्र में गरमी वियोग-वाले कथन के कारण कही गई है।

यह नहिं बदन प्रिया को, मनुजन में न पियूष, मनु भूल्यो ;
ससि न मही को बासी, अमृतलता को सुमन फूल्यो।
(बैरीशाल)

कवि नायिका के मुख का वर्णन करता हुआ कहता है कि इसमें अमृत होने से यह मुख नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यों में अमृत नहीं होता। यह चंद्र भी नहीं है, क्योंकि वह पृथ्वी पर नहीं बसता। इन कारणों से यह अमृतलता का फूल फूला है।

तिय मैं इतौ न रूप तन, थिर न चंचला-जोति ;
मंदिर मैं मनिमाल यह जगमग-जगमग होति।
(सोमनाथ)

नायिका के विषय में कवि कहता है कि स्त्री में इतना रूप असंभव होने अथच बिजली अस्थिर होने से यह स्त्री या बिजली नहीं है, अतएव भवन में जगमगाती हुई मणि की माला है।

अति तीच्छन नहिं चाँदनी, तीच्छन धूप न होय ;
बड़वानल की लपट यह, कहौ सहै किमि कोय ?
(ऋषिनाथ)

विरहिणी नायिका चाँदनी का कथन करती हुई उसे कारण देकर बड़वा-नल की लपट कहती है।

ये नहिं फूल गुलाब के, दाहत हियो अपार;
बिनु घनस्याम अराम में लागी दुसह दवार।
(पद्माकर)

विरहिणी नायिका गुलाब को कारण देकर दावाग्नि कहती है।

कोऊ हलाहल को जु कहै बिस, भोरैं कहैं मतिमूढ़ बृथा जन;
मेरे तौ जान रमा बिस है, लहरैं अति दौरतीं जाकी सदा मन।
ताको प्रमान प्रतच्छ प्रकासि कहैं कबि-कोबिद पेखि पुरानन;
खाइकै जागत संभु बिसै, हरि सोवत हैं परसे जु रमा-तन।

(३) पर्यस्तापह्नुति—में एक वस्तु से धर्म का निषेध होकर दूसरी में उसका आरोप होता है।

इसमें प्रायः वही-शब्द दो बार आता अवश्य है, किंतु यह बात लक्षण के लिये अनावश्यक है। यथा—

तुम करतार जग रच्छा के करनहार,
पूरन मनोरथ हौ सब चित चाहे के;
यहे जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो,
हूजिए सहाय मोहिं ताप-दाप-दाहे के।
जो कहौ बिचारि मम करम अनैसे, हम
गाहक न ह्वै सकत मुक्ति रस लाहे के;
आपने करम करि हौं हीं निबहौंगो, तौब
हौं हीं करतार, करतार तुम काहे के?
(सेनापति)

कवि कहता है, मैं जो यातनाओं के दर्प से दग्ध हूँ, उसकी मदद कीजिए। यदि कहिए कि बुरे कामों के कारण मैं भुक्ति (फल-भोग)-लाभ के योग्य नहीं हो सकता, तो मेरी गति मेरे ही कर्मों के अनुसार होने से

मैं ही करतार हुआ जाता हूँ। ऐसी दशा में भगवान् करतार कैसे हैं? यहाँ करतारपन का धर्म भगवान् के पास से निषेधित होकर दास में आरोपित किया गया है।

है न सुधाधर मैं, सुधा है तो अधर मैं,
सुकरमै सराहौ प्यारी रसना हमारी के।

(दूलह)

इसमें चंद्रमा से सुधा की स्थिति का निषेध होकर अधर में स्थापित हुआ है। सुधाधर और सुधा अधर के पद भी दो बार आए हैं।

पर्यस्तापह्नुति रूपक क्यों नहीं?—जगन्नाथ पंडितराज का विचार है कि यहाँ दृढ़ारोप रूपक-मात्र समझना चाहिए, पर्यस्तापह्नुति नहीं, क्योंकि किसी धर्म का कहीं दृढ़ता-पूर्वक आरोप करने को ही उसका दूसरे स्थान से निषेध किया जाता है।

रूपक में चमत्कार आरोप का होना है, तथा अपह्नुति में निषेध का। यथा, तुम यज्ञपाल राम हो—रूपक। यहाँ उपमेय "तुम" को उपमान "राम" के रूप में रंजित करने में चमत्कार है, तथा ऊपरवाले में उपमान चंद्र से सुधा के निषेध का कारण सोचने में चमत्कार है।

प्रयोजन यह है कि चांद्र सुधा मुखवाली के सामने ऐसी फीकी है कि न होने के समान है। अतएव आरोप में चमत्कार नहीं है, वरन् उसके लिये निषेध का भाव आवश्यक है। सो आरोप में चमत्कार की मुख्यता न होकर निषेध में है।

अरुन असित सित रँग रँगे तीच्छनता के ऐन;
मैन बान मोहन न जग, मोहन सोहन नैन।

(ऋषिनाथ)

कामदेव के नाराच जग मोहनेवाले न होकर नैन मोहित करनेवाले हैं।

है न चंद वह, चंद अलि राधा बदन बिचारि ;
हरि चकोर निसि-दौसहू जीवित जाहि निहारि ।

(वैरीशाल)

हिये लाल के चुभत ही वे सुधि किए निदान ;
मनमथ के सर बान नहिं, तिय-दृग तीच्छन बान ।

(सोमनाथ)

बादि बकै वृथा सागर मैं कोऊ, भूतल सोधि कहै अगरी है ;
इंदु मैं केते मुनिंद बदैं, सुरधाम मैं काहू कि बुद्धि अरी है ।
और तिलोक बिलोकि सबै, 'लेखराज' यौं चित्र बिचार करी है ;
है न सुधा बसुधा मैं कहूँ, लखि लीजिए गंग के बीच भरी है ।

(लेखराज)

अगरी = यहाँ यह प्रयोजन है कि पृथ्वी शोधकर कहते हैं कि यहाँ नहीं, कहीं आगे है। दूसरे स्थानों से अमृत का निषेध करके गंगाजी में उसका आरोप होने से पर्यस्तापह्नुति प्राप्त होती है। अन्य उदाहरण—

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं ;
जटा मैं न, मुंडन न, तिलक-त्रिपुंडन न,
नदी - कूप - कुंडन अन्हान दान - रीति मैं ।
पीठ मठ मंडल न, कुंडल - कमंडल न,
माला - दंड मैं न 'देव' देहरे की भीति मैं ;
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं ।

(देव)

भगवान् का वास यहाँ कई स्थानों से निषेधित होकर प्रतीति में स्थापित होने से पर्यस्तापह्नुति प्राप्त हुई ।

(४) भ्रांतापह्नुति—में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रांति के बहाने से किसी अन्य द्वारा वह कथन दूसरा ठहराए जाने पर सत्य वस्तु कहकर उसका स्पष्टीकरण होता है।

नोट—जानना चाहिए कि भ्रांतापह्नुति के विषय में यह हमारा स्वतंत्र मत-मात्र है। अन्य सब आचार्य भ्रम पड़ जाने में सत्य प्रकट करके किसी के शंका दूर करने-मात्र में यह अलंकार मानते हैं।

असली भ्रम श्रोता को भी नहीं होता, किंतु कारण-वश वह उसे प्रकट-भर करता है। यथा—

आली! नैन लागे आजु, भली भई नींद आई;
मेरे बनमाली सों दुराव तोसों का करै।
(दूलह)

यहाँ भ्रम यदि आहार्य (नक़ली) न मानकर अनाहार्य (असली) मानें, तो अलंकार बहुत कुछ भ्रांतिमान् से मिल जाता है। इसलिये भ्रम का आहार्य-मात्र होना आवश्यक है। दास निम्न-लिखित छंद में भ्रांतापह्नुति मानते हैं।

आनन है, अरबिंद न फूलो, अलीगण! भूले कहा मड़रात हौ?
कीर! तुम्हें कत बायु लगी, भ्रम बिंब कै ओंठन पै ललचात हौ।
'दास'जू ब्याली न बेनी रची, तुम पापी कलापी! कहा इतरात हौ?
बोलत बाल, न बाजती बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ।
(दास)

केवल भ्रम के निवारण में भ्रांतिमान् से पृथक् कोई चमत्कार नहीं देख पड़ता, किंतु यदि बनावटी भ्रम हो, तो पते की बात युक्ति-पूर्वक जानने या मूर्ख बनाने आदि का भाव व्यंजित होता है, जिससे इतर चमत्कार की वृद्धि से पृथक् अलंकारत्व मिल सकता है। इसीलिये दासजीवाला उदाहरण वास्तव में भ्रांतिमान् (नं० ६) से इतर अन्य अलंकार नहीं।

बरजोरी होरी सजै आँखिन गयो समाय ;
सखि ! गुलाल ? नहिं बनक बनि नंदलाल इत आय ।
(ऋषिनाथ)

यह उदाहरण दूलहवाले के समान है । सखी के गुलाल समझना जतलाने पर नायिका असली भेद प्रकट कर देती है । ऐसा ही भाव नीचे-वाले पद्य में भी है—

दृग-जल कँपत सरीर भयो पीत मुख, ज्वर कहा ?
एरी वहै अहीर कछू बोलि मति ह्वै गयो ।
(गोकुलनाथ)

(५) **छेकापह्नुति**—में अनिश्चित वर्णन में श्रोता जब असली बात ताड़ जाता है, तब वक्ता दूसरा अर्थ कहकर निषेध करता है । यथा—

अर्द्ध निसा में आवै भौन, सुंदरता बरनै कहि कौन ;
जाके आए होत अनंद, कहि सखि सज्जन ? नहिं सखि चंद ।

यहाँ नायक का वर्णन किया जा रहा था, वह चंद पर घटित कर दिया गया ।

स्यामल तन, पीरो बसन मिलो सघन बन भोर ;
देखो नंदकिसोर बलि ? ना अलि ! अलि चितचोर ।
(ऋषिनाथ)

इसमें श्रीकृष्णवाला अर्थ भ्रमर पर घटाया गया है । आगे आनेवाले उदाहरण में अर्थ भोर तथा शिवाजी पर बाँधा गया है ।

तिमिर - बंस - हर अरुन - कर आयो सजनी भोर ;
सिव सरजा ? चुप रहि सखी, सूरज-कुल-सिरमोर ।
(भूषण)

रही रुकी क्यों हूँ सु चलि आधिक राति पधारि ;
हरति ताप सब द्यौस कौ उर लगि यारि ? बयारि ।
(बिहारी)

नायक की अंतरंग मित्र से उक्ति—(आज) कहीं कार्य-वश रुक गई, इस कारण समय हो जाने पर भी न आ सकी। वह सारे दिवस का ताप हरण करनेवाली है। दूसरा मित्र कहता है, क्या नायिका? नायक उससे नहीं बतलाना चाहता, अतः कहता है, नहीं, मैं वायु का वर्णन करता हूँ।

सांँवरो सलोनो गात, पीतपट सोहत हैं,
अंबुज-से आनन पै परै छबि ढरकी;
मंत्र ऐसी, जंत्र ऐसी, तंत्र-सी तरकि परै,
हँसनि चलनि चितवनि त्यों सुघर की।
'गोकुल' कहत बन कुंजन को बासी लखे,
हाँसी-सी करतु है री काम कलाधर की;
इतने मैं बोली आनि मिले हरि सुखदानि?
नाहीं, मैं कहानी कही राम रघुबर की।
(गोकुलनाथ)

नोट—छेकापह्नुति का (नं० ८९) व्याजोक्ति से अंतर उसी में देखिए।

(६) **कैतवापह्नुति**—में छल, मिसि, व्याज आदि वाची शब्दों से निषेध होकर किसी अन्य का स्थापन होता है। यथा—

सुंदर-बदनि राधे! सुषमा-सदन तेरो
बदन बनायो चारिबदन बनायकै;
ताकी छबि लेन को उदित भयो रैनिपति,
मूढ़-मति रह्यौ निज कर बगरायकै।
कहै 'मतिराम' निसिचर चोर जानि ताहि
दीन्ही है सजाय कमलासन रिसायकै;
रातौ-दिन फिरै अमरालय के आस-पास,
मुख मैं कलंक मिसि कारिख लगायकै।
(मतिराम)

साहिन के भिच्छुक, सिपाहिन के पातसाह ,
संगर मैं सिंह - कैसे जिनके सुभाव हैं ;
'भूषन' भनत सिव सरजा कि धाक ते वै
काँपत रहत, चित गहत न चाव हैं ।
अफजल की अगति, सासता की अपगति ,
बहलोल विपति सों डरे उमराव हैं ;
पक्का मतो करिकै मलिच्छ मनसब छोड़ि
मक्का ही के मिस उतरत दरियाव हैं ।
(भूषण)

धरध्वस्त के धौरे धराधर को धधकी धरा पै धुनि धारती है ;
धुव धर्म को धीर दै धामनि-धामनि धोखेहु धोख न पारती है ।
धर धर्षित बिस्तु धकाधकी कै अघ - ओघन धूरि लौं भारती है ;
'लेखराज' के पाप धुवै मिस देवधुनी बर धार धुकारती है ।
(लेखराज)

इन तीनो मतिराम, भूषण और लेखराज के उदाहरणों में केवल मिस आदि वाची शब्दों से निषेध प्रकट हुआ है, अन्य प्रकार से साफ़-साफ़ नहीं, जैसा कि अन्य अपह्नुतियों में होता आया है । यही दशा नीचे के उदाहरण में भी है—

गाज के समान तब गरजि-गरजि तोप
अरिन के हिरदै हलावन के चोप सों ;
परम प्रचंड बल धारि दुसमन दिमि
पूरित कियो है नभ गोलन के ओप सों ।
उमड़ि भुवाल सिवराज को प्रताप-पुंज
बोरन चहत मनु बैरिन को जाल है ;
गोलन के तेज मिस छादित करत नभ ,
तासु लहरिन को समूह विकराल है ।
(मिश्रबंधु)

पहुँचते हुए उत्कट भाव से आहार्य (बनावटी) ज्ञान-पूर्वक देखना होता है।

मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश की टीका उद्योत में कहा गया है—"उत्कटा-प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षाज्ञानं उत्प्रेक्षा।" उत्कट प्रबल को कहते हैं, और ईक्षा देखने को। उपमान के रूप में प्रबलता से (निश्चय तक न पहुँचते हुए) देखने के ज्ञान को उत्प्रेक्षा कहते हैं।

उत्प्रेक्षा के मुख्य भेद तीन हैं, अर्थात् वस्तु या स्वरूप, हेतु और फल। वस्तूत्प्रेक्षा के उक्तविषया और अनुक्तविषया-नामक दो भेद हैं। इसी प्रकार हेतु और फल के सिद्ध और असिद्धविषया-नामक दो-दो भेदांतर हैं, जिससे उत्प्रेक्षा के छ भेद हो जाते हैं। तथा यही भेद गम्योत्प्रेक्षा में भी होने से १२ भेद हुए—
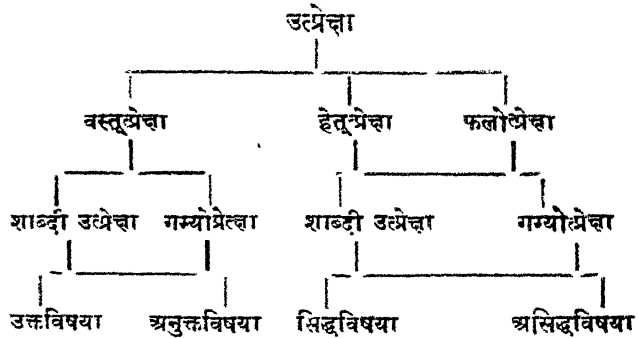
उत्प्रेक्षावाची शब्द—मानना, शंका करना, निश्चय करना, बहुधा, इव आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। इन वाचकों के कहीं कथित और कहीं अकथित (लुप्त) होने के कारण हरएक उत्प्रेक्षा में गम्योत्प्रेक्षा का भी भेद माना गया है।

(१) वस्तूत्प्रेक्षा (स्वरूपोत्प्रेक्षा)—में किसी वस्तु (स्वरूप) का अन्य (वस्तु) में उत्प्रेक्षा करना होता है।

१—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा—विषय उपमेय है। जहाँ उपमेय और उपमान, दोनो शब्दों द्वारा पृथक्-पृथक् कहे गए हों, वहाँ उक्तविषया होगी। यथा—

थोथि थुरकीली, ढुरकीली बिधु-कला भाल,
सरसीली भौंहनि समाधि सरसति है;
प्रानायाम साँसन, कलित कमलासन के
बिघन बिनासन की बासना बसति है।
सिंदुर भरो सुसुंड सोभित अनंत, गज-
बदन के रदन की दुति यों लसति है,
साँझ समै छीरनिधि नीर के निकट मानो
द्वैज के कलाधर की कला बिलसति है।
(जनगोपाल)

थोथि=कुछ बढ़ा हुआ मुलायम पेट। थुरकीली=थुलुर-थुलुर करती हुई।
यहाँ उपमान और उपमेय, दोनो कोटियों के कथित होने से उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

लखे रुंडन पै रुंड औ' बितुंड बिनु सुंड कटे,
बाजि रथ कवच अमित दरसात;
कहूँ भूषननि जटित भुजा हैं रनखेत परे,
अंग-भंग सुभट अनेकन लखात।
चढ़ीं भौंहैं ज्यों कमान, परे मुंड बेसुमार
सूर घायल अधर कहूँ दंतन चबात;
बही सोनित की धार भरी हाड़-मेद-मास,
मनो रौद्र पै बिभत्स को दखल भयो जात।
(मिश्रबंधु)

यहाँ ऊपर उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

बजत नूपुर मंद गति बस आँगुरिन यहि भाँति ,
मनहु तन धरि सुरुचि पग परि रूप बरनति जाति ।
जटित जेहरि तड़ित-सी जुग गुलुफ पै छबि देत ;
भानु अरु सितभानु को मनु करति मेल सहेत ।

(मिश्रबंधु)

पौन भरै बर बाँसन मैं तिनसों मुरली-सम तान सोहाई ;
पूरित होति दसौ दिसि मैं बन मैं अति ही स्रु ति आनँददाई ।
मानहु कुंजन मैं बनदेव भरे मुद मंजुल बीन बजाई ;
गावत कीरति भूपति की पय-फेन-सी जौन दिगंतन छाई ।

(मिश्रबंधु)

ऊपर उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा दोनों में है ।

हैवर हरट्ट साजि गैबर गरट्ट - सम
पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की ;
'भूषन' तहाँई राय चंपति को छत्रसाल
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिंदुवाने की ।
कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे ,
रंजक दगनि मानौ अगिनि रिसाने की ;
सैद अफगन सेन सगर सुतन लागी
कपिल सराप लौं तराप तोपखाने की ।

(भूषण)

सोहत नलिनी-पत्र पर उत बलाक यहि भाँति ,
मरकत-भाजन पै मनौ लसत संख सुभ काँति ।

(दास)

नलिनी=कमलिनी । बलाक=बगुला । मरकत=पन्ना ।

यहाँ उत्प्रेक्षा के विषय हैं नलिनी-पत्र और बलाक, तथा उनके रूपों को "मनो" पद के ज़ोर से मरकत-भाजन पर शंख कहकर वर्णन किया

गया है। उपमेय-कोटि में नलिनी और बलाक हैं तथा उपमान-कोटि में मर्कत और शंख। "मनो" शब्द के योग से उपमान-कोटि के रूप में देखने की प्रबलता (निश्चय तक न पहुँचते हुए) वक्ता प्रकट करता है। दोनो कोटियों के कथित होने से उक्तविषया है।

यों मुनि के कहतैहि अनंदित नंदिनि धेनु अनंदहि छाई ;
आहुति साधनिहारि मुनीस कि ताथर कानन सों चलि आई।
कोमल कोपल-सो तनु लाल, ललाटहि बंक लसै सित टीको ;
साँझ समै नभ-मंडल मैं मनु राजत है नव बिंब ससी को।

(मिश्रबंधु। कालिदास से अनुवाद)

फिर क्रम-ही-क्रम लाल-लाल रबि-बिंब लखानो,
ह्वै पूरन पुनि मनो थार सिंदूर सोहानो।
चल भ्रामक पै नहीं छिनक निज कर बगरायो,
लाल रूप धरि मनो चंद्रवर गात दिखायो।

(मिश्रबंधु)

इन दोनो छंदों में भी उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

२—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय उक्त न हो, वहाँ होती है। यथा—

जगमगे जोबन अनूप तेरो रूप चाहि,
रति ऐसी रंभा-सी, रमा-सी बिसराइए ;
देखिबे कों प्रानप्यारी पास प्रानप्यारो खरो,
घूँघट उघारि नैंकु बदन दिखाइए।
तेरे अंग-अंग मैं सिठाई औ' लुनाई भरी,
'मतिराम' कहत प्रगट यह पाइए ;
नायक के नैनन में नाइए सुधा-सी, सब
सौतिन के लोचननि लोन-सो लगाइए।

(मतिराम)

यहाँ नायक को सुख तथा सौतों को दुःख देने के भाव हैं। सुख और दुःख अकथित हैं, केवल उपमान अमृत नाना तथा लोन लगाना कहे गए हैं, जिससे अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। 'सी' और 'सो' हिंदी में उपमावाचक तथा उत्प्रेक्षावाचक माने गए हैं।

वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा (या प्रतीयमानोत्प्रेक्षा)—जहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द न हों, वहाँ गम्योत्प्रेक्षा होती है। यथा—

परमत मसि गृह ग्राम के सौध कहत सब लोग।

(चंदन)

यह चंद्रालोक द्वारा दिए गए संबंधातिशयोक्ति में अयोग्य को योग्य कल्पनावाले भेद का अनुवाद है।

वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा मान्य है या अमान्य ?—यहाँ उत्प्रेक्षा माननी चाहिए या संबंधातिशयोक्ति (नं० १३); इस विषय में पंडितराज तथा विश्वनाथ आदि में मतभेद है। इस विषय को लेकर रसगंगाधर के टीकाकार नागेश भट्ट के मत का सारांश दिया जाता है—

उदाहरण में अट्टालिकाएँ मानो चंद्रमंडल को छूती हैं, यह अर्थ हुआ। यदि यहाँ मानो शब्द उदाहरण में न हुआ, तो उनके मत से यहाँ वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा माननी चाहिए, न कि संबंधातिशयोक्ति। मानो आदि के अभाव में गम्योत्प्रेक्षा होती है, यह सर्वसम्मत है। अब यहाँ मानो के लोप में गम्योत्प्रेक्षा माननी चाहिए या संबंधातिशयोक्ति, इस वस्तु का मतभेद-मात्र रह जाता है।

पंडितराज तथा उनके टीकाकार का कहना है कि संबंधातिशयोक्ति उसी स्थान पर माननी चाहिए, जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री का अभाव हो। इस उदाहरण में उत्प्रेक्षावाचक शब्द के अभाव में उसकी सामग्री वर्तमान है ही, अतः उत्प्रेक्षा का माना जाना सिद्ध हुआ। संबंधातिशयोक्ति में उनका कहना है कि ऐसे उदाहरण देने चाहिए, जिनमें उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो। यथा—

"हे नीरद ! तुम्हारी धीर ध्वनि सुनकर मेरा मासिक गर्भ मेरे जठर में कूदता है।"

इस स्थान पर उत्प्रेक्षा की सामग्री का अभाव है। यह सिंहिनी का मेघ से वचन है।

जहाँ उपमान-कोटि की प्रबलता हो, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। "मुख है कि चंद्रमा" में उपमान और उपमेय-कोटियाँ, दोनो बराबर हैं, जिससे संदेहालंकार है। भ्रांतिमान् में उपमान-कोटि में निश्चय हो जाता है, जैसे—

तव मुख-चंद्र बिलोकि कै यह चकोर ललचान।

(ब्रह्मदत्त)

इस छंदांश में निश्चय होने से भ्रांतिमान् है। जहाँ उपमान-कोटि प्रबल तो हो, किंतु निश्चय तक न पहुँचे, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। उपर्युक्त उदाहरण में "मानो" जोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी जा सकती, क्योंकि विना इसे जोड़े भी अर्थ बन जाता है।

गम्योत्प्रेक्षा के सर्वभेद मान्य हैं अथवा अमान्य ?—

परसत ससि मनु सौध-गृह यहै कहत सब लोग।

यहाँ मनु शब्द के कारण उपमान-कोटि प्रबल हो जाने से उत्प्रेक्षा का माना जाना उचित ही है, परंतु इस दूसरे रूप—

परसत ससि गृह ग्राम के सौध कहत सब लोग।

वाले उदाहरण में यदि "मानो" को ऊह्य न मानें, जैसा अर्थ लगाने में आवश्यक भी नहीं, तो सौध का ससि तक निश्चय-पूर्वक पहुँच जाने के कारण उत्प्रेक्षा नहीं बनती। गम्योत्प्रेक्षा के हरएक रूप में यही कठिनाई पड़ेगी। अतः उत्प्रेक्षा का यह भेद (गम्योत्प्रेक्षा) मानना ही ठीक नहीं बैठता। फिर भी आचार्यों ने इसे माना अवश्य है। अतएव यद्यपि "मानो" न जोड़ने से अर्थ बन सकता है, फिर भी उनके मान-रक्षणार्थ इसे जोड़कर गम्योत्प्रेक्षा मान ली जाय, तो भी विशेष हानि नहीं।

(२) **हेतूत्प्रेक्षा**—में अहेतु को हेतु कहकर उत्प्रेक्षा की जाती है।

इसमें उपर्युक्तानुसार सिद्धविषया और असिद्धविषया के दो भेद हैं।

१—**सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा**—जिसमें हेतु ठीक अर्थात् संभव हो, वह है सिद्धविषया।

२—**असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा**—जहाँ असंभव हेतु का कथन केवल कवि-कल्पना से होता है, वहाँ असिद्धविषया कहलाती है।

१—सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा यथा—

प्रबल बुलंद बर बारन के दंतनि सों
बैरिन के बाँके-बाँके दुरग बिदारे हैं;
कहे 'मतिराम' दीन्हें दीरघ दुरद-बृंद,
मुदिर से मेदुर मुदित मतवारे हैं।
तेग त्याग राजत जगतराज भावसिंह,
मेरे जान तेरे गज याही ते पियारे हैं;
दुज्जन दलनि, कबि लोगनि के दारिदनि
नीके करि गजन की फौजनि सों मारे हैं।
(मतिराम)

मुदिर=मेघ। मेदुर=अतिशय स्निग्ध, बहुत चिकना।

मतिराम ने यहाँ हाथियों का प्यारा होना इस कारण लिखा है कि वे युद्ध में शत्रु-सेना (मारते हैं) तथा दान में दिए जाने से कवियों का दरिद्र मारते हैं। दोनो बातें संभव होने से सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

करत कोकनद मदहि रद तुव पद हद सुकुमार,
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार।
(वैरीशाल)

यहाँ सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है। दबने से पैर लाल हो ही जाते हैं।

इन्हीं उदाहरणों से 'मनो' आदि वाचक शब्दों को लुप्त कर देने से गम्योत्प्रेक्षा हो जायगी।

हेतुरूपा सिद्धविषया गम्योत्प्रेक्षा—

भए अरुन अति दबि दुसह पायजेब के भार।

यहाँ भी पायज़ेब से दबना हेतुरूप उपमान निश्चय तक पहुँच जाता है, अर्थात् इसमें पद के अरुण होने का कारण निश्चय रूप से पायज़ेब का भार ग्रहण होता है। इसी कारण हम व्यंग्योत्प्रेक्षा का भेद होना नहीं मानते।

२—वाच्या असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा यथा—

भीम बलसीम ये मतंग मतवारे फिरैं,
धावत मही पै, मनो भूधर उमंग मैं;
चूर करिबे को रिपु-गन को प्रबल दल
धवल बटोरन सुजस जुरि जंग मैं।
देस पै बिलोकि दिन मानो चहुँ कोदन सों
धाए गिरिबर आजु नूतन प्रसंग मैं;
राज मैं बसे हैं, तब क्यों न राजभगति कै
गरद गनीमन मिलावैं रन रंग मैं।

(मिश्रबंधु)

इस छंद में असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

सुरलोक को जात चली सब है जो बिमानन पातकी भीर लदी;
कोउ जाय निरै पद पावत ना धुनि पूरि रही यह चारो हदी।
लिपि चित्रगोपित्र की जेती लिखी, सो लखालखी मैं लखौ होति रदी;
'लेखराज' बदाबदी मानो करै जमराज ही की बदी बिस्नुपदी।

(लेखराज)

मानो विष्णुपदी (गंगाजी) शर्त लगाकर यमराज की बदी (बुराई)

करती हैं। गंगाजी मानो यम की बुराई करने ही के विचार से पापियों को तारती हैं। लेखराजजीवाले इस भाव के कारण हेतूत्प्रेक्षा हुई, किंतु कारण है असिद्ध, क्योंकि तारने का हेतु यह है नहीं। इसीलिये असिद्ध-विषया माननी चाहिए।

लूट्यो खानदौराँ जोरावर सफजंग अरु—
लह्यो कारतलबखाँ मनहु अमाल है;
'भूषन' भनत लूट्यो पूना में सइस्तखान,
गढ़न मैं लूट्यो त्यों गढ़ोइन को जाल है।
हेरि-हेरि कूटि सलहेरि बीच सरदार
घेरि-घेरि लूट्यो सब कटक कराल है;
'मानो हय-हाथी उमराय करि साथी अव-
रंग डरि सिवाजी पै भेजत रिसाल है।

(भूषण)

मुग़ल-दल भेजे जाने का प्रयोजन डरकर ख़िराज भेजना है नहीं, किंतु यही अहेतु सेना भेजे जाने का हेतु समझा जाने से असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा हुई।

कमल बीच करहाट की दुति कत लखियत नाहिं;
जीत्यो तुव कर मनु परे छाले छतियन माहिं।

(वैरीशाल)

कमल के बीच में जो पीत बोंड़ी (छत्ता, जिसमें आगे चलकर फल होते हैं) होती है, उसे करहाट कहते हैं। उसमें कमलगट्टे के स्थान छाले से दिखते हैं। कवि कहता है, तुम्हारे हाथों ने शोभा में कमल को जीत लिया है, जिससे मानो उसके हृदय में छाले पड़ गए हैं। कमल के विचार-शक्ति-हीन होने से पराजय के कारण छाले पड़ने का हेतु असंभव होने से असिद्धविषया है।

बिधु-सम तुव मुख लखि भई पहिचानन की संक ;
बिधि याही ते जनु कियो सखि मयंक मैं अंक।

(वैरीशाल)

इसमें भी वही बात है।

वृष को तरनि तेज सहसौ करनि करि
ज्वालनि को जाल बिकराल बरसत है ;
तचति धरनि जग झुरत झरनि सीरी,
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत
धमका बिषम, सो न पात खरकत है ;
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि कोनो
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।

(सेनापति)

गगन अगन घनाघन ते सघन तम,
'सेनापति' नेक हू न नैन मटकत हैं ;
दीप की दमक, जीगनीन की झमक छाँड़ि
चपला चमक और सों न अटकत हैं।
रबि गयो दबि मानो, ससि सोऊ धसि गयो,
तारे तोरि डारे सो न कहूँ फटकत हैं ;
मानो महा तिमिर तैं भूलि परी बाट, तातैं
रबि, ससि, तारे कहूँ भूले भटकत हैं।

(सेनापति)

अगन = अगणित। घनाघन = घने से घना।

'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै ;

सोभा सरसाने न बखाने जात केहू भाँति ,
आने हैं पहार मनों काजर के ढोय कै ।
घन सों गगन छयो, सघन तिमिर भयो ,
देखि न परत मानो रबि गयो खोय कै ;
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय कै ।
(सेनापति)

सीत को प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ़्यो दल,
निबल अनल गयो सूर सियरायकै ;
हिम को समीर तेई बरसैं बिषम तीर ,
रही है गरम भौन कोनन में जायकै ।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं ,
हिये सों लगाय रहैं नेकु सुलगायकै ;
मानो भीति जानि महा सीत ते पसारि पानि
छतिया की छाँह राख्यो पावक छिपायकै ।
(सेनापति)

इस छंद से भासता है कि सेनापति कभी कश्मीर गए थे, क्योंकि वहीं छाती के पास अँगेठी लटकाए रहने की चाल ग़रीबों में है ।

वाचक-रहित असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा—

कमल बीच करहाट की दुति कत लखियत नाहिं ;
जीत्यो तुव कर लखि परे छाले छतियन माहिं ।
(वैरीशाल)

यहाँ पराजय के कारण करहाट में छाले का होना मान लिया गया है । यद्यपि छाले के होने का कथित हेतु असिद्ध है, तथापि वह हेतु वक्ता द्वारा निश्चय रूप से मान लेने के कारण हेतुरूप उपमान पूर्ण दृढ़ रूप से

कथित हो गया, अतः वाचक हटा देने से यहाँ भी उत्प्रेक्षा नहीं रह जाती। ऐसा हमारा मत है।

(३) फलोत्प्रेक्षा—अफल के फलरूप में उत्प्रेक्षा करने से प्राप्त है।

इसमें भी सिद्ध और असिद्धविषया के भेदांतर हैं।

१—वाच्या सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा—

बारनि धूपि, अगारनि धूपि कै धूम अँध्यारी पसारी महा है;
आनन चंद-समान उग्यो, मृदु मंजु हँसी जनु जोन्ह-छटा है।
फैलि रही 'मतिराम' जहाँ, तहाँ दीपति दीपनि की परभा है;
लाल, तिहारे मिलाप को बालहिं मानो करी दिन ही मैं निसा है।

(मतिराम)

यहाँ रात करना सिद्ध होने से सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। 'मानो' हटा देने से गम्या फलोत्प्रेक्षा हो सकती है। यथा—

गम्या फलोत्प्रेक्षा—

लाल, तिहारे मिलाप को बालहिं आजु करी दिन ही मैं निसा है।

यहाँ भी दिन का मिलन-फल के लिये रात्रि कर देना निश्चय तक पहुँच जाने से, हमारे विचार से, उत्प्रेक्षा मानना ठीक नहीं बैठता।

२—असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा—

खंजरीट नहिं लखि परत कछु दिन साँची बात;
बाल-दृगन-सम होन को करन मनो तप जात।

(दास)

खंजन का तप करना असिद्ध है।

बारि मैं बूड़ि जपैं रबि को सरि पंकज पाँयन की गहिबे को;
बास उपास करैं बन मैं कटि की सरि सिंहिनि हू चहिबे को।

'गोकुल' श्रीफल संकर सेइ चहैं कुच की रुचि के नहिबे को ;
चंद अन्हात है छीरधि मैं, मनो तो मुख की समता लहिबे को ।
(गोकुल)

यहाँ फलाकांक्षी सब क्रियाएँ असंभव होने से असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। इसमें तीन गम्योत्प्रेक्षाएँ हैं, और अंतिम प्रकट।

नोट—उत्प्रेक्षा में हैं तो उपर्युक्त बारह भेद, किंतु मुख्य तीन ही मानने चाहिए, अर्थात् वस्तु, हेतु और फल। इतर भेदांतरों में कोई पृथक् चमत्कार नहीं है।

'सेनापति' ऊँचे दिनकर के चलत लूवैं
नदी-नद-कूलैं कोपि डारत सुखाय कै ;
चलत पवन, मुरझात उपबन - बन,
लाग्यो है तवन डारयो भूतलौ तचाय कै।
भीषम तपत, ऋतु ग्रीषम सकुच, तातैं
सीरक छिपी है तहखानन में जाय कै ;
मानो सीतकाल सीत लता के जमायबे को
राखे हैं बिरंचि बीज धरा में धराय कै।
(सेनापति)

तवन = ताव देना, गरम करना।

यहाँ असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। नीचेवाले छंद में भी यही उत्प्रेक्षा है, क्योंकि यद्यपि कोयले परचाए जा सकते हैं, तथापि कामदेव उन्हें नहीं परचाता।

लाल-लाल टेसू फूलि रहे हैं बिसाल, संग
स्याम रंग भेटि मानो मसि मैं लगाए हैं ;
तहाँ मधु काज आय बैठे मधुकर - पुंज,
मलय पवन बन - उपबन धाए हैं।
'सेनापति' माधव महीना में पलास तरु
देखि-देखि भाव कबिता के मन आए हैं ;

आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे, मनो
विरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।
(सेनापति)

काले रंग से मिले हुए लाल टेसू (पलाश-पुष्प) ऐसे फूले हैं, मानो उनमें स्याही लगी हुई है।

प्रतीयमाना असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा यथा—

खंजरीट नहिं लखि परत कछु दिन साँची बात ;
बाल-दृगन-सम होन को करत तपस्या तात।

खंजन का नेत्रों की समता पाने रूप फल के लिये तप करना असिद्ध होने पर भी यहाँ निश्चय रूप से मान लेने के कारण, हमारे विचार से, ऐसे स्थानों पर भी उत्प्रेक्षा का माना जाना पूर्णरूपेण उपयुक्त नहीं।

सी, से, इव का उपमा तथा उत्प्रेक्षावाचकत्व—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।

लीपत इव तम अंग अहै अरु बरखत इव नभ अंजन है।

घने अंधकार की उत्प्रेक्षा है। इस स्थान पर "इव" शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक है। कवि-कल्पित उपमान होने पर इव उत्प्रेक्षावाचक माना जाता है, तथा प्रकृति से प्राप्त उपमान में उपमावाचक।

"राम काम इव शोभित हैं" में इव उपमावाची है*। ऊपर के

---

* यत्र यत्राप्रकृततादात्म्यसम्भावनोपयुक्तविशेषणकल्पना तत्र सर्वत्राप्युत्प्रेक्षाऽवगन्तव्या। यत्र तु सम्भावनोपयुक्तविशेषणकल्पना-रहितमुपमानं निबध्यते तत्र परमिव शब्दः सादृश्यपर इत्युपमालंकारः। (अप्पय्य दीक्षित)

तात्पर्य यह कि जहाँ-जहाँ उपमान का संभावनोपयुक्त कल्पित विशेषण हो, वहाँ "इव" उत्प्रेक्षावाचक होता है, और जहाँ पर इस प्रकार का विशेषण-युक्त न हो, वहाँ उपमा होती है, तथा "इव" सादृश्यवाचक होगा।

उदाहरणों में न तो अँधेरा शरीर में लीपा जाता है न आसमान से अंजन की वर्षा होती है। अतएव ये कोरी कवि-कल्पनाएँ हैं।

उद्योत का मत—

तिङंत* क्रियावाची शब्द के साथ जब इव का प्रयोग हो, तब वह उत्प्रेक्षावाचक होता है। इव के समान सी और सो भी हिंदी में (कवि-कल्पित उपमान या तिङंतवाची शब्द के साथ हों, तो) उत्प्रेक्षावाचक माने गए हैं। यथा—

> नायक के नैननि मैं नाइए सुधा-सी, सब
>
> सौतनि के लोचननि लोन-सो लगाइए"

वाला उदाहरण जो वस्तूत्प्रेक्षा के नीचे दिया जा चुका है, वहाँ भी सुखार्थ सुधा नाय देना और दुःखार्थ आँख में लवण लगाना कवि-कल्पना मात्र हैं। इसीलिये "सी" शब्द उत्प्रेक्षावाची माना गया था।

इव आदि उत्प्रेक्षावाचक के विषय में इस ग्रंथ-कर्ताओं का मत—

उत्प्रेक्षा का स्वरूप (निश्चय तक न पहुँचते हुए) उपमान कोटि को उत्कटता से देखने में है, जो सी, इव और सो वाचकों के समता-

---

* तिङंत के संबंध में निम्न-लिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है—

तिप्, तस्, झि, सिप् थस्, थ, मिब्, बस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महि।

जिन क्रियाओं (धातुओं) के अंत में ऊपर के प्रत्ययों में से कोई जोड़ा जाता है, उन क्रियाओं को तिङंत कहते हैं। वे तीन प्रकार की होती हैं—परस्मैपदीय, आत्मनेपदीय तथा उभयपदीय। उपर्युक्त १८ प्रत्ययों में से पहले नौ परस्मैपदीय तथा दूसरे नौ आत्मनेपदीय हैं। उभयपदीय क्रियाओं में आत्मनेपदीय तथा परस्मैपदीय दोनो के प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

प्राधान्य के कारण कुछ कम समझी जा सकती है। फिर भी आचार्यों का मत यही होने के कारण संदेह न करना चाहिए। पतंजलि आदि भी ऐसे स्थानों पर इव को उत्प्रेक्षावाचक मानते हैं।

कहा जा सकता है कि कहीं के सौध शशि को नहीं छूते, अतः यहाँ वक्ता का उपमान कोटि का उत्कट तथा आहार्य ज्ञान और उसका निश्चय तक न पहुँचना उत्प्रेक्षावाचक पद न होने पर भी भासित हो जाता है। यह तर्कावली भी हमको हृदयग्राह्य नहीं जँचती, और सिद्धविषयावाले उदाहरणों में वह और भी शिथिल हो जाती है। दूसरे, इस तर्कावली से कुछ अलंकारों की स्थिति ही बहुत कुछ संशय में पड़ जायगी। प्राचीनों की आज्ञा का उल्लंघन न करने में औचित्यवाली तर्कावली ही हमें मान्य जँचती है।

अतिशयोक्ति (१३)

अतिशयोक्ति—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।

(दंडी)

जहाँ लोक-सीमा के विशेष रूप से उल्लंघन की जानेवाली कहने की इच्छा प्रकट हो, वहाँ अतिशयोक्ति होती है।

इसके ७ भेद हैं, जो लिखे जाते हैं—(१) रूपकातिशयोक्ति, (२) सापह्नवातिशयोक्ति, (३) भेदकातिशयोक्ति, (४) संबंधातिशयोक्ति, (५) अक्रमातिशयोक्ति, (६) चपलातिशयोक्ति तथा (७) अत्यंतातिशयोक्ति।

(१) रूपकातिशयोक्ति—में केवल उपमान द्वारा उपमेय का बोध कराते हुए लोक-सीमोल्लंघन होता है।

कुछ लोक-सीमोल्लंघन तो उपमा में भी होता ही है, जैसे "मुख चंद्र-सा है" में, किंतु इसकी विशेषता से अतिशयोक्ति होती है। मुख वास्तव में चंद्रमा के समान कब होता है? उदाहरण—

चारु चंद्र - मंडल मैं बिद्रुम बिराजैं, छद
मोतिन के छाजैं, ते छपाए छपते नहीं।
(दूलह)

प्रयोजन यह है कि चंद्र-मंडल (मुख) में मूँगे (ओंठ) शोभित हैं, जो (ओंठ) मोतियों (दाँतों) को ढकते हैं, किंतु तो भी मोतियों के टुकड़े (छद) छिपते नही। प्रयोजन मंद हास्य की स्थिति का भी है।

'भूषन' भनत देस-देस बैरि-नारिन मैं
होत अचरज घर-घर दुख-दंद के;
कनक-लतानि इंदु, इंदु माहिं अरबिंद,
झरैं अरबिंदन ते बुंद मकरंद के।
(भूषण)

स्वर्ण-बेलि (देह) में चंद्रमा (मुख) है, जिस चंद्रमा में कमल (नेत्र) हैं, जिनसे मकरंद (आँसू) के बूँद झरते हैं। नीचे के छंद में नेत्रों का कथन है—

सुख सार सिवार सरोबर ते ससि सीस बँधे बिधि के बल सों;
चकई-चकवा तजि गंग-तरंग अनंग के जाल परे छल सों।
कमलाकर ते कढ़ि कानन मैं कलहंस कलोलत हैं कल सों;
चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात सुमीनन काम कहा जल सों।
(देव)

नेत्र सरोवर के शैवाल से निकाले जाकर चंद्रमा (मुख) में बँधे। चकई-चकवा कामदेव के जाल में पड़े। हंस क्रीड़ा करते हैं। काम के मंदिर की दो फहराती हुई पताकाएँ हैं। बालों, उरोजों (वस्त्राच्छादित), चाल और नेत्रों का वर्णन है।

जुग जलजात, तापै उलटे कदलि-खंभ,
तापै मृगपति परिपूरन अनंद पै;

तापै बर कूप, तापै सरिता रुचिर, तापै
चक्रवाक बिकल निसा के दुख-द्वंद पै।
भनत 'बिसाल' तापै जलज सनाल दोय,
तापै संख बिंब सुक झख बिबि फंद पै;
तापै ओहि ओर कल कदलि के पत्र बीच
लोभ ते अमी के अहि चढ़ो जात चंद पै।

(विशाल)

यहाँ क्रम से दो पैर, जाँघें, कटि, नाभि, रोमावली, ओढ़नी से ढके कुच, हाथ, ग्रीवा, ओंठ, नाक, नेत्र, पीठ, बेनी, जो मुख (चंद्र) पर पीठ की ओर से चढ़ रही है, के कथन हैं।

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कजपराग;
रुचिर कपोत बसै ता ऊपर, ताहू पर अमृतफल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृगमद काग;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग।

(सूरदास)

कमल (चरण), गजबर (चाल), सिंह (कटि), सर (नाभि), गिरि (कुच), कंजपराग (कंठश्री या कमल-सा कोई आभूषण), कपोत (ग्रीवा), अमृतफल (ठोढ़ी), पुहुप (गोदना), पल्लव (ओंठ), शुक (नाक), पिक (वाणी), मृगमद (बिंदी), काग (सिर के ऊपर के केश), खंजन (नेत्र), धनुष (भौंहें), चंद्रमा (ललाट), मणिधर नाग (वेणी)।

कंजपराग मुख के लिये मानने से उसके ऊपर ग्रीवा आती नहीं, जैसा कि कथित है, इससे कमल किसी आभूषण का उपमान मानना पड़ेगा।

रूपकातिशयोक्ति में लोक-सीमा-उल्लंघन का होना—

दामिनि-दमक मयंक में लाल, लखौ यहि सौध।

(ब्रह्मदत्त)

हे लाल, देखो, इस महल में चंद्रमा (मुख) में बिजली (दाँत) चमक रही है। यहाँ चंद्र और बिजली उपमानों से मुख और दाँत उपमेयों का निगरण (निगलना) किया गया है, परंतु महल में चंद्रमा या बिजली होती नहीं, अतः जहाँ जो नहीं है, वहाँ उसके स्थापन में लोक-सीमा का उल्लंघन है। ऐसा ही हाल अन्य उदाहरणों में भी समझ लीजिए।

(२) सापह्नवातिशयोक्ति—में अपह्नुति से मिलकर अतिशयोक्ति आती है।

सापह्नवातिशयोक्ति अमान्य है—इसी प्रकार कई अलंकार अन्यों से मिलाए जा सकते हैं, इसलिये इस एक ही का मिश्रण कथन कुछ विशेष युक्ति-संगत नहीं है। फिर भी कुछ आचार्यों ने इसे लिखा है, जिससे यहाँ भी कह दिया गया है। यथा—

संकर न कयलास, हेमलता कीन्हें बास,
हेरै क्यों पलासन, पलास-कलिका नहीं;

(दूलह)

कनकबेलि (नायिका); शंकर (कुच)। पलाश-कलिका (नख-क्षत)। नकार के कारण अपह्नुति समझी गई।

अली, कमल तेरे तनहिं सर मैं कहत अयान।

(पद्माकर)

यहाँ कमल का तालाब में निषेध होने से अपह्नुति तथा मुख के लिये केवल उपमान कमल से रूपकातिशयोक्ति है। अतः सापह्नवातिशयोक्ति हो गई है।

(३) भेदकातिशयोक्ति—में वर्ण्य में आहार्य (नक़ली) विशेषरूपेण अंतर दिखलाया जाता है।

भेदकातिशयोक्तिवाची शब्द—

इसमें न्यारी रीति, अन्य और आदि वाचक आते हैं। यथा—

अनियारे, दीरघ नयन किती न तरुनि समान;
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।
(बिहारी)

औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसुकानि;
औरै कछु सुख देत हैं सकै न बैन बखानि।
(मतिराम)

जगत को जतवार जीत्यो अवरंगजेब,
न्यारी रीति भूतल निहारी सिवराज की;
(भूषण)

इनमें औरै, न्यारी आदि के सहारे लोक-सीमोल्लंघन होता है। (कुछ भेद पड़ना तो संभव है, पर यहाँ नितांत पृथक्ता होने से विशेषरूपेण सीमोल्लंघन प्रत्यक्ष है)।

औरै रूप केस के सुबेस दृग औरै भए,
औरै लाज लेस को कलेस अगवै चल्यो;
औरै सुर कंठ कला बातन में औरै मुरि
उकसे उरोज उर औरै रूप च्वै चल्यो।
औरै कटि छीन, पीन पुलिन नितंब, औरै
औरै और 'सेवक' छिपे को छल छ्वै चल्यो;
औरै रति, औरै रंग, औरै दुति, औरै संग,
औरै तन, औरै मन, औरै पन ह्वै चल्यो।
(सेवक)

आगतयौवना का वर्णन है। लेस को कलेस अगवै चल्यो=थोड़ा भी

क्लेश आगे चला, अर्थात् बुरा मालूम पड़ने लगा। मुरि=ढंग। पुलिन=टापू। उपमा यह नई है। छंद में भेदकातिशयोक्ति के उदाहरण भरे पड़े हैं। पुलिन का अर्थ किनारा के अतिरिक्त टापू भी है।

औरै भाँति कोकिल, चकोर ठौर-ठौर बोलैं,
औरै भाँति सबद पपीहन के वै गए;
औरै भाँति पल्लव लिए हैं बृंद-बृंद तरु,
औरै छबि-पुंज कुंज-कुंजन उनै गए।
औरै भाँति सीतल, सुगंध, मंद डोलै पौन,
'द्विजदेव' देखत न ऐसे पल द्वै गए;
औरै रति, औरै रंग, औरै साज, औरै संग,
औरै बन, औरै छन, औरै मन ह्वै गए।
(द्विजदेव)

(४) **संबंधातिशयोक्ति**—में असंबंध होते हुए भी संबंध या संबंध होते हुए भी असंबंध कहा जाता है। इसमें इसी दो प्रकार के उदाहरण होते हैं।

प्रयोजन योग्य को अयोग्य या अयोग्य को योग्य कहने का होता है।

अयोग्य का योग्य कथन यथा—

अड़ि जात बाजी, त्यों गयंदगन गड़ि जात,
सुतुर अकड़ि जात, मुसकिल गऊ की;
दामन उठाय पायँ धोखे जो धरत होत
आप गड़काब रहि जाति पाग मऊ की।
'बेनी' कबि कहै देखि थर-थर काँपै अंग,
रथन को पथ न बिपति बरदऊ की;
बार-बार कहत पुकारि करतार तोसों,
मीचु है कबूल, पै न कीचु लखनऊ की।
(बेनी)

अंगनि उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हैं,
चिक्करत दिक्करि, हलत कलपत हैं;
कहै 'मतिराम' सैन सोभा के ललाम, अभि-
राम जरकस झूल झाँपे झलकत हैं।
सत्ता को सपूत राव भावसिंह रीझि देत
छहूँ ऋतु छके मद-जल छलकत हैं;
मंगन की कहा है मतंगन के माँगिबे को,
मनसबदारन के मन ललकत हैं।
(मतिराम)

यहाँ मनसबदार माँगने के अयोग्य थे वे माँगने के योग्य किये गये।

चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई, जहाँ
फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है;
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगन मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप मलीन होत बदन मयंक है;
कैसे वह बाल लाल, बाहेर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकत लंक है।
(मतिराम)

पंखे की हवा से कटि लचकने के अयोग्य है, सो उसके योग्य की गई।

बिंध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है।
(दूलह)

अयोग्य का योग्य कथन। यथा—

गंगा के चरित्र चितै परम बिचित्र नितै,
जैयै अब कितै, इतै पातकी न गोए जाय;

ह्वै के 'लेखराज' देवराज ब्रजरात केते,
खगराज राज छीरसागर मैं सोए जाय।
चित्र कैसे लिखे चित्रगुप्त चुपचाप रहे,
चितै-चितै चकित-से कागदनि धोए जाय ;
दूत गए टरकि, सरकि सब साथी, जम
मूँदि करि नरक अरक तीर रोए जाय।
(लेखराज)

अर्क (सूर्य) यम के पिता हैं, जिनके पास विकल होकर यम रोने गए। पातकी न गोए जाय=मुक्ति परम सुगम हो जाने से पापी इतने बढ़े कि वे छिपाए नहीं छिपते। यम रोने के अयोग्य थे, जिन्हें उस योग्य ठहराकर लेखराज कवि ने अयोग्य में योग्य कथन किया है। यही दूसरे चरण में भी है।

कालिय काल महा बिष ब्याल जहाँ जल-जाल जरै रजनी-दिनु ;
ऊरध के अध के उबरै नहिं, जासु बयारि वरै तरु ज्यों तिनु।
ता फनि की फन फाँसिनु पै फँदि जाय फँसै उकसै न कछू छिनु ;
हा ब्रजनाथ सनाथ करौ हम होती हैं नाथ! अनाथ तुम्हैं बिनु।
(देव)

कालीय के विष की हवा वृक्ष जलाने के अयोग्य थी, जिसका योग्य कथन हुआ है, जिससे संबंधातिशयोक्ति हुई।

भूलि गयो भोज, बलि बिक्रम बिसरि गए,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं ;
राजा राइ राने, उमराइ उनमाने, उन
माने निज गुन के गरब गिरवीदे हैं।
सुजस बजाज जाके सौदागर सुकबि,
चलेई आवें दसहू दिसानि ते उनीदे हैं ;

भोगीलाल भूप लाख पाँखर लेवैया, जिन
लाखन खरच रचि आखर खरीदे हैं।
(देव)

भोगीलाल के सम्मुख भोज, बलि, विक्रम आदि बिसार देने के अयोग्य हैं, वे भुला देने के योग्य किए गए।

चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर
चाक-सी फिरति धाक चंपति के लाल की;
'भूषन' भनत पादसाही मारि जेर कीन्ही,
काहू उमराय ना करेरी करबाल की।
सुनि-सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की
थप्पन-उथप्पन की बानि छत्रसाल की;
जंग जीतिलेवा ते वै ह्वै-ह्वै दामदेवा भूप
सेवा लागे करन महेवा महिपाल की।
(भूषण)

चींटी की चलावै को, मसा के मुख आपु जायँ,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत हैं;
ऐनक लगाए मरु-मरु कै निहारे जात,
अनु-परमानु की समानता खगत हैं।
'बेनी' कबि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म के बिचार हू सुगत हैं;
ऐसे आम दीन्हे जजमान मन मोद करि,
जाके आगे सरसौं सुमेरु-से लगत हैं।
(बेनी कवि)

योग्य का अयोग्य कथन यथा—

कानन कुंज प्रमोद बितान-भरे फल-फूल सुगंध बिधानै;
बावली के अरबिंदन पै मकरंद मलिंद सने सुभ गानै।

त्यौं 'लछिराम' तरंगन तैं सरजू के कढ़े सुर साजि बिमानै ;
औधपुरी महिमा यौं चितै अमरावति को हम क्यों सनमानै ।
(लछिराम)

अमरावती सम्मान के योग्य है, उसे अयोग्य कहा ।

अति सुंदर लखि मुख तिय ! तेरो ;
आदर हम न करत ससि केरो ।
(पद्माकर)

यहाँ शशि जो आदर योग्य है, वह उसके अयोग्य किया गया है ।

लाल ! ललित हेरनि, हँसनि, लसनि लखौ दग लाय ;
तिय-तन-दुति लखि उरबसी क्योंऽब सराही जाय ।
(ऋषिनाथ)

उर्वशी सराहने योग्य है, उसे अयोग्य किया ।

सान भरे भुज-दंड अखंड तिहूँ पुर मंडन भान भरै को ?
आँगुरी वै अलकेस धनी, सनी मौजन मैं अनुमान अरै को ?
यों नख भा 'लछिराम' लखे नखतावली के परमानै धरै को ?
श्रीरघुनाथ के हाथन सामुहे कलपलता सनमान करै को ?
(लछिराम)

औढ़ी चितौनि कहूँ गड़ि लागती, बंदन आड़े जो आड़ न होती ;
डारतो गूदि गुमान-गयंदु, जो गोल कपोलनि गाड़ न होती ।
लूटतीं लोकु लटैं सफुलेल, हमेल हिये भुज टाड़ न होती ;
चंदु अचानक च्वै परतो, मुख-चंदु पै जो चित चाड़ न होती ।
(देव)

यदि बंदन (सिंदूर) की बिंदी आड़ न आती, तो टेढ़ी चितौन गड़ जाती ; गुमान-रूपी गयंद (हृदय को) मर्दित कर डालता, जो गोल कपोलों में गड्ढे न होते । अगर हृदय में हमेल तथा भुजों में टाँड़े न होतीं, तो फुलेल लगे बाल लोक को लूट लेते ; हृदय में यदि चाह न

होती, तो चंद अचानक उसके मुख-चंद का अवलोकन करके टपक पड़ता। यहाँ भी चितौनि आदि में योग्यता होते उनको अयोग्य किया गया है।

यों तो अयोग्य के योग्यवाले उदाहरण ही में अर्थ दूसरी तरह लगाने में इसके उदाहरण भी समझे जा सकते हैं ; तथापि यहाँ पृथक् भी उदाहरण दे दिए गए हैं। इनमें भी यही कहा जा सकता है। इसमें दूसरा भी अलंकार स्थापित किया जा सकता है। अतः एक शुद्ध उदाहरण देते हैं। यथा—

मार लजावनहार कुमार हौ, देखिबे को दृग ये ललचात हैं ;
भूले सुगंध सों फूले सरोज-से आनन पै अलि हू मड़रात हैं।
नेकु चलै मग मैं पग द्वै 'ललिते' स्रम-सीकर-से सरसात हैं ;
तोरि हौ कैसे प्रसून लला ! वे प्रसूनहु ते अति कोमल गात हैं।
(ललिताप्रसाद त्रिवेदी)

हाथ वास्तव में फूल तोड़ने के योग्य हैं, इनको अयोग्य स्थापित करना ही असंबंधातिशयोक्ति है।

(५) अक्रमातिशयोक्ति—में हेतु और कार्य साथ ही होते हैं। यथा—

उद्धत अपार तव दुंदुभी धुकार संग
लघै पारावार बाल-बृंद रिपुगन के ;
तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे रज
साथ ही उड़ात रज-पुंज हैं परन के।
दच्छिन के नाथ ! सिवराज ! तेरे हाथ चढ़ै
धनुष के साथ गढ़ कोट दुरजन के ;
'भूषन' असीसैं, तोहि करत कसीसैं, पुनि
बानन के साथ छूटैं प्रान तुरकन के।
(भूषण)

इसमें इस अलंकार के चार उदाहरण हैं।

रँगे रज=धूल में रँगने अर्थात् युद्धार्थ चलने से। रज-पुंज=राज्य-श्री के ढेर। परन के=शत्रुओं के।

बालि को सपूत कपि-कुल पुरहूत
रघुबीरजू को दूत धरि रूप बिकराल को;
जुद्ध मद गाढ़ो पावँ रोपि भयो ठाढ़ो,
'सेनापति' बल बाढ़ो रामचंद्र भुवपाल को।
कच्छप कहलि रह्यो, दिग्गज दहलि रह्यो,
कुंडली टहलि त्रास परो चकचाल को;
पाँव के धरत अति भार के परत भयो
एक ही परत मिलि सपत पताल को।
(सेनापति)

यहाँ पैर रखते ही सातों पातालों के मिलकर एक ही परत हो जाने से अक्रमातिशयोक्ति अलंकार आया है।

एकाएक उमड़ि परैगो तम-तोम घोर,
नभ माँहि परलै-घटा-सी घिरि जाइहै;
धूमावृत अंधकार माँहि अंध ह्वै कै सब
सूरन की आपुस मैं सेना भिरि जाइहै।
जैहै फटि पातक-पहार धरनी मैं धसि,
रच्छ-कुल-मंडल पै गाज गिरि जाइहै;
जहाँ-जहाँ घूमिहै तरल तरवारि तेरी,
ताही सँग जम की दोहाई फिरि जाइहै।
(उमेश)

(६) **चंचलातिशयोक्ति (चपलातिशयोक्ति)**—में हेतु के ज्ञान-मात्र से या चर्चा से ही कार्य हो जाता है। यथा—

गढ़नेर गढ़ चाँदा भागनेर बीजापुर
 नृपन की नारी रोय हाथनि मलति हैं ;
करनाट हबस फिरंगहू बिलायत
 बलख रूम अरि - तिय-छतियाँ दलति हैं ।
'भूषन' भनत साहितनै सिवराज एते
 मान तव धाक आगे दिसा उबलति हैं ;
तेरी चमू चलिबे की चरचा चले ते,
 चक्रवर्तिन की चतुरंग चमू बिचलति हैं ।
(भूषण)

कैसे 'कुमार' कहै सुकुमारता, नामै सुगंध लगे गरुवाई ;
केसरि खोरि बनाउ कि बातहि गातन बाढ़ति आरसताई ।
जावक देन बिचार सुनेहि चढ़ै पद-पंकज आनि ललाई ;
बाल को मालती फूलनि चाह ही फैलति है अँगुरी अरुनाई ।
(कुमार)

पहले उदाहरण में एक तथा दूसरे में चार अलंकार हैं ।

बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
 बारिचर बिरची इलाज जयकाज की ;
कहै 'मतिराम' बलवंत जलजंत जानि
 दूरि भई हिम्मत दुरद सिरताज की ।
असरन - सरन चरन की सरन तकी,
 त्यों हीं दीनबंधु निज नाम की सुलाज की ;
धाए एते मान अति आतुर उताल मिली
 बीच ब्रजराज को गरज गजराज की ।
(मतिराम)

ऐल परी अलका मैं, खलभल खलका मैं,
 एतो बल का मैं, जो रहत निज थान हैं ;

'गंजन' सुकबि कहै माल मुलकन तजि
रज रजपूती तजि तजत गुमान हैं।
रानी तजि, पानी तजि, कर किरवानी तजि,
अति बिहबल मन आनत न आन हैं;
ह्वै करि किसान भूप भाजत दिसान, जब
कमरुद्दी खानजू के बाजत निसान हैं।
(गंजन)

जैसे तैं न मोको कहूँ नेकहूँ डरात हुतो,
तैसे अब तोसों हौंहूँ नेकहू न डरिहौं;
कहै 'पदुमाकर' प्रचंड जो परैगो, तौ
उमंड करि तोसों भुज-दंड ठोंकि लरिहौं।
चलो चलु, चलो चलु, बिचलु न बीच ही ते,
नीच! बीच कीच तो कुटुंब को कचरिहौं;
एरे दगादार, मेरे पातक अपार! तोहि
गंगा के कछार मैं पछारि छार करिहौं।
(पद्माकर)

यहाँ यदि सोचा जाय कि स्नान की इच्छा के ज्ञान-मात्र से पातक भागा, तो चपलातिशयोक्ति है, और यदि सोचें कि स्नान पीछे होगा, और पातक पहले ही भागा, तो अत्यंतातिशयोक्ति होगी। मुख्यता चपलातिशयोक्ति की है, क्योंकि स्नान का वर्णन है नहीं।

ऐंठि बाँध्यो मुकुट समेटि घुँघुरारे बार,
कुंडल चढ़ाए कान कलँगी सुघट की;
जाँघिया जकरिकै अकरि अंगराग करि,
कटि मैं लपेटी कसि पेटी पीत पट की।
भृगु-पद-अंक ढाल सकति स्त्रिया को चिह्न,
'सूदन' सनाह बनमाल लाल टटकी;

कोटिन सुभट की निहारि मति सटकी,
अनूपम गोपाल की धरनि मेस भटकी ।
(सूदन)

स्रिया=श्री, लक्ष्मी ।

चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चित चाहै खरकति है ;
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ।
थर-थर काँपत कुतुबसाहि गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ;
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहन की छाती दरकति है ।
(भूषण)

पानी धूम इँधन मसाला संग आतस के,
हिकमति कोठरी हबूब हहरानी है ;
उठत प्रभंजन, कै घन घहरात ठौर-
ठौर ठहरात जात जोर की निसानी है ।
चाल की न थाह जाकी 'पूरन' सुकबि कहै,
पवन बिमान बान गति तरसानी है ;
नर लै समूह जूह भार लै अपार कूह
करत न रूह फेरि ताकी दरमानी है ।
('पूर्ण' कवि श्रीबालदत्तजी मिश्र)

कूकने के पीछे ही चलकर तब रेल गायब होती है । कूकना चलने की निशानी-सी है । यहाँ कूकते ही गायब होना कथित है, जिससे हेतु के ज्ञान या चर्चा-मात्र से कार्य कथित होने से चपलातिशयोक्ति है ।

हबूब=महबूब ; प्यारी ।

यह छंद ज्येष्ठ लेखक के पूज्य पिताजी का है ।

(७) **अत्यंतातिशयोक्ति**—में फल हेतु के पहले हो जाता है। यथा—

पिय - हिय - गढ़ ते मान-रिपु पहिले गयो पराय ;
तेरे नैन - कटाच्छ - सर पीछे लागे जाय।
(वैरीशाल)

बेस पदारथ लोकन के अवलोकन को बर भाग भयो है ;
पै न मिले जब भोगन को, उर अंतर मैं तव दाग भयो है।
ख्याल करै किन हाल 'बिसाल' इहाँ पहले दुख त्याग भयो है ;
बाद कहूँ सिव संकर के पद पूजन को अनुराग भयो है।
(विशाल)

अब अतिशयोक्तियों के कुछ मिश्रबंधु-कृत मिलित उदाहरण दिए जाते हैं—

तोपन सों गोला अरि-देहन सों प्रान, कहैं
एक रन - मंडल मैं साथ ही निकरिहैं ;
गोलन को नाम ही सुने ते बरु संगर मैं
हहरि - हहरिकै मलिच्छगन मरिहैं।
जुद्ध की थली मैं आजु पीछे ते प्रचंड तोप
घोर घन - गरज - समान रव भरिहैं ;
बीरन के प्रबल प्रताप सों भरसि बहु
रोस के अनल पहिले ही अरि जरिहैं।

इस कवित्त के पहले चरण में अक्रमातिशयोक्ति, दूसरे में चपलातिशयोक्ति तथा तीसरे और चौथे में अत्यंतातिशयोक्ति है। नीचेवाले कवित्त के पहले चरण में भेदकातिशयोक्ति, दूसरे चरण में संबंधातिशयोक्ति और तीसरे तथा चौथे चरण में अत्यंतातिशयोक्ति या भाविक है।

मीतन सों भाखत अपर बीर आजु तव
असि को प्रचंड रूप औरई लखात है ;

देखिकै प्रताप जासु जगत उजासकर
खासकर भासकर हू लौं दबि जात है।
तेग को किरनगन चलत गगन दिसि,
बैरिन को माल जिन्हैं देखि बिललात है;
साथ तिनही के अरि प्रानन की जाल अब
ही सों सूर - मंडल को बेधत लखात है।

तुल्ययोगिता (१४)

तुल्ययोगिता—में ऐसों का साथ कहा जाता है, जो वास्तव में केवल यदा-कदा होता है।

यह लक्षण मुरारिदान के आधार पर है, अथच इतरोंवाले से कुछ पृथक् है। इसके तीन भेद हैं—

प्रथम तुल्ययोगिता—में अनेक वर्ण्यों अथवा अवर्ण्यों का एक ही धर्म एक ही बार कहा जाता है। यथा—

फूले सखा-सखी-नैन

(दूलह)

सखा-सखी वर्ण्य हैं, और उनके नेत्रों का धर्म फूलना एक ही है, तथा एक ही बार कहा भी गया है।

तुल्ययोगिता में सादृश्य है या नहीं?—

रसगंगाधर, एकावली तथा अलंकार-सर्वस्व का कथन इसमें सादृश्य-गर्भित वर्णन का है। यही मत साहित्यदर्पण का भी है। यह विचार शायद उपर्युक्त के समान उदाहरणों में चमत्कार-शून्यता के कारण उठा हो। जब केवल उपमेयों या केवल उपमानों का कथन होगा, जैसा इस अलंकार का रूप ही है, तब उपमा या सादृश्य तक ध्यान कैसे जा सकता है?

हमने तुल्ययोगिता का लक्षण मुरारिदान के लक्षण पर आधारित किया है, और उन्होंने तुल्ययोगिता शब्द के शुद्ध अर्थ पर।

धुरवान की धावन सोई अनंग की तुंग ध्वजा फहरान लगी ;
नभ-मंडल ह्वै छिति-मंडल छ्वै छिनजोति-छटा छहरान लगी।
'मतिराम' समीर लगे लतिका बिरही बनिता थहरान लगी ;
परदेस ते पीउ सँदेस न पायो, पयोद-घटा घहरान लगी।

(मतिराम)

छिनजोति=क्षणज्योति=बिजली। यहाँ अपना अलंकार केवल तृतीय चरण में लतिका तथा विरही वनिता के समीर लगने से थहराने में है। दोनो वर्ण्य हैं। स्त्री सदैव वायु के झोंके से नहीं थहराती, केवल यहाँ विरहिणी होने से वायु के उद्दीपन-वश थहराई। उधर लतिका सदैव हवा से काँपती है, अतः यहाँ लतिका का वनिता से साथ सदैव होनेवाला न होकर केवल विशेष कथित दशा में है।

फूले सखा-सखी-नैन, तन-दुति देखे ऐन
केतकी - कनक - जोति नरम निहारी है ;

(दूलह)

उपर्युक्तानुसार सखा-सखी-नैन फूलने में कोई चमत्कार नहीं, किंतु इस अवर्ण्योंवाले उदाहरण में है। शरीर की द्युति देखकर केतकी और सोने की ज्योति नरम पड़ गई। केतकी साधारणतया मुरझाने से अथच सोना मलिन होने से प्रभा-हीन होता है। यहाँ शरीर की शोभा के कारण असाधारणतया दोनो मलीन हुए, जिससे चमत्कार प्राप्त है। इसीलिये यह असाधारणपन हमने लक्षण का अंग ही माना है, क्योंकि विना इसके साधारण कथन चमत्कार-शून्य हो जाता है।

दीपक से पृथक्ता—यह विचार मानने से यह अलंकार दीपक (नं० १४) से पृथक् हो जाता है। इसमें कथन या तो वर्ण्यों का होता है या अवर्ण्यों का।

उधर दीपक में दोनो का साथ कथन होता है।

रसगंगाधरकार का विचार है कि केवल इतना भेद पृथक् अलंकारता के लिये पर्याप्त नहीं। बात भी ऐसी ही होती, किंतु यदा-कदा होनेवालों का साथ तुल्ययोगिता में आ जाने से एक और भी भेद निकल आया, जिससे पृथक् अलंकारता के लिये काफ़ी मसाला मिल जाता है। अन्य उदाहरण—

गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान,
आघु बकाईहीं चढ़ै, तरुनि, तुरंगम, तान।
(बिहारी)

आघु=मोल।

यदि यहाँ सबको वर्ण्य मानो, तो तुल्ययोगिता प्रथम है।

जी के चंचल चोर सुनि पी के मीठे बैन;
फीके सुक-पिक-बचन ये, नीके लागत हैं न।
(वैरीशाल)

यहाँ तोते और पपीहा उपमानों के वचन फीके कहे गए हैं, जिससे अवर्ण्यवाली तुल्ययोगिता है। शुक-पिक-बैन फीके होने में सदा साथ नहीं होता, किंतु इस स्थान पर साथ ही फीके हैं। ये दोनो यहाँ अवर्ण्य हैं और ये प्रियतम के वचनों के सामने ऐसे हो गए हैं।

सूबनि उमेड़ि दिल्ली-दल दलिबे को चमू
सुभट समूहनि सिवा की उमहति है;
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे को संगर मैं
काहू के न हिम्मत हिये में उलहति है।
सत्रु सालनंद के प्रताप की लहरि सब
गरबी गनीम बरगीन को दहति है;
पति पातसाह की, इजति उमरावन की
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।
(मतिराम)

बरगी=वर्गवाले, झुंडवाले, साथी। चौथे पद में अलंकार है। बादशाह की लाज और उमरावों की इज़्ज़त का एक ही धर्म है। ये दोनो यहाँ अवर्ण्य हैं।

नोट—इस अलंकार में कहीं कहीं वर्ण्य से मुख्य तथा अवर्ण्य से अमुख्य विषय का तात्पर्य है, न कि उपमेय या उपमान का।

द्वितीय तुल्ययोगिता—में हितकारी और अहितकारी वस्तुओं के साथ एकसाँ बर्ताव किया जाता है। यथा—

जो निसि-दिन सेवन करैं, अरु जे करैं बिरोध ;
दुहुन परमपद देत हरि, कहौ कौन यह बोध ?

(मतिराम)

विरोध करनेवालों तथा सेवा करनेवालों के साथ एक ही बर्ताव यदाकदा होता है।

जो सींचत, काटत जु है, जो पेरत जन कोइ,
जो रच्छत, तिन सबन को ऊँख मीठियै होइ।

(पद्माकर)

इन उदाहरणों में धर्म एक-ही-एक है।

तृतीय तुल्ययोगिता—में बड़े-बड़े गुणियों के साथ वर्ण्य का समता-सूचक वर्णन होता है। यथा—

दई जियावन की टहल बिधि ने इन्हें अछेह ;
सुधा, सजीवन-मूरि अरु प्यारी मिलन सनेह।

(वैरीशाल)

सौरभ में परिपूरन केतकी, मालती, मौलसिरी औ' तुहूँ है ;
गौरता में कल कंचन, केसरि और तुहूँ है गनी सबहूँ है।
बानक में 'रघुनाथ' कहै रति रंभा औ' तू हू है देखी महूँ है ;
ऐसी रची बिधि भावती तोहि, न तेरी छुटी मरजाद कहूँ है।

(रघुनाथ)

सोने और केशर की लालिमा के कारण उत्कृष्ट गोराई की इनसे उपमा दी जाती है।

तृतीय तुल्ययोगिता में दीपक से पृथक् अलंकारता

उपर्युक्त बड़े गुणी सब उपमान रूप में भी समझे जा सकते हैं, किंतु उपमा नहीं दी गई है। इसी से दीपक का-सा सादृश्य हो जाता है। दूलह के उदाहरण "चारु गिरिजा, गिरारु वृषभान की दुलारी हैं" में अवर्ण्यपन बहुत प्रकट तो नहीं है, किंतु आ अवश्य जाता है। जो यदा-कदा का साथवाला विचार पहली तुल्ययोगिता में है, वह भी यहाँ प्रायः काम नहीं देता, क्योंकि यहाँ केवल उपमेय और उपमानों का एक धर्म के साथ कथन होने अपच उनके प्रबल गुण-युक्त होने से उपमेय की प्रशंसा सादृश्य के रूप में आ जाती है। वास्तव में वह उतना गुणी होता नहीं है, क्योंकि दीपक से पृथक् इसमें कोई मुख्य चमत्कार नहीं मिलता। अतएव मतिराम और भूषण ने इसे पृथक् अलंकार माना ही नहीं।

दीपक (१५)

दीपक—में वर्ण्य और अवर्ण्य का (एक ही बार कथित) एक ही धर्म होता है।

इसमें एक के लिये कहा हुआ धर्म अन्वय द्वारा अन्य के विषय में भी आरोपित हो जाता है। जैसे एक दीपक कई वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक धर्म कई को यहाँ रंजित करता है। उदाहरण—

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस-मेघ-घटा सों ;
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषनदेव-प्रभा सों ;
जाहिर चारिहु ओर जहान, लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों।

(भूषण)

भाव यह कि हिंदुवान खुमान सिवा सों कामिनि कंत (सों) लसै। हिंदुवान खुमान सिवा उपमेय है, कामिनि कंत उपमान, सो वाचक लुप्त है, और लसै धर्म है। लसै धर्म एक उपमेय तथा बहुतेरे उपमानों के लिये कहा गया है।

चंचल निसि उदबस रहैं करत प्रात बसि राज ;
अरबिंदनि मैं इंदिरा सुंदर नैननि लाज।

(मतिराम)

उदबस=उजड़े हुए। प्रयोजन यह है कि कमल में लक्ष्मी रात में नहीं रहतीं, तथा दिन में बसती हैं। इसी प्रकार सुंदर नैनों में लाज निशि में उजड़ी रहती है, तथा दिन में राज करती है।

गढ़न गँजाय, गढ़ धरन सजाय करि
छाँड़े केते धरम दुवार दै भिखारी से ;
साहि के सपूत पूत बीर सिवराजसिंह
केते गढ़धारी किए बन बनचारी से।
'भूषन' बखानै केते दीन्हे बंदीखानै सेख,
सैयद हजारी गहे रैयति बजारी से ;
महता से मुगल महाजन से महाराज
डाँड़ि लीन्हे पकरि पठान पटवारी से।

(भूषण)

दंडित कर लेना धर्म वर्ण्य और अवर्ण्य, दोनो के साथ लगता है।

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड-मुंड फरके ;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के ;

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन-दिन अति जंग मैं ;
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित चाव,
खग्ग खुलि चढ़त है अरिन के अंग मैं।
भौंसिला के हाथ गढ़ कोट हैं चढ़त, अरि
जोट ह्वै चढ़त एक मेरुगिरि - संग मैं ;
तुरकानगन ब्योमयान हैं चढ़त, बिनु
मान है चढ़त बदरंग अवरंग मैं।

(भूषण)

इस छंद में चढ़त शब्द विविध स्थानों में विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जिससे पदावृत्ति दीपक है।

तीज दिन तरनि - तनूजा के तमाल तरे
तिथि की तयारी ताकि आई तखियन मैं ;
कहै 'पदुमाकर' त्यों उमगि उमंग उठै,
मेहँदी सुरंग की तरंग नखियन मैं।
सोरहौ सिंगार सजी, सची की न सोभा बची,
तारन मैं ससि ज्यों सोहाई सखियन मैं ;
काम झूलै उर मैं, उरोजन मैं दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियन मैं।

(पद्माकर)

तखियन=तत्क्षण। नखियन=नखों। दाम का अर्थ रस्सी है। यहाँ ज़ंजीर-नामक आभूषण से प्रयोजन है। झूलै शब्द का अर्थ तीनो स्थानों पर पृथक् है। काम हृदय में बसने से सात्त्विक भाव कंप हुआ, जिससे ज़ंजीर हिलने लगी। इतने पर भी नायिका एकटक नायक की ओर देख रही है।

अर्थावृत्ति दीपक—एक ही अर्थवाले अनेक शब्द अनेक बार आते हैं। यथा—

बैन सकुचैं न, नैन नैसुक न लाजैं री।

(दूलह)

यहाँ सकुचने और लजाने के अर्थ सम हैं।

थकि रहे दूत, तकि-बकि रहे मुँह बाय,
चकि रहे चित्रगुप्त, जकि रहे जमराज।

(लेखराज)

यहाँ थकि, चकि, जकि के अर्थ सम हैं।

लखौ लाल ! तुमकौं लखत यों बिलास अधिकात ;
बिहँसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसकात।

(मतिराम)

बिहँसत और मुसकात एक ही अर्थवाची हैं।

राजत अंजन अधर लगि, सोहत जावक भाल ;
भलो अपूरब रूप यह दरसायो नँदलाल।

(वैंरीशाल)

राजत और सोहत एकार्थवाची हैं।

पदार्थावृत्ति दीपक—**में एक ही शब्द उसी अर्थ में सुंदरता-पूर्वक अनेक बार प्रयुक्त होता है।**

यदि प्रयोग में सौंदर्य न हो, तो वही पुनरुक्ति दोष हो जायगा। आवृत्ति दीपक अलंकारों में दीपक शब्द आता है, किंतु इस अलंकार में दीपकालंकार से पृथक् विषय है। यथा—

पच्छी पटु कीर नीको, फूल कासमीर नीको,
सीरो-सो उसीर नीको, रूप जो अनंगा को ;
मंत्री मतिधीर नीको, मित्र दिलगीर नीको,
रतनन हीर, चीर पाट पीत रंगा को।
कहै 'लेखराज' लखौ लच्छनी सुबीर नीको,
प्रगट फकीर नीको बिना रस-रंगा को ;

सज्जन को तीर नीको, पच्छिम समीर नीको,
सुरभी को छीर नीको, नीर नीको गंग को।
(लेखराज)

पढ़नेवाला शुक पक्षी अच्छा, कश्मीरी फूल अच्छा, (विशेष) ठंडा खस अच्छा, कामदेव का रूप अच्छा, दिलगीर (रंजीदा, यहाँ चित्त पकड़नेवाला, जिसमें मन लगे) मित्र अच्छा, रत्नों में हीरा अच्छा, पीला रेशमी कपड़ा अच्छा, लक्षण-युक्त योद्धा अच्छा, रस-रंग में न पड़नेवाला फ़क़ीर अच्छा आदि। शेष सुगम है। दूसरे और तीसरे पदों के तुकांत रंगा शब्द हैं, जिनके अर्थ भिन्न, रंग तथा रंजित होने से तुकांत में पुनरुक्ति दोष नहीं है।

सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौन आजु हियरा हरत है;
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम', जब
पौन लागे घूँघट को पट उघरत है।
जमुना के तट बंसीबट के निकट
नँदलाल पै सकोचन सों चाह्यो न परत है;
तन तौ तिया को बर भाँवरै भरत, मन
साँवरे बदन पर भाँवरै भरत है।
(मतिराम)

प्रतिवस्तूपमा और आवृत्ति दीपक में भेद—प्रतिवस्तूपमा में एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत होता है, किंतु आवृत्ति दीपक में दोनो या तो प्रस्तुत होते हैं या अप्रस्तुत। यह मत अप्पय्य दीक्षित का है।

तुल्ययोगिता और आवृत्ति दीपक का भेद—तुल्ययोगिता में धर्म एक ही बार कहा जाता है, और आवृत्ति में वही एक शब्द अनेक बार आता है। यथा—

चले चंदबान, घनबान औ' कुहूक बान,
चलत कमान धूम आसमान छ्वै रहो ;
चलीं जमदाढ़ैं बाढ़िवारैं तरवारैं जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रहो ।
ऐसे समै फौजैं बिचलाईं छत्रसालसिंह,
अरि के चलाए पाँय बीर रस च्वै रहो ;
हय चले, हाथी चले, संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली मैं अचल हाड़ा ह्वै रहो ।
(भूषण)

भागे मीरजादे, पीरजादे औ' अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बजायकै ;
भागि गज-बाजी, रथ पथ न सँभारैं, परैं
गोलन पै गोल सूर सहमि सकायकै ।
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि वेगि,
बलित बितुंड पै बिराजि बिलखायकै ;
जैसे लगै जंगल मैं ग्रीषम की आगि, चलैं
भागि मृग, महिष, बराह बिललायकै ।
(चंद्रशेखर वाजपेयी)

दौरे काल किंकर कराल किलकारी देत,
दौरीं काली किलकत छुधा के तरंग तैं ;
कहै 'हरिकेस' दाँत पीसत खबीस दौरे,
दौरे मंडलीक गीध गीदर उमंग तैं ।
चंपति के नंद छत्रसाल आजु कौन पर
फरकाई भुज औ' चढ़ाई भुव भंग तैं ;
भंग डारि मुख ते, भुजान ते भुजंग डारि,
दौर्‌यो हर कूदि डारि गौरा अरधंग तैं ।
(हरिकेश)

बेद राखे बिदित, पुरान राखे सार-जुत,
राम - नाम राखो अति रसना सुघर मैं ;
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेव राखो, माला राखी गर मैं ।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे बादसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राखो कर मैं ;
हिंदुन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं ।

(भूषण)

दीपक से पृथक् अलंकारता—जिस प्रकार एक ही दीपक अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दीपक में एक ही शब्द अनेकों का रंजन करता है । परंतु आवृत्ति दीपक में जिस प्रकार एक ही दीपक को प्रत्येक वस्तुओं के समीप ले-ले जाकर देखते हैं, इसी प्रकार यहाँ एक ही शब्द या एक ही अर्थ या एक ही शब्दार्थ उसी अर्थ में अनेकों का रंजन करता है ।

प्रतिवस्तूपमा (१७)

प्रतिवस्तूपमा—में स्वतंत्र (निरपेक्ष) उपमेय-उपमान वाक्यों में एक ही धर्म शब्द-भेद से अलग-अलग कहा जाता है । यथा—

मद - जल धरन द्विरद बल राजत,
बहु जल - धरन जलद छबि साजै ;
पुहमि - धरन फनिनाथ लसत अति,
तेज - धरन ग्रीषम - रबि छाजै ।
खरग-धरन सोभा तहँ राजत,
रुचि 'भूषन' गुन-धरन समाजै ।

दिल्लि - दलन दक्खिन - दिसि - दंभन,
ऐंड़ - धरन सिवराज बिराजै ।
(भूषण)

यहाँ पहले तीनो पदों में उपमान वाक्य हैं, तथा चौथा उपमेय वाक्य है ।

पिसुन-बचन सज्जन-चितै सकै न फोरि न फारि ;
कहा करै लगि तोय मैं तुपक, तीर, तरवारि ।
(मतिराम)

यहाँ न फोड़ना-फाड़ना पहले वाक्य का धर्म है, तथा कहा करै दूसरे वाक्य का, जिसका प्रयोजन वही है, जो पहले वाक्य के न फोड़ने-फाड़ने का ।

वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा—

बुध ही जानत बुधन को परम परिश्रम ताहिं ;
प्रबल प्रसव की पीर को बंध्या जानै नाहिं ।
(गुलाब कवि)

यहाँ भी धर्म एक ही है, किंतु दूसरे चरण में नकार आने के कारण वैधर्म्य से उदाहरण माना गया है । वैधर्म्य उलटे धर्म को कहते हैं ।

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नधर्मोपमा—यदि दूसरा चरण यों कर देवें—

प्रबल प्रसव की पीर जिमि बंध्या जानै नाहिं,

तो वाचक के आ जाने से प्रतिवस्तूपमा हटकर वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नधर्मोपमा हो जायगी ।

प्रतिवस्तूपमा की लुप्तोपमा तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न-धर्मोपमा से पृथक् अलंकारता—अब प्रश्न यह उठता है कि वाचक न होने से हम वस्तुप्रतिवस्तूपमा को लुप्तोपमा क्यों न मानें ? उपमा में साधारण धर्म-संबंध-मात्र में चमत्कार होता है, किंतु प्रति-

वस्तूपमा में दो एक ही प्रकार के वाक्य अलग-अलग कहने में रहता है, जिनमें एक ही धर्म पृथक् शब्दों में कहा गया हो। इस बात में पृथक् सौंदर्य का भी अनुभव होता है, अर्थात् इसमें उपमान और उपमेय में बिंब-प्रतिबिंब भाव का संबंध होता है, किंतु वाचक के आ जाने से यह भाव अलग हो जाता है, जिससे उपमा आ जाती है।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांत में भेद—बिंब-प्रतिबिंब भाव दृष्टांत (नं० १८) में भी रहता है, किंतु भेद यह है कि प्रतिवस्तूपमा में धर्म एक ही होने से केवल उपमान-उपमेय का बिंब-प्रतिबिंब भाव रहता है, तथा दृष्टांत में एक ही धर्म न होने के कारण दोनो वाक्यों में यह भाव धर्मों में भी आ जाता है। यह भेद बहुत थोड़ा होने से पृथक् अलंकारत्व के लिये अपर्याप्त-सा है।

दृष्टांत (१८)

दृष्टांत—में धर्मों तथा उपमान और उपमेय (दोनो सामान्य या दोनो विशेष) का निरपेक्ष वाक्यों में बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है।

विशेष वाक्य—एक व्यक्ति के संबंध में कथन (एकवचन में) विशेष कहलाता है।

सामान्य वाक्य—(बहुवचन में) बहुतों के विषय में साधारण वाक्य सामान्य कहलाता है।

दृष्टांत तथा अर्थांतरन्यास का भेद—अर्थांतरन्यास (नं० ६०) में एक वाक्य सामान्य होता है और दूसरा विशेष, किंतु दृष्टांत में दोनो वाक्य सामान्य या दोनो विशेष होते हैं।

दृष्टांत और निदर्शना में भेद—निदर्शना में वाक्य सापेक्ष होते हैं, किंतु दृष्टांत में स्वतंत्र। यथा—

संगति के अनुसार ही सबके बनत सुभाय ;
साँभर में जो कुछ परै, निरो नोन ह्वै जाय।

(दुलारेलाल भार्गव)

पगीं प्रेम नँदलाल के, हमैं न भावत जोग ;
मधुप ! राजपद पाय कै भीख न माँगत लोग।

(मतिराम)

यहाँ दोनो वाक्य सामान्य हैं। पहला उपमेय वाक्य है और दूसरा उपमान। धर्म दोनो पृथक् हैं, किंतु समानता भासित होने के कारण बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

बिंब-प्रतिबिंबोपमा—'कै' के स्थान पर 'जिमि' कर देने से बिंब-प्रतिबिंब भावापन्नधर्मोपमा हो जायगी।

देत तुरीगन गीत सुने बिन, देत करीगन गीत सुनाए ;
'भूषन' भावत भूप न आन जहान खुमान की कीरति गाए।
मंगन को महिपाल घने पै निहाल करै सिवराज रिझाए ;
आन ऋतैं बरसे सरसैं उमड़ैं नदियाँ ऋतु पावस पाए।

(भूषण)

यहाँ पहले तीन उपमेय वाक्य हैं, और चौथा उपमान। पहले तीनो वाक्य विशेष हैं और चौथा भी वर्षा के कारण विशेष हो गया है।

अरबिंद प्रफुल्लित देखिकै भौंर अचानक जाय अरै पै अरै ;
बनमाल - थली लखिकै मृगसावक दौरि बिहार करै पै करै।
सरसी ढिग पाय कै ब्याकुल मीन हुलास सों कूदि परै पै परै ;
अवलोकि गोपाल को 'दास'जू मो अँखियाँ तजि लाज ढरै पै ढरै।

(दास)

यहाँ ऊपर के तीन वाक्य विशेष हैं तथा अँखियाँ दो होने से सामान्य हुई जाती हैं, किंतु जोड़े को एक मानकर विशेष ही कहा गया है।

होत भले के बुरो सुत, भलो बुरे के होत ;
दीपक सों काजर प्रकट, कमल कीच के गोत।
सहनसील न सहै का, खल करै का न कुकर्म ;
का अदेय बदान्य को, अरु नीच को का धर्म।
(कस्यचित्कवेः)

वैधर्म्य से उदाहरण—

जीवन-लाभ हमैं लखे लाल! तिहारी काँति ;
बिना स्यामघन छनप्रभा प्रभा लहै केहि भाँति।
(दास)

दूसरे वाक्य में नकारात्मक अर्थ से वैधर्म्य आ गया है।

दृष्टांत के संभव भेद—दृष्टांत के दो प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं, एक तो शुद्ध बिंब-प्रतिबिंब भाव-युक्त, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, और दूसरा उस दशा में, जहाँ पहले वाक्य का अर्थ कुछ अस्पष्ट हो, तथा दूसरे वाक्य से उसका स्पष्टीकरण अथच समर्थन किया जाय।

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ;
भलो भलो कहि सब तजैं, खोटे ग्रह जप-दान।
(बिहारी)

यहाँ बुरे का सम्मान क्यों होता है, सो प्रकट न था, जिससे कवि ने ज्योतिष-संबंधी ग्रहों का वर्णन करके दिखलाया कि अच्छे ग्रहों को तो लोग अच्छा कहकर छोड़ देते हैं, किंतु बुरों को प्रसन्न करने को जप-दान करते-कराते हैं।

निदर्शना (१६)

निदर्शना—निदर्शनं दृष्टांतकरणम्—दृष्टांतकरण निदर्शना है, अर्थात् पदार्थ तथा वाक्यार्थ या कार्यार्थ को दृष्टांत-रूप में रखकर किसी

अर्थ को अच्छे प्रकार हृदयंगम कराया जाना निदर्शना है। ऐसा वाक्यार्थ तथा पदार्थ या क्रियार्थ द्वारा होने से इसके भी दो भेद हैं।

वाक्यार्थ और पदार्थ निदर्शना—उपमेय - उपमानवाले सापेक्ष वाक्यों में पदार्थ या वाक्यार्थ के असंभव संबध के कारण सादृश्य की कल्पना करने ही पर जहाँ अर्थ बने, वहाँ निदर्शना होती है। यथा—

वाक्यार्थ—

जो जस पावन पायो रमापति सिंधुर पायन धाय उधारे ;
जो जस चारु लह्यो हरिचंदजू मंद ह्वै डोम के जाय बिहारे।
जोई दधीच लह्यो जस मीच लै, इंद्र जबै सब दानव मारे ;
सोइ गथी जस भागीरथी सहजै लहि हौं 'लेखराज' के तारे।

(लेखराज)

यहाँ पहले तीनो वाक्य उपमान हैं, तथा चौथा उपमेय रूप में कहा गया है। परंतु जो यश अन्यों ने अन्यान्य कार्य करके पाया, वही यश श्रीभागीरथीजी श्रीलेखराज को तारकर नहीं पा सकती थीं। अतः उनमें सादृश्य की कल्पना करने पर अर्थ की संगति होती है। यहाँ सादृश्य वाक्यार्थ के बल से पाए जाने से इसको वाक्यार्थ निदर्शना कहना चाहिए। यहाँ कई उपमान होने से वाक्यार्थ निदर्शना माला रूप से लाई गई है।

कियो चहैं अपनो तुम्हैं तन-मन दै ब्रजराज ,
खेलि जुवा ते बंछहीं संपति के सुख साज।

(वैरीशाल)

पदार्थ निदर्शना—

जब कर गहत कमान-सर, देत परनि कौ भीति ;
भावसिंह मैं पाइए तब अरजुन की रीति।

(मतिराम)

यहाँ निदर्शना वाक्य के सहारे न निकाली जाकर केवल एक पद 'रीति' के अर्थ के बल से निकाली गई है। शब्द 'रीति' के अर्थ के बल पर उपमा की कल्पना आश्रित है। अतः यहाँ पदार्थ निदर्शना है।

तेरो मुख मेरी भटू, धरै सुधाधर-चाल;
ज्यहि सौतिन के कमल-दग देखत होत बिहाल।
(वैरीशाल)

मुख का सुधाधर की चाल ग्रहण करना न बनने के हेतु सादृश्य की कल्पना करनी पड़ने के कारण निदर्शना अलंकार समझना चाहिए। उपमा की कल्पना 'चाल' शब्द के बल से होती है। अतः पदार्थ निदर्शना है।

देखौ सहजै धरत ए खंजन लीला नैन।
(महाराज जसवंतसिंह)

रूपक तथा निदर्शना का विषय-विभाजन—सर्वस्वकार तथा अप्पय्य दीक्षित ने निदर्शना का निम्नोक्त उदाहरण दिया है, जिसको पंडितराज रूपक का उदाहरण बतलाते हैं।

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्;
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः।

इसी का अनुवाद है—

'रंजक जावक' सों करन तुव पद-नख कौ नार;
सो 'सित करनो' है ससी कर लेपन घनसार।
(मुरारिदान)

'जो' और 'सो' में से एक के होने पर दूसरे का ग्रहण हो जाता है। दूसरे पद में 'सो' शब्द है, अतः इस दोहे के प्रथम पद में भी 'जो' शब्द का ग्रहण कर लेना चाहिए।

पंडितराज का मत है—कि जहाँ कर्ताओं का अभेद आर्थ तथा क्रियाओं का अभेद शाब्द हो, वहाँ वाक्यार्थ रूपक होता है।

तथा कर्ताओं का अभेद शाब्द और क्रियाओं का अभेद आर्थ होने पर निदर्शना।

यहाँ उपर्युक्त दोहे में घनसार लेपन करनेवाले 'व्यक्ति' तथा जावक रंजन करके पद-नखों को सुंदर करनेवाले 'पुरुष' का अन्वय 'जो' और 'सो' शब्दों के साथ नहीं होता, अतः इनका अभेद अर्थ-बल से ग्रहण करना पड़ता है, अतः कर्ताओं का अभेद आर्थ हुआ।

दोहे में वर्णित क्रियाएँ हैं 'रंजन करन' तथा 'सित करनौ'। इन दोनो का अन्वय 'जो' और 'सो' शब्दों के साथ होता है, अतः इनका अभेद शाब्द (वाच्य) है। इसी कारण पंडितराज यहाँ वाक्यार्थ रूपक मानते हैं।

यहाँ दोनो क्रियाओं का अभेद शाब्द तो हो गया, परंतु वे दोनो क्रियाएँ एक तो हो नहीं गई, क्योंकि उनमें वास्तविक समानता नहीं है। अगर समानता होती, तो 'घनसार लेप' तथा 'जावक रंजन' करनेवाले पुरुषों में 'मूर्खता' रूप सादृश्य की कल्पना न करनी पड़ती। इस सादृश्य की कल्पना करने की आवश्यकता इस कारण हुई कि इन दोनो क्रियाओं में वास्तविक समानता नहीं है—वह कल्पित-मात्र है। जब इनमें दूसरे धर्म की कल्पना करनी ही पड़ी, तो निदर्शना का माना जाना अनिवार्य हो गया।

पंडितराज कहते हैं कि उपर्युक्त श्लोक को

> त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः ;
> इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरी कुरुते हि सः।

इस प्रकार कर देने से निदर्शना का उदाहरण हो जायगा। इसका अनुवाद यह है—

> **जो करत जु तुव चरन-नख जावक मार्जन नारि ;**
> **चंदन लेपन चंद कौ उजल करत निहारि।**
> **(मुरारिदान)**

दोहे का अन्वय इस प्रकार हुआ—(हे) नारि ! जो (पुरुष) तुव चरन-नख (सों) जावक मार्जन करत, (वह) निहारि चंद (कौ) चंदन लेपन (करि) उज्ज्वल करत । यहाँ 'जो' 'सो' शब्दों के न होने पर भी वाक्य में कर्ताओं तथा क्रियाओं को इस प्रकार रक्खा गया है कि कर्ताओं का अभेद शाब्द और क्रियाओं का अभेद आर्थ हो गया है । इस कारण यहाँ निदर्शना है ।

(१) दोनो दोहों को विचार-पूर्वक देखिए, प्रथम में कर्ताओं का अभेद आर्थ है, तथा दूसरे में शाब्द (वाच्य) ।

(२) प्रथम दोहे में क्रियाओं का अभेद शाब्द है दूसरे में आर्थ, यही भेद है ।

(३) सादृश्य की कल्पना जैसी पहले में करनी पड़ती है, वैसी दूसरे दोहे में भी । दोनो दोहों में 'मूर्खता' रूप सादृश्य को निकालना पड़ता है ।

रूपक में सादृश्य जगत्प्रसिद्ध होता है, जैसे 'मुख चंद्र शोभायमान है ।' यही भेद वाक्यार्थ रूप और निदर्शना में है, अर्थात् वाक्यार्थ रूपक में सादृश्य जगत्प्रसिद्ध होना चाहिए, और निदर्शना में अन्य सादृश्य की कल्पना करनी पड़ती है । अतः दोनो दोहों में निदर्शना माननी चाहिए ।

निदर्शना और ललित में भेद—निदर्शना में उपमान रूप वाच्यार्थ अप्रस्तुत रूप में होता है, परंतु ललित (नं० ६५) में वह प्रस्तुत रूप में कर दिया जाता है, यह भेद है । दोहे को यदि—

करत अहहि तू चरन-नख जावक मार्जन नारि ;
चंदन चंदहि लेपि करि उज्जल करति निहारि ।

इस रूप में कर दें, तो ललित हो जायगा ।

वास्तव में ललित कर आभास तो उपर्युक्त पंडितराजवाले दूसरे श्लोक में भी है, किंतु इस दोहे में उसका रूप और भी स्पष्टतर हो गया है ।

यहाँ नायिका के चरण-नखों में जावक लगाया जा रहा है । उसको

संबोधन करके उपर्युक्त दोहा कहा गया है, और दोहे का उपमान रूप वाच्यार्थ भी प्रस्तुत (वर्ण्य वस्तु के) रूप में है, अतः आगे कहा जानेवाला ललित अलंकार हो जायगा।

निदर्शना में उपमानरूप वाच्यार्थ अप्रस्तुत रूप (अवर्ण्य रूप) में होता है, यही भेद है।

दृष्टांत और निदर्शना का भेद—दृष्टांत (नं० १८) से हटाने को लक्षण में 'सापेक्ष' वाक्य का विशेषण बनाया गया है। दृष्टांत में दोनो वाक्य स्वतंत्र होते हैं।

कार्येण सदसदर्थ निदर्शना—जहाँ कार्य द्वारा दृष्टांत रूप से सद् (अच्छा) या असद् (ख़राब) अर्थ का बोध कराया जाता है, वहाँ क्रमशः सद् या असदर्थ निदर्शना होती है।

सदर्थ निदर्शना—

उदय भए निज पक्ष मैं, कीजै श्रीपरकास ;
यहै सिखावत रबि उदित, कौलनि देत बिकास।
(कुमारमणि)

यहाँ सूर्य उदय होकर यह शिक्षा देता हुआ कहा गया है कि अपने पक्षवालों का धन-धान्य से संपन्न होने पर पोषण करना चाहिए। यहाँ सद्वस्तु करने को कहा जाने से सदर्थ निदर्शना हुई।

देस पै भीर बिलोकि परी अति चंचलताई तुरंगन धारी ;
देस कुसंकट की घटना उनसों कहुँ जाति छिनौ न निहारी।
बैरिन को मद झारि पछारि हरौ तुर देसहिं को दुख भारी ;
सूरन को करि चंचलता सब देत तुरीगन सीख बिचारी।
(मिश्रबंधु)

तजि आसा तनु-प्रानु की दीपहिं मिलत पतंग ;
दरसावत सब नरन कौं परम प्रेम कौ ढंग।
(दास)

कार्येण असदर्थ निदर्शना—

मधुप ! तृभंगी हम तजी प्रगट परम करि प्रीति ;
प्रगट करत सब जगत मैं कटु कुलटन की रीति ।
(मतिराम)

दीप-जोति सिर धुनि सुधुकि पौनहिं सो धर होइ ;
यह उपदेसत सबन कौ, कुस को हितू न कोइ ।
(पद्माकर)

धर होइ=बुझकर ।

नोट—सदसदर्थ निदर्शना में संभव संबंध से तथा पदार्थ और वाक्यार्थ निदर्शना में असंभव संबंध से निदर्शना आती है ।

अर्थात् सदसदर्थ निदर्शना में संभव संबंध होने से सादृश्य की कल्पना नहीं करनी पड़ती, परंतु वाक्यार्थ तथा पदार्थ निदर्शना में असंभव संबंध होने से सादृश्य की कल्पना करनी ही पड़ती है, दृष्टांतकरण दोनो में होता है । यथा—

कमलनि ससि कर परस हीं बिनसत दियो दिखाय ;
प्रबल बिरोधी पाप कै समरथ हू नसि जाय ।

जो गुन-बृंद सता-सुत मैं, कलपद्रुम मैं सो प्रसून समाजै ;
कीरति जो 'मतिराम' दिवान मैं, चंद मैं चाँदनी-सी छबि छाजै ।
राव मैं तेज को पुंज प्रचंड, सो आतप सूरज मैं रुचि साजै ;
जो नृप भाऊ के हाथ कृपान, सो पारथ के कर बान बिराजै ।
(मतिराम)

सता = छत्रसाल ।

यहाँ दोहे तथा कवित्त, दोनो में दृष्टांतकरण है । दोहे के दोनो पदों में प्रबल विरोधी द्वारा सबल का नाश होना रूप संभव संबंध विद्यमान है, परंतु कवित्त में पार्थ के बाण तथा भाऊ की कृपाण में कोई संभव संबंध नहीं वर्णित है, अतः उनमें सादृश्य की कल्पना करनी पड़ती है ।

इसी कारण निदर्शना के सम्मिलित लक्षण में केवल दृष्टांतकरण कहा गया है—दृष्टांतकरण सब भेदों में है। पहले दो भेदों में असंभव संबंध तथा सदसदर्थ निदर्शना में संभव संबंध रहता है। पहले भेदों में सादृश्य की कल्पना भी होती है, वह सादृश्य भी दोहे में संभव संबंध होने से स्वयंसिद्ध है, अतः कल्पना नहीं करनी पड़ी। इसी कारण सादृश्य की कल्पना भी सम्मिलित लक्षण में नहीं रक्खी गई।

व्यतिरेक (२०)

व्यतिरेक—में उपमान को उपमेय से अलग करनेवाले धर्म का उक्त होना रहता है।

इसके तीन भेद हैं—अधिक, सम और न्यून। उपमेय में कुछ अधिकता के कथन से अधिक होता है, साम्य से सम और कमी से न्यून।

(१) अधिक व्यतिरेक—

कहै कबि 'दूलह' निहारे चकचौंधी लागै,
कुंदन-सो रूप पै सुगंध सरसानो है।
(दूलह)

उपमेय में जो विशेषता होती है, उससे गुणाधिक्य का प्रयोजन है। रूप में सौरभ स्वर्ण से अधिक है।

दमकति दरपन दरप दरि दीप-सिखा-दुति देह ;
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि सनेह।
(दुलारेलाल भार्गव)

(२) सम व्यतिरेक—

घनस्याम ही मैं बसै जगर-मगर होति
दामिनी औ' कामिनी कहेहूँ भेद जान्यो है।
(दूलह)

यहाँ दामिनी और कामिनी हैं तो पृथक्, किंतु दोनो समभाव से जगमगा रही हैं। भेद केवल इतना है कि दो शब्द अलग-अलग हैं।

चंचल हैं वै यै भट्ट 'चपलाई के ऐन ;
भेद नाम सों जानिए वै खंजन यै नैन।

(रामसिंह)

पंडितराज तथा अप्पय्य दीक्षित में मतभेद—पंडितराज ने ऐसे उदाहरणों में गम्योपमा मानी है, परंतु कुवलयानंद ने अलग करनेवाले नाम रूपी धर्म के उक्त होने से व्यतिरेक ही कहा है, जो उचित भी मालूम पड़ता है।

(३) न्यून व्यतिरेक—

रस भीजे हम तुम जलज रहियत रोग समोय ;
पै तुमको नित मित्र सुख, सपनेहु हमहिं न होय।

(वैरीशाल)

कमल को मित्र (सूर्य) का सुख है, किंतु हमें मित्र (दोस्त) का सुख नहीं है। विरहवंत नायक का वर्णन है। कुवलयानंद में यह उदाहरण है—

नव पल्लव सों तुम रक्त जु हौ, हम रक्त प्रसंस प्रिया गुन के भर ;
तन रावरे आनि बसैं जु सिलीमुख, हौं स्मर-चाप सिलीमुख को घर।
नव सुंदरि के पद पर्सहु से दुहु होत प्रफुल्लित आनँद लै बर ;
सब तुल्यता में बिधि तोहिं असोकरु मोहिं ससोक कह्यो जग भीतर।

(मुरारिदान)

शिलीमुख का अर्थ भ्रमर और बाण है। दूसरे रक्त का अर्थ अनुरक्त है। तीनो पहले पदों में अशोक से समता है, किंतु चौथे में वह अशोक और नायक सशोक है, जिससे छंद विप्रलंभ शृंगार का पोषक हो गया है।

न्यून व्यतिरेक का भेद मानना चाहिए या नहीं ?—कुवलया-

नंदकार यहाँ व्यतिरेक मानता है, किंतु पंडितराज नहीं मानते, क्योंकि वह यहाँ वियोग शृंगार की मुख्यता समझते हैं। देखने में तो ऐसा दीखता है कि विप्रलंभ और अलंकार दोनो हो सकते हैं। मुख्य भाव वियोग का है, जिसका पोषण अलंकार से भी होता है। अलग करनेवाले धर्म शोक की भिन्नता भी प्रस्तुत है।

पंडितराज का मत है कि यहाँ चौथे चरण से उपमा दोष-निवारण को हटाई गई है, क्योंकि विना ऐसा किए विप्रलंभ शृंगार नहीं आता था, किंतु यहाँ भेद करनेवाला धर्म है ही। यहाँ भी उपमेय में कोई वास्तविक हीनता नही है, क्योंकि उसका शोक एक दशा-मात्र का फल है।

सहोक्ति (२१)

सहोक्ति—में कार्य-कारण-रहित सहवाची शब्द के योग से एक ही धर्म का अनेक स्थानों पर अन्वय होता है। यथा—

छुटत मुठिनु सँग हीं छुटी लोक-लाज, कुल-चाल ;
लगे दुहुन इक बेर ही चल चित, नैन गुलाल।
(बिहारी)

मुष्टिका और लोक-लाज तथा कुल-चाल का छुटना संग शब्द के ज़ोर से हुआ, यही दशा चित्त तथा नैन की हुई।

छूट्यो है हुलास, आम खास एक संग छूट्यो,
हरम सरम एक संग बिनु ढंग ही ;
नैनन ते नीर धीर छूट्यो एक संग, छूटी
सुख रुचि मुख रुचि त्यों हीं बिन रंग ही।
'भूषन' बखाने सिवराज मरदाने ! तेरी
धाक बिललाने न गहत बल अंग ही ;
दच्छिन को सूबा पाय दिली के अमीर तजैं
उत्तर की आस जीव-आस एक संग ही।
(भूषण)

इस छंद में सहोक्ति के कई उदाहरण हैं।

लख्यो न मंदिर केलि मैं पिय रुचि बिजित अनंग ;
नैन करन तै जल बलय गिरे एक ही संग।
(मतिराम)

यहाँ गिरे शब्द जल और कंकण, दोनो के साथ समान प्रकार से प्रयुक्त है, दो में से किसी के साथ मुख्यता और दूसरे के साथ अमुख्यता के साथ नहीं।

सहोक्ति के लक्षण में मतभेद—सर्वस्वकार और पंडितराज का मत है कि जब तक ऐसी प्रधानता और अप्रधानता न आए, तब तक सहोक्ति न होगी। यह बात भूषण के उदाहरण में तो है, किंतु दोहे में नहीं, परंतु चमत्कार दोनो में है। एक विचार यह भी किया गया है कि जहाँ मुख्यता और अमुख्यता का भाव न आता हो, वहाँ उदाहरण सहोक्ति का न होकर तुल्ययोगिता या दीपक का माना जायगा। तुल्ययोगिता (नं० १४) का हमारे यहाँ जो लक्षण दिया गया है, उसमें उपर्युक्त दोहेवाला उदाहरण नहीं आता है। दीपक (नं० १५) में उपमान उपमेय भाव होता है। जल और वलय, दोनो उपमेय होने से यह बात भी उपर्युक्त दोहे में नहीं है। अतएव सहोक्ति में मुख्यता तथा अमुख्यता का भाव जोड़ना आवश्यक नहीं समझ पड़ता। उपर्युक्त भूषणवाले उदाहरण में मुख्यता पहले चरण में हरम की है, दूसरे में धैर्य की तथा चौथे में जीवन की आशा छूटने की। जीने की आशा छूटी, उसी से उत्तर जाने की आशा भी छूट गई। अतः जीव के साथ प्रधानता तथा उत्तर के साथ अप्रधानता से अन्वय मानना चाहिए। इसी प्रकार औरों में भी समझ लीजिए।

सहोक्ति और अतिशयोक्ति में भेद—यदि संगवाची शब्द से वाक्य में हेतु और कार्य का संबंध आ जाय, तो अलंकार सहोक्ति न होकर अतिशयोक्ति (नं० १२) हो जायगा। यथा—

"तोपन सों गोला अरि-देहन सों प्राण कहैं
एक रनमंडल मैं साथ ही निकरिहैं।"
(मिश्रबंधु)

में कारण कार्य में पूर्वापर नियम का भंग होना साथ शब्द के प्रयोग से दिखलाया गया है, अतः अतिशयोक्ति है।

तुल्ययोगिता, दीपक और सहोक्ति में भेद—(नं० १४) तुल्ययोगिता तथा दीपक में भी धर्म का अनेक स्थानों पर अन्वय होता है, किंतु ऐसा 'सह' वाची शब्द के आधार पर नहीं होता। दूसरे तुल्ययोगिता में यदा-कदा धर्म का साथ होनेवालों का एक धर्म से संबंध होता है। दीपक में वर्ण्य और अवर्ण्य का एक ही धर्म कहा जाता है, सहोक्ति में उपमान-उपमेय-भाव भी नहीं होता।

विनोक्ति (२२)

विनोक्ति—में वर्ण्य किसी वस्तु के विना शोभन या अशोभन होता है। यथा—

जो कछु पुन्य अरन्य जल-स्थल तीरथ खेत निकेत कहावै;
पूजन जाजन औ' जप-दान अन्हान परिक्रम गान गनावै।
और किते ब्रत नेम उपास अरंभु कै 'देव' को दंभु दिखावै;
हैं सिगरे परपंच के नाच, जु पै मन मैं सुचि साँच न आवै।
(देव)

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जरे, मद-अंबु चुचाते;
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते।
भीतर चंदमुखी अवलोकत बाहरे भूप खड़े न समाते;
ऐसे भए, तौ कहा 'तुलसी' जु पै जानकीनाथ के रंग न राते।
(तुलसीदास)

करिए जीवन सुफल चलि, देखहु आजु निसंक ;
सरस मनोहर मंजु वह मुख मयंक बिन अंक।
(वैरीशाल)

देखत दीपति दीप की देत प्रान अरु देह ;
राजत एक पतंग मैं बिना कपट को नेह।
(मतिराम)

ऊपर के उदाहरणों में शोभन और अशोभन, दोनो के कथन हैं।

सिंह उदैभान बिन अमर सुजान बिन
मान बिन कीन्ही साहिबी त्यों दिलीसुर की ;
साहि सुव महाबाहु सिवाजी सलाह बिन
कौन पातसाह की न पातसाही मुरकी।
(भूषण)

लाल मन रंजन के मिलिबे को मंजन कै
चौकी बैठि बार सुखवति बर नारी है ;
अंजन, तमोर, मनि, कंचन, सिंगार बिनु
सोहति अकेली देह सोभा को सिंगारी है।
'सेनापति' सहज की तन की निकाई ताकी
देखिकै दृगनि जिय उपमा बिचारी है ;
ताल गीत बिन, एक रूप के हरत मन
परबीन गायन की ज्यों अलापचारी है।
(सेनापति)

समासोक्ति (२३)

समासोक्ति—में प्रस्तुत के कथन में विशेषणों, लिंग या कार्य की समानता के कारण अनुक्त अप्रस्तुत वृत्तांत का भान होता है।

लिंगसाम्येन—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल;
अली कली ही सों बिध्यो, आगे कौन हवाल।
(बिहारी)

यहाँ अलि और कली पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग बाची होने से नायक-नायिका वृत्तांत निकला।

कार्यसाम्येन—

बड़ो डील लखि पील को सबन तज्यो बन थान;
धनि सरजा तू जगत में, ताको हर्‍यो गुमान।
(भूषण)

उतर पहाड़ बिधनोल खँडहर झार-
खंड हू प्रचार चारु केली है बिरद की;
गोर गुजरात अरु पूरब पछाँह ठौर
जंतु जंगलीन की बसति मारि रद की।
'भूषन' जो करत न जाने बिन घोर सोर,
भूलि गयो आपनी उँचाई लखे कद की;
खोइयो प्रबल मदगल गजराज एक,
सरजा सों बैर कै बड़ाई निज मद की।
(भूषण)

मदगल=मदमस्त। सरजा=सिंह।

हारे बटवारे जे बिचारे मैजलनि मारे,
दुखित महा रे तिनको न सुख तैं दियो;
बन के जे पंछी, तिनहूँ के काम को न कछू,
साँझ समै आय बिसराम उन ना लियो।
आपने हू तन की न छाँह करि सक्यो मूढ़,
'दयानिधि' कहै जग जनम बृथा कियो;

घाम को न आड़ भयो, फूल को न लाभ कछू,
एरे ताड़ वृक्ष ! एतो बढ़िकै कहा जियो ।
(दयानिधि)

इसमें सम्मुख संबोधन से ताड़ का वृत्तांत प्रस्तुत हुआ । कार्य की समानता के कारण ऐसे पुरुष का भी वृत्तांत निकलता है, 'जो समृद्धिशाली होने पर भी न अपना लाभ करता है न दूसरे का । समृद्धिशाली का वृत्तांत अ-प्रस्तुत है । ताड़ में मनुष्य का आरोप नहीं, केवल उसके प्रस्तुत व्यवहार में मनुष्य के अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप होता है ।

समासोक्ति से रूपक तथा श्लेष की पृथक्ता—रसगंगाधरकार का मत है कि रूपक में धर्म और धर्मी, दोनो का आरोप होता है, किंतु यहाँ केवल व्यवहार का । जहाँ श्लिष्ट विशेषण होते हैं, वहाँ केवल विशेषण श्लिष्ट होता है, विशेष्य नहीं । उधर श्लेष (नं० २६) में दोनो श्लिष्ट होते हैं । उभय आश्रित श्लेष में विशेष्य पद तो श्लिष्ट नहीं होता, किंतु उपमेय और उपमान, दोनो का भिन्न शब्दों द्वारा कथन होता है । समासोक्ति में केवल प्रस्तुत का कथन रहता है, अप्रस्तुत का नहीं । इसमें विशेषणों की समानता दो प्रकार से होती है, अर्थात् साधारण और श्लिष्ट विशेषण । ये सब मुख्य भेद न होकर उदाहरणांतर-मात्र हैं ।

श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति—

**बिकसित मुख ऐंद्री निरखि रबि-कर-सँग अनुरक्त ;
प्राचेतस दिसि-जात ससि ह्वै दुति मलिन बिरक्त ।**
(रसाल)

यह साहित्यदर्पण के उदाहरण का अनुवाद है । प्रातःकालीन सूर्य जब उदय तथा शशि अस्त हो रहा है, उस समय का वर्णन है ।

ऐंद्री=इंद्र-संबंधी=पूर्व दिशा ।

विकसित मुख (प्रकाशितोन्मुखी या प्रफुल्लित मुखवाली) पूर्व दिशा

को रवि-कर सों (रवि की किरणों से या सूर्य के हाथों के स्पर्श होने से) अनुरक्त (लाल या अनुराग-युक्त) देखकर प्राचेतस दिशा (पश्चिम दिशा या मृत्यु) की ओर मलिन और विरक्त (श्वेत या वैराग्य-युक्त) होकर चला। परंतु कोष्ठक में दिए हुए मुख, कर, अनुरक्त, प्राचेतस दिशि और विरक्त विशेषण श्लिष्ट होने से ऐसी नायिका तथा नायक के वृत्तांत का भी भान होता है. जो अपनी प्रिया को दूसरे से अनुरक्त देख मरने चला हो। यहाँ केवल विशेषण श्लिष्ट है विशेष्य ऐंद्री, रवि, शशि, अश्लिष्ट हैं।

नोट—यहाँ पूर्व दिशा स्त्रीलिंग है, तथा चद्रमा और सूर्य पुंलिंग हैं।

साधारणविशेषेण—

सहज सुगंध मदांध अलि करत चहूँ दिसि गान ;
देखि उदित रबि कमलिनी लगी मुदित मुसकान।
(रसाल)

यह भी साहित्यदर्पण का अनुवाद है। सहज सुगंध आदि विशेषण साधारण (अर्थात् कमलिनी और पद्मिनी नायिका से समानरूपेण संबंधित होने से) हैं। यहाँ नायिका दोहे के प्रथम चरण में समान विशेषणों के बल से कमलिनी से पद्मिनी निकलती है, परंतु व्यवहार की प्रतीति मुख्यतया दूसरे चरण में आए मुसकान-रूपी धर्म के कारण होती है, क्योंकि मुसकान धर्म केवल उसी का है, कमल में उसका आरोप-मात्र हो सकता है।

परिकर (२४)

परिकर—में विशेषण का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होकर उपस्कार करता है।

उपस्कार शोभा-वृद्धि को कहते हैं। मोटे प्रकार से यहाँ साभिप्राय विशेषण होता है। यथा—

क्यों न फिरै सब जगत को करत बिजै नित मार ;
जाके दृग सामंत हैं कुवलय जीतनहार ।
(मतिराम)

यहाँ कुवलय श्लिष्ट शब्द है । इसका एक अर्थ है कमल और दूसरा भूमंडल (कु=भूमि ; वलय=मंडल) । विजय का पोषण कुवलय जीतनहार से हुआ ।

परिकर का हेतु अलंकार से पृथक्करण—यह पोषण हेतु अलकार (नं० १००) में कारण का कार्य के सहित वर्णन करके होता है, यही भेद है । परिकर यथा—

अधम-उधारन की धारी है सुबानि कत,
अधम-उधारन सों जो पै सकुचात हौ ;
दीनबंधु काहे ते कहावत जहान मैं, जो
दीन-दुख-टारन मैं धरे ढील गात हौ ।
करुनानिधान की उपाधि तजि देहु, जो पै
साफ इनसाफ करिबे को ललचात हौ ;
पतित-सुपावन को छोड़ौ नाम, जो पै ऐसे
पतित पुनीत करिबे को न सिहात हौ ।
(मिश्रबंधु)

असरन-सरन कहावत हौ, जो पै तौ न
सरन दिवैया दूजो मोकहँ दिखात है ;
दीनबंधु ! दीन की न सुनत पुकार काहे,
मो-सम न छीन-हीन दूसरो लखात है ।
करुनानिधान ! अब करुना करौगे कब ?
करुना के हेत बूड़ो चित ललचात है ;
भारत पुकारत है बार-बार नाथ ! अब
बिरद सँभारे बिन लाज सब जात है ।
(मिश्रबंधु)

ग्राह गहत गजराज की गरज गहत ब्रजराज ;
भजे गरीब-नेवाज को बिरद बचावन काज ।

(दुलारेलाल भार्गव)

परिकर में मम्मट तथा पंडितराज का मतभेद—मम्मट का मत है कि विना भावार्थ पुष्ट करनेवाले विशेषण में अपुष्टार्थ दोष है, जिससे जब तक ऐसे एकाधिक अच्छे विशेषण न हों, तब तक परिकरालंकार नहीं होता ।

पंडितराज का विचार है कि एक भी अच्छे पोषक विशेषण से न केवल दोष का निराकरण, वरन् शोभा की भी वृद्धि होने से परिकरालंकार सिद्ध हो जायगा ।

परिकरांकुर (२५)

परिकरांकुर—में साभिप्राय विशेष्य का कथन रहता है । इसमें विशेष्य का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होकर उपस्कार करता है । यथा—

'भूषन' भनि सब ही तबहि जीत्यो हो जुरि जंग ;
क्यों जीतै सिवराज सों अब अंधक-अवरंग ।

(भूषण)

औरों को अंधक-रूपी औरंग जीत चुका था, किंतु शिव से कैसे जीतता ? अंधक दैत्य को शिव ने जीता था । शिवजी विशेष्य हैं, जिससे यह आभास निकलता है कि अंधक-रूपी दैत्य उनसे नहीं जीत सकता । 'क्यों जीतै' के वाच्यार्थ का यहाँ अंधक का व्यंग्यार्थ समर्थन करता है ।

बामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस ;
प्यारी कहत लजात नहि पावस चलत बिदेस ।

(बिहारी)

प्रयोजन यह है कि यदि प्यारी होती, तो पावस में विदेश कैसे चलते, इससे इतर नामों से पुकारिए, न कि प्यारी नाम से ।

तन की रही सम्हार नहिं, गई प्रेम-रस भोय ;
मोहन ! लखि तेरी दसा क्यों न भटू अग्नि होय ।
(रामसिंह)

यहाँ मोहन शब्द की मुख्यता है ।

श्लेष (२६)

श्लेष—में एकार्थ या अनेकार्थवाची शब्दों द्वारा अनेक वाच्यार्थों का भान होता है ।

प्राचीन मतानुसार श्लेष के 'अर्थश्लेष' तथा 'शब्दश्लेष'-नामक दो भेद हैं । शब्दश्लेष के अभंग और सभंग-नामक दो उपभेद हैं, जिन दोनों में निम्नानुसार तीन-तीन भेदांतर हैं, अर्थात् अनेकप्रकृत, अनेक-अप्रकृत तथा प्रकृताप्रकृत श्लेष ।
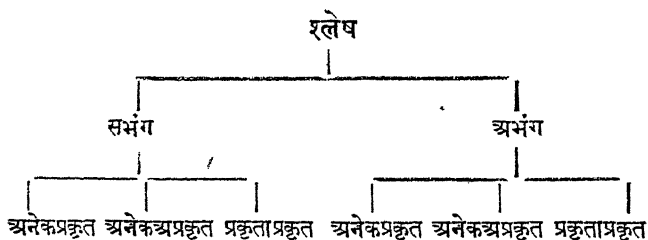
नोट—श्लेष में विशेषणों का श्लिष्ट होना तो आवश्यक ही है । प्रकृत तथा अप्रकृत श्लेष में कहीं पर विशेष्य श्लिष्ट और कहीं अश्लिष्ट होते हैं । परंतु प्रकृताप्रकृत श्लेष में उपमान उपमेय को पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कथित होना ही चाहिये ।

प्राचीनों का मत है कि जहाँ शब्द बदल देने से चमत्कार न रहे, वहाँ शब्दश्लेष है, अथच शब्द बदलने की दशा में भी चमत्कार न हटने से अर्थश्लेष होगा ।

(१) शाब्द श्लेष—

१—अनेक प्रकृत शब्दश्लेष—

ललित राग रागत हिये नायक जोति विसाल ;
बाल ! तिहारे हृदय पर लसत अमोलिक लाल ।
(मतिराम)

लाकेट में नायक का चित्र पहने हुए नायिका से सखी का परिहास है। नायक-पक्ष में—जिसकी ज्योति विशाल है (अर्थात् जो बहुत सुंदर है), जिसके लिये तेरे हृदय में सुंदर प्रेम का अनुराग है। हे बाले! वह अनमोल नायक (लाल) तेरे हृदय पर बसता है। चुन्नी (लाल रंग का बहुमूल्य पत्थर) के पक्ष में—लाल (चुन्नी) जो अनमोल है, वह तेरे हृदय पर बसता है। उसका ललित राग (रंग) हृदय पर शोभा पाता है, तथा जिससे अनेक (नायक=न एक=कई) ज्योतियाँ निकलती हैं। दूसरे अर्थ से नायक-शब्द तोड़ना पड़ा है, जिससे सभंग श्लेष आया। पहले में अभंग से अर्थ निकला है। लाल और नायक, दोनो के वर्ण्य होने से अनेक वर्ण्य श्लेष है। प्रकृत वर्ण्य को कहते हैं।

२—अनेक अप्रकृत शब्दश्लेष—

कहा भयो जग मैं बिदित भए उदित छबि लाल ;
तो ओंठन की रुचिर रुचि लहि नहिं सकत प्रबाल ।
(मतिराम)

यहाँ प्रवाल का अर्थ मूँगा या नवीन कोपल है। ये दोनो अप्रस्तुत (अप्रकृत) होने से छंद में अप्रकृत श्लेष है। जिसके कथन की मुख्य इच्छा हो, उसे प्रस्तुत कहते हैं, और जो इतर वर्णन अमुख्य होता है, उसे अप्रस्तुत कहते हैं। इस छंद में मुख्य वर्णन नायिका का है। इसमें अभंग श्लेष है।

३—प्रकृताप्रकृत शब्दश्लेष—

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके,
भू पर भरत नाम भाई नीति चारु है ;

'भूषन' भनत कुल - सूर - कुल भूषन हैं,
दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है।
अरि लंक तोर जोर जाके संग बानर हैं,
सिंधुर हैं बाँधे, जाके दल को न पारु है;
तेगहि कै भेटै, जौन राकस मरद जानै,
सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है।
(भूषण)

राम के पक्ष में—सीताजी के साथ शोभित हैं, लक्ष्मण जिसके सहाय में हैं, जिसके भू पर भरत नाम का भाई है, जिसकी नीति अच्छी है, सारे सूर्य-कुल का भूषण है, जिसकी भुजाओं पर पृथ्वी पर सब दशरथ-वंशियों का बोझ है, शत्रु लंका के तोड़नेवाले जिसके साथ वानर हैं, सिंधु (समुद्र) को जिसने बाँध रक्खा है, जिसकी सेना का पार नहीं है, वह जिस राक्षस को मर्द (बहादुर) जानता है, उसे पकड़कर भेटता है।

शिवाजी के पक्ष में—सी=श्री (लक्ष्मी) ता(उस)के साथ शोभित हैं, अच्छे लक्षण जिसके सहायक हैं, जो पृथ्वी पर नाम भरता है, जिसे सुंदर नीति पसंद है, जो कुल सूर (बहादुर)-कुल का भूषण है, जिसके सब रथी दास हैं, जिसकी भुजाओं पर पृथ्वी का भार है, दुश्मन की कमर तोड़नेवाले जिसके साथ बाण रहते हैं, जिसके यहाँ हाथी बँधे हैं, जिसकी सेना असंख्य है, जिस नर को अकस (दुश्मन) मर्द जानता है, उसे तलवार के साथ भेटता है। इन दोनो अर्थों में कई अभंग सभंग शब्द दिखलाए जा चुके हैं। वर्णन शिवाजी का (प्रस्तुत) प्रकृत एवं राम का अप्रकृत है। इसी से प्रकृताप्रकृत श्लेष है। ऊपर के तीनो उदाहरणों में शब्दश्लेष है, अर्थश्लेष नहीं।

(२) आर्थ श्लेष—

नर की औ' नल नीर की गति एकै करि जोय;
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय।
(बिहारी)

यहाँ नीचे चलने से ऊँचे होने का भाव मनुष्य और फ़ौवारे के पानी, दोनो पर घटित है, तथा यह बात किसी शब्द विशेष पर आधारित न होने से यहाँ अर्थश्लेष है। यथा वा—

तुला कोटि अरु खलन की सम बृत्ती बिख्यात ;
थोरे सो उन्नति लहत, थोरे सों अध जात।

(मुरारिदान)

यहाँ उन्नति शब्द के स्थान पर उँचाई और अध के स्थान पर निचाई कर दें, तो भी श्लेष रहता है, अतः अर्थश्लेष है।

देखत सरूप को सिहात न मिलन काज,
जग जीतिबे की जामैं रीति छल-बल की ;
जाके पास आवै, ताहि निधन करति वेगि,
'भूषन' भनत जाकी संगति न फल की।
कीरति कामिनि राची सरजा सिवा की एक,
बस कै सकै न बस करनी सकल की ;
चंचल सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका-समान सूबेदारी दिली-दल की।

(भूषण)

यहाँ पूरे छंद का अर्थ गणिका और सूबेदारी - पक्षों पर घटता है, जो बात शब्दों पर आधारित न होकर अर्थ पर है। अतः यहाँ अर्थ-श्लेष है। इसी प्रकार जहाँ शब्द बदल देने पर भी श्लेष रह जाय, वहाँ आर्थ श्लेष समझ लीजिए।

श्लेष तथा ध्वनि का पृथक्करण—श्लेष में श्लिष्ट विशेष्य या तो वर्ण्य विषय ही होते हैं या अवर्ण्य ही, जैसे ऊपर के पहले दोहे में लाल विशेष्य पद है, जिससे रत्न और नायक, दोनो का बोध होता है। ये दोनो वर्ण्य विषय और वाच्य हैं। दूसरे दोहे में

विशेष्य शब्द प्रवाल श्लिष्ट है, जिसके अर्थवाले मूँगा और कोपल, दोनो अप्रस्तुत तथा वाच्य हैं।

ध्वनि में एक वाच्यार्थ तथा दूसरा व्यंग्यार्थ होता है, और श्लेष में दोनो अर्थ वाच्यार्थ ही होना चाहिए। यह भेद है। यथा—

भयो अपत कै कोप-युत, कै बौर्‌यो यहि काल;
मालिनि! आजु कहै न क्यों वा रसाल को हाल।

(दास)

यहाँ मालिनि श्रोत्री होने के कारण अपत शब्द का पत्ते-रहित, कोप-युत का कोपल-युक्त, बौर्‌यो का बौर-युक्त और रसाल का आम्र अर्थ आया। उसके बाद मुख्य कारणों से दूसरा अर्थ नायक-पक्ष में लगता है। वहाँ अपत=लापता; कोप-युत=क्रुद्ध; बौर्‌यो=बावला; रसाल=नायक (रस का घर=नायक) है। पहला अर्थ वाच्यार्थ है और दूसरा व्यंग्यार्थ। इसी कारण श्लेष के लक्षण में वाच्यार्थ जोड़ दिया गया है। तात्पर्य यह कि इस दोहे में व्यंग्यार्थ भी आ जाने से यह श्लेष-भेद में न रहकर ध्वनि-भेद में चला गया है।

वर्ण्यावर्ण्य श्लेष में भी दोनो के पृथक् शब्दों द्वारा उक्त होने के कारण दोनो ही वाच्यार्थ हो जाते हैं; जैसी दशा भूषणवाले छंदों में है। वर्ण्यावर्ण्य श्लेष में विशेषण तो श्लिष्ट होते हैं, परंतु विशेष्य नहीं। उधर ध्वनि में विशेष्य और विशेषण, दोनो ही श्लिष्ट होते हैं।

समासोक्ति और श्लेष में भेद—समासोक्ति में वर्ण्य प्रस्तुत होकर अवर्ण्य का भान कराता है, अर्थात् अवर्ण्य विषय व्यंग्य से निकलता है, और केवल वर्ण्य विषय वाच्य होता है। वर्ण्यावर्ण्य श्लेष में भी दोनो ही वाच्य होते हैं।

अति अनुरागी मधुप यह तजि बंधन को छोभ;
देखौ पदुमिनि पै चल्यो मधुर गंध के लोभ।

(वैरीशाल)

इसमें भौंरा एवं पद्मिनी - वृत्तांत प्रस्तुत है। उसमें परकीया नायिका तथा उपपति-वृत्तांत जो निकलता है, वह अप्रस्तुत है। प्रथम वृत्तांत वाच्य से है, और दूसरा व्यंग्य से। अतः समासोक्ति है।

> रँग-राते राचे न ये लखत हरत चित चैन;
> निपट लजाने अधर हैं, सौहैं करत बनै न।
>
> (वैरीशाल)

यहाँ 'अधर हैं' कहने से ओठों का कथन है तथा 'अध रहैं' कहने से अधखुले नैनों का प्रयोजन निकलता है। यहाँ नेत्र और ओंठ दोनो का वर्णन प्रस्तुत होने से श्लेष है, तथा पहले में व्यंग्य आ जाने से समासोक्ति थी।

श्लेष के विषय में मतभेद—उद्भट का मत है कि अभंग और सभंग, दोनो ही अर्थालंकार हैं। उनका विचार है कि जहाँ शब्द-मात्र सुनने से (न कि अर्थ विचारने पर) चमत्कार का बोध हो, वहाँ शब्दालंकार होता है, और इन दोनो (अभंग-सभंग) में अर्थ विचारने में ही चमत्कार है। इस कारण श्लेष-मात्र को अर्थालंकार ही मानना चाहिए।

सर्वस्वकार—का कहना इस प्रकार से है कि सभंग श्लेष में दो शब्दों की मिलावट होने से शब्दालंकार मानना पड़ेगा, तथा अभंग पद में एक ही शब्द में दो अर्थ होने से अर्थालंकार मानना चाहिए।

'तेगहि कै भेंटै' वाक्य उपर्युक्त भूषणवाले छंद में आया है, जिसके अर्थ 'पकड़कर' या 'तलवार से भेंटने' के होते हैं (ते गहि कै या तेगहि कै)। सभंग श्लेष में आप लाक्षाकाष्ठ-न्याय से दो शब्दों की मिलावट होने के कारण शब्दालंकार मानते हैं; जैसे तेगहि=ते गहि। उनके मत से यहाँ दो शब्द इस प्रकार मिलते हैं, जैसे दो लकड़ी के टुकड़े लाख से जोड़ दिए जायँ, जिसे लाक्षाकाष्ठ-न्याय कहते हैं।

दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि यहाँ दो शब्द एक में मिले हैं,

किंतु अलग भी किए जा सकते हैं, जिससे एक शब्द दो का काम देता है। अतएव इसे शब्दालंकार मानना चाहिए।

आगे अब अभंग श्लेष को लीजिए। सर्वस्वकार इसे एक वृंत (टेंभुए) से निकले हुए अथच एक ही में जुड़े हुए दो (सौतिया) फलों के न्याय से अर्थालंकार मानते हैं। यहाँ शब्द को वृंत समझना चाहिए, और दो अर्थ जोरिहा फलों के समान हैं। जैसे वास्तव में दो होकर भी वे फल एक ही के समान हैं, वैसे ही अर्थ दो होने पर भी शब्द एक ही है। जैसे भूषण के उपर्युक्त छंद में 'अरि लंक तोर' में लंक शब्द के लंका तथा कमरवाले दो अर्थ हैं। यहाँ एक वृंतवत् शब्द तो एक ही है, तथा अर्थ फलवत् दो हैं।

मम्मटादि—उधर मम्मट, विश्वनाथ आदि कई आचार्यों का मत है कि अभंग और सभंग, दोनो ही शब्दालंकार हैं। उनका कहना है कि शब्दालंकार में जहाँ शब्द का परिवर्तन सह्य हो सके, वहाँ अर्थालंकार है, और जहाँ वह असह्य हो, वहाँ शब्दालंकार होगा।

जैसे 'तेगहि कै भेंटै' वाक्य शब्द-परिवर्तन नहीं उठा सकता, क्योंकि ऐसा करने से श्लेष निकल जायगा। अतएव यहाँ शब्दालंकार है।

हमने उद्भट के मत को ग्राह्य समझकर ही श्लेष को अर्थालंकारों में लिखा है। वह श्लेष को अर्थालंकार मानते हुए भी उसके अभंग और सभंग भेदों को क्रमशः अर्थालंकार तथा शब्दालंकार लिखते हैं। इसका कारण उनकी तर्कावली देखते हुए समझ में नहीं आता है। शायद उन्होंने ऐसा कथन इतरों के मतानुसार (अपने विचारों के प्रतिकूल) कर दिया हो।

मुरारिदान—का कथन है कि जहाँ शब्द में रहकर अलंकार शोभा बढ़ावे, वहाँ शब्दालंकार है, और जहाँ वह अर्थ में आकर चमत्कार दिखलावे, वहाँ अर्थालंकार। यथा—

हरत जु रम्या भोज-श्री कुवलय को श्री देत ;
रबि-बंसी जसवंत को यह ब्यतिक्रम किहि हेत ।
(मुरारिदान)

यहाँ रम्या भोज-श्री का एक अर्थ है कमल की सुंदर शोभा, तथा दूसरा है राजा भोज की रम्य संपदा। कुवलय का एक अर्थ है भू-मंडल (कु=भूमि, वलय=कंकण, मंडल), और दूसरा नील कमल। यहाँ रम्या भोज-श्री और कुवलय में वह शब्दश्लेष मानते हैं, क्योंकि वह इन्हें दो शब्दों के बराबर कहते हैं। सभंग श्लेष में वह शब्दालंकार मानते हैं। वास्तव में इनका और सर्वस्वकार का एक ही मत है।

उदयारूढ़रु कांति-युत मडल रक्त बखान ;
मृदु कर लोगन हिय हरत राजा यह बुधवान।
(मुरारिदान)

उन्होंने इसका अर्थ यह किया है—राजा-पक्ष—उदयारूढ़ (वृद्धि को पाया हुआ), कांति-युत (तेजवाला), मंडल रक्त (जिसमें देश अनुराग-युक्त है), मृदु कर लोगन हिय हरत (मृदु, सूक्ष्म कर—टैक्स से लोगों का मन हरता है), राजा (नृपति), बुधवान (बुद्धिमान्)।

चंद्रमा-पक्ष में—उदयारूढ़ (उदयाचल पर चढ़ा हुआ), कांति-युत (प्रकाश-युक्त), मंडल रक्त (लाल बिंबवाला), मृदु कर (कोमल किरणों से), राजा (चंद्र), बुधवान (बुधवाला। बुध चंद्र-पुत्र थे)।

इन शब्दों के जो अनेकार्थ किए गए हैं, वे कोषस्थ अर्थों के आधार पर हैं। अतएव मुरारिदान यहाँ अर्थश्लेष मानते हैं, क्योंकि कोष के बल से कहे हुए शब्दों के अनेकार्थों का साथ ही भान हो जाता है।

इस ग्रंथ के प्रणेताओं का मत—कर्मकुशल=कर्म+कुशल। यह शब्द दो शब्दों के बराबर है, अतः कुछ इतरों के अनुसार इसको भी शब्दालंकार माना जाना चाहिए, हमारे मत में ठीक नहीं। मुखचंद्र=मुख के रूपवाला चंद्र। यहाँ भी एक शब्द के

अनेक शब्दों के बराबर होने से उनके अनुसार आपको शब्दालंकार मानना चाहिए।

अब शब्द परिवर्तन कर देने से अलंकार के न रहनेवाले सिद्धांत को लेते हैं। चंद्रमुख=चंद्र के रूपवाला मुख। यहाँ रूपक बना है। अब इसी को इस प्रकार परिवर्तन कीजिए—'शशि के समान सुंदरता में सादृश्यवाला मुख'। अब यहाँ रूपक रहता नहीं; अतः प्रश्न यह होता है कि रूपक को शब्दालंकार कहें या अर्थालंकार ? उत्तर स्पष्ट ही होगा कि अर्थालंकार।

इस कारण जहाँ शब्द परिवर्तन से अलंकार न रहे, वहाँ शब्दालंकारवाला सिद्धांत नहीं टिकता। इस हेतु यहाँ सिद्धांत मानना चाहिए कि जहाँ सुनने में सुंदर लगे, वहाँ शब्दालंकार हो, और जहाँ अर्थ विचारने में सौंदर्य ज्ञात हो, वहाँ अर्थालंकार।

यदि आप कहें कि एक के स्थान पर केवल एक ही पर्यायवाची शब्द परिवर्तन करना चाहिए, तो हमारा कहना है कि शब्दों का अर्थ उनके प्रयोग पर निर्भर होने से वे शब्द पर्यायवाची माने जाने के अयोग्य होने से यह हमको मान्य नहीं दीखता।

श्लेष की प्रधानता तथा अप्रधानता—अब इस विषय पर भी विचार प्रकट किए जाते हैं कि श्लेषालंकार कहाँ मान्य है और इतर अलंकार कहाँ ?

प्रथम उद्भट का मत है—विना किसी अन्य अलंकार की सहायता के स्वतंत्र रूप से श्लेष नहीं आ सकता। अतः व्याकरण के नियम (निरवकाशो विधिरपवादः) से जहाँ श्लेष के साथ कोई दूसरा अलंकार हो, वहाँ श्लेष ही की मुख्यता मान्य है।

द्वितीय मम्मटादि का मत है—श्लेष दूसरे अलंकारों के साथ होता है और स्वतंत्र भी। जहाँ वह दूसरे अलंकार के साथ रहता है, वहाँ कहीं उसकी मुख्यता रहती है, और कहीं इतर की।

तृतीय मत—यदि श्लेष किसी इतर अलंकार के साथ हो, तो उसी इतर की मुख्यता होगी।

अजौं तरयोना ही रह्यो स्रुति सेवत इकरंग;
नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकुतन के संग।

(बिहारी)

उद्भट यहाँ तुल्ययोगिता नहीं मानते। उनका कहना है, ऐसा मानने से श्लेष को अवकाश ही न रह जायगा, क्योंकि वह उनके अनुसार इतर अलंकारों से स्वतंत्र बनकर आता ही नहीं।

तुल्ययोगिता (नं० १४) में तीन बातों की मुख्यता रहती है। यथा—

ती के उर बाढ़त उरज, पी के उर अनुराग।

(ब्रह्मदत्त)

(१) यहाँ अनुराग और उरज, दोनो पृथक् शब्दों द्वारा कहे गए हैं। (२) उनका बढ़ना एक ही धर्म एक ही शब्द द्वारा कथित है। (३) धर्म दोनो का एक ही होने से सादृश्य आ गया है।

आज तक यह 'तरयोना' (अधोवर्ती या कर्णभूषण) ही रहा, यद्यपि एक ही रीति से श्रुति (वेद या कान) का सेवन करता रहा है। (१) इसमें भूषण अथच अधोवर्तीपन, दोनो के कथन पृथक् शब्दों द्वारा पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वरन् केवल तरयोना शब्द (या शब्दों) से उनका बोध हुआ है। (२) दोनो का धर्म 'श्रुति-सेवा' है, (३) परंतु अर्थ कान के पास रहने या वेद पढ़ने के अलग-अलग हैं। जब इनके धर्म एक ही शब्द द्वारा व्यक्त होकर भी वास्तव में पृथक् हैं, तब इनमें सादृश्य भी गम्य नही कहा जा सकता। इस कारण उपर्युक्त दोहे में तुल्ययोगिता का मेल न होकर केवल श्लेषालंकार है। इसलिये, हमारी समझ में, यह कहना ठीक नहीं कि श्लेष इतर अलंकारों से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से नहीं आ सकता। यही मत मम्मटादि का है।

कान्ह हरि उदौ करयो, जगत को तम हरयो,
अरि बिचलाय मेट्यो चलन कुपथ को।
(दूलह)

ऐसे स्थान पर उद्भट दीपकालंकार (नं० १५) नहीं मानते। दीपक और तुल्ययोगिता में इतना ही भेद है कि पहले में वर्ण्यों और अवर्ण्यों का एक धर्म होता है, तथा दूसरे में जो धर्म की एकता होती है, वह या तो वर्ण्यों ही की या अवर्ण्यों ही की रहती है। शेष बाते दोनो में समान हैं। अतः उपर्युक्त कारणों से यहाँ भी दीपक न होकर केवल श्लेष है।

श्लेष अन्य अलंकारों के साथ कई प्रकार से आता है—

श्लेष अंगभूत अलंकार की अप्रधानता तथा अंगी की प्रधानता—

मरु मारग इव अधर तुव बिद्रुम छाया नारि!
अतिहि पिपासा आकुलित केहि नहिं करत 'मुरारि'?
(मुरारिदान)

हे नारी! मरुस्थलवाले मार्ग के समान विद्रुम छाया (मूँगा के रंगवाला या पत्त-युक्त वृक्षवाला)-युक्त अधर किसको पिपासाकुल नहीं करता? यहाँ विद्रुम छाया के दो अर्थ होने से श्लेष है, तथा इव शब्द से उपमा अलंकार। अब प्रश्न यह है कि मुख्यता किसकी है? 'मरु मारग छाया इव अधर तुव' में उपमा सिद्ध हो जाती है, तथा 'विद्रुम' में आया हुआ श्लेष उसका पोषक-मात्र है। अतः श्लेष उपमा का अंग-मात्र हो जाता है तथा उपमा अंगी। इससे अंगभूत श्लेष अमुख्य हो जाता है, तथा अंगी उपमा मुख्य रहती है।

पूर्णोपमा में श्लेष का होना या न होना—किसी-किसी का कहना है कि जहाँ पूर्णोपमा होती है, वहाँ श्लेष आ ही जाता है।

आयसु को जोहै, आगे लीन्हे गुरुजन गन,
    बस में करत जो सुदेस रजधानी है।
महा महाजन धन लै-लै मिलैं स्रम बिन,
    पदुमन लेखै 'दास' बास यों बखानी है;
दरप न देखै सुबरन रूप भरी बार-
    बनिता बखानी है कि सेना सुलतानी है।
                                    (दास)

अर्थ सेना-पक्ष में—समरथ बैस=जवान योद्धा-युक्त। गुरुजन गन=गदाधारी योद्धाओं के समूह। सहसनि मन मानी है=हज़ारों ने उसे मन में (महत्ता-युक्त) माना है। पदुमन लेखै=पद्मों (संख्या पद्म, शंख आदि) की संख्या में योद्धा हैं। बास=यश की सुगंध। दरप न देखै=किसी का अभिमान नहीं देख सकती। सुबरन रूप भरी वार=सोने से रूप भरितवाली।

अर्थ वनिता-पक्ष में—गजराज राजैं=उसके यहाँ श्रेष्ठ हाथी हैं। समरथ बैस=सशक्ति अवस्थावाली, सुंदरी। आयसु को जोहै=सामान्या होने से सबकी आज्ञा में रहती है। आगे लीन्हे गुरुजन गन=वयस्क कुटुंबी आगे चलते हैं। पदुमन लेखै=वह पद्मिनी समझी गई है, या पद्मों धन उसके पास है। वारवनिता=सामान्या। यहाँ सेना तथा वार-वधू में सादृश्य न होने से संदेह का आभास-मात्र है। मुख्य अलंकार श्लेष है।

श्लेष अन्य का अनुप्राणक—

तजि रसाल अलि दूरि ते आयो तुव दल माँझ;
उचित न है मुख मूँदिबो साहब सरसिज साँझ।
                                    (ऋषिनाथ)

यहाँ कवि कमल का संबोधन करके कहता है, सो वही प्रस्तुत है, किंतु सुनाता छंद किसी और को है, जिससे वह भी प्रस्तुत है। अतएव

प्रस्तुतांकुर (नं० २८) अलंकार है। रसाल, दल और मुख मूँदिबो शब्दों में छंद श्लिष्ट है। कवि की मुख्यता संबोधन के कारण प्रस्तुतांकुर पर है, जो मुख्य है, और श्लेष साक्षात् कारण होने से अनुप्राणक।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट है कि (१) श्लेष कहीं पर स्वतंत्र, (२) कहीं दूसरे का अंग, (३) कहीं आभास-मात्र, (४) कहीं अन्य का अनुप्राणक और (५) कहीं (श्लेष) मुख्य तथा (६) दूसरा आभास-मात्र होता है।

नोट—इसी प्रकार अन्य अलंकार की भी मुख्यता तथा अमुख्यता का विचार करके कौन अलंकार कहाँ है, बतलाना चाहिए।

अप्रस्तुत प्रशंसा (२७)

अप्रस्तुत प्रशंसा—में अप्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुत का कथन आता है।

इसके पाँचों भेदों के नाम हैं (१) सारूप्य निबंधना, (२) कार्य निबंधना, (३) कारण निबंधना, (४) सामान्य निबंधना और (५) विशेष निबंधना।

(१) सारूप्य निबंधना—में अप्रस्तुत के कथन में प्रस्तुत का वर्णन होता है। यथा—

बन-उपवन घन कुसुम गन देखत सकल मँझाय ;
बड़ो सयानो मधुप है, बँधत न कंज बिहाय।
(वैरीशाल)

यहाँ नायिका के प्रति सखी की उक्ति होने के कारण भ्रमर और कमल-वृत्तांत अप्रस्तुत हो जाता है, और नायक का वर्णन प्रस्तुत रहता है।

पाइ तरुनि-कुच-उच्च पद चिरम ठग्यौ सबु गाउँ ;
छुटे ठौर रहिहै वहै, जु है मोलु छबि नाउँ ।
(बिहारी)

मोलु=मूल्य ।

जनमु जलधि, पानिपु बिमलु, भौ जग आघु अपार ;
रहै गुनी ह्वै गर परयौ, भलै न मुकता-हार ।
(बिहारी)

आघु=मोल । रहै...गर परयौ=गुणी होकर गले पड़के (पालक के पास हठ-पूर्वक) रह रहा है ।

गहै न नेकौ गुन गरबु, हँसौ सबै संसारु ;
कुच-उच पद-लालच रहै गरैं मरैं हू हारु ।
(बिहारी)

रे रे चातक ! मन लगाय किन मीत सुनै मम ;
बहुत मेघ नभ बसत, सबै नहिं होत एक सम ।
बर्षि-बर्षि जल करत एक पुहुमी प्रसन्न अति ;
गर्जि-गर्जिकै ब्यर्थ कान फोरत इक दुर्मति ।
यहि हेत इती यह सीख मम चित्त माहिं निज राखिए ;
जेहि-जेहि देखहु, तेहि-तेहि निकट दीन बचन जनि भाखिए ।
(विशाल)

छंद भर्तृहरि के आधार पर है ।

बात झूलि रे फूल ! यों निज श्री भूलि न फूलि ;
काल कुटिल को कर निरखि, मिलन चहत तैं धूलि ।
(दुलारेलाल भार्गव)

यहाँ फूल का तथा उपर्युक्त छंद में चातक का यद्यपि संबोधन हुआ है, फिर भी वास्तव में वह प्रस्तुत नहीं है, जिससे सारूप्य निबंधना आती है । यदि संबोधन के कारण ये भी प्रस्तुत माने जायँ, तो अलंकार प्रस्तुतांकुर (नं० २८) हो जायगा ।

वैधर्म्य से सारूप्य निबंधना—

पट्टु पाँखे, भखु काँकरी, सपर परेई संग ;
सुखी परेवा ! पुहुमि मैं एकै तुही बिहंग।
(बिहारी)

यहाँ विरही होने से वर्णनकर्ता कबूतर को अपने से अच्छा बतला रहा है, क्योंकि उसके साथ कबूतरी सदा रहती है। यहाँ कबूतर का वर्णन वास्तव में अप्रस्तुत है, यद्यपि संबोधन उसी का किया गया है, और नायक का प्रस्तुत। वह सुखी है और यह दुखी, यही वैधर्म्य है। सपर=परवाली। कपड़ों का भी प्रबंध नहीं करना पड़ता, क्योंकि पंख ही पट हैं।

(२) कार्य निबंधना—कारण प्रस्तुत रहते हुए भी कार्य के कहने में होती है। यथा—

पद धोवत कछु कांति छुटि पहुँची जलनिधि जाय ;
मथत सिंधु सोइ सार बनि प्रगट्यो निसिकर आय।
(कस्यचित्कवेः)

यहाँ अलौकिक सौंदर्य का वर्णन प्रस्तुत है, किंतु उसे न कहकर कवि ने पैर धोने से निकली हुई कांति से कार्य रूप चंद्रोत्पत्ति कहकर उसे (कांति को) प्रकट किया है।

हम ख़ूब तरह से जान गए, जैसा आनँद का कंद किया ;
सब रूप शील गुण तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया।
तुझ हुस्न-प्रभा की बाक़ी ले फिर विधि ने यह फरफंद किया ;
चंपकदल सोनजुही नर्गिस चामीकर चपला चंद किया।
(शीतल)

यहाँ भी वही बात है।

(३) कारण निबंधना—में अप्रस्तुत कारण से कार्य निकलता है। यथा—

लई सुधा सब छीनि बिधि तो मुख रचिबे काज ;
सो अब याही सोच सखि, होत छीन दुजराज ।
(वैरीशाल)

यहाँ अपूर्व शोभा-रूप कार्य प्रस्तुत है, वह न कहकर उपर्युक्त कारण के रूप में कवि ने कहा है । द्विजराज चंद्रमा को कहते हैं ।

तुव अधरन के हित सुरन मथि लिय अमृत जु सार ;
सु यहि दुसह दुख सों अहै अब लौं सागर खार ।
(पद्माकर)

यहाँ भी वही प्रयोजन है ।

(४) सामान्य निबंधना—में विशेष प्रस्तुत के लिये सामान्य अप्रस्तुत कहा जाता है । यथा—

आनन चंद निहारि-निहारि नहीं तन औ' धन जीवन वारैं ;
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिये, मति को गहि ताहि निवारैं ।
क्यों करि धौं मुरली मनि कुंडल मोरपखा बनमाल बिसारैं ;
ते धनि, जे ब्रजराज लखैं, गृह-काज करैं, अरु लाज सँभारैं ।
(मतिराम)

यहाँ वक्ता यह व्यंजित करता है कि भगवान् का ऐसा सुंदर रूप देखकर भी वह अपने को सम्हाले हुए है । प्रयोजन अपनी सखी की बड़ाई का है, जो प्रस्तुत है, अथच जो एक व्यक्ति के विषय में होने से विशेष है । इस विशेष प्रस्तुत के कथन के लिये सामान्य अप्रस्तुत उन अनेक युवतियों का कथन हुआ है, जो ऐसा कर सकती हैं ।

(५) विशेष निबंधना—में सामान्य प्रस्तुत के लिये विशेष अप्रस्तुत कहा जाता है । यथा—

काटि लेत तरु बाढ़ई सूधे - सूधे जोय ;
बन में टेढे वृक्ष को काटत है नहिं कोय ।
(पद्माकर)

यहाँ कहना यह था कि टेढ़े आदमियों को कोई नहीं सताता। यह प्रस्तुत सामान्य रूप था। यह न कहकर अप्रस्तुत टेढ़े वृक्ष का किसी बढ़ई द्वारा न काटा जाना कहा गया है, जो वाक्य एकवचन होने के कारण विशेष रूप में है।

प्रस्तुतांकुर (२८)

प्रस्तुतांकुर—में वाच्य रूप वस्तुतः अनिच्छित प्रस्तुत के द्वारा व्यंग्य रूप इच्छित प्रस्तुत का द्योतन होता है। यथा—

फूली रसरली भली मालती समीप तू
अली, कनैर-कली को कलेस देत काहे ते ?

(दूलह)

इसमें भ्रमर (अनिच्छित) प्रस्तुत है, क्योंकि उसी का संबोधन हो रहा है, परंतु वास्तव में कवि की इच्छा उसके वर्णन की नहीं। उधर नायक इच्छित प्रस्तुत है, क्योंकि उसी का समझाना अभीष्ट है, तथा उसी से बात हो रही है। प्रयोजन यह है, हे भ्रमर ! तू फूली हुई रस-युक्ता मालती (प्रौढ़ा) के आगे न फूली हुई, रस-हीना कनेर-कली (मुग्धा) को क्यों सताता है ? सखी नवोढ़ा मुग्धा को छोड़कर प्रौढ़ा से अनुरक्ति की शिक्षा देती है।

सुबरन बरन सुबास-युत सरस दलनि सुकुमार ;
चंपकली को तजत अलि ! तैं हीं होत गँवार।

(मतिराम)

यहाँ चंपे की कली से व्यंग्य द्वारा प्रयोजन नवोढ़ा मुग्धा का है। सखी की उक्ति है। भ्रमर के प्रति संबोधन से वह विषय भी प्रस्तुत है। इससे प्रस्तुतांकुर अलंकार हुआ।

प्रस्तुतांकुर का अप्रस्तुत प्रशंसा में अंतर्भाव—पंडितराज का कथन है कि ऐसे स्थानों पर वक्ता का मुख्य प्रयोजन तो व्यंग्य विषय

से होता है। अतः वाच्य विषय प्रस्तुत होने पर भी वास्तव में अप्रस्तुत ही हुआ। इस हेतु ऐसे वर्णनों में प्रस्तुतांकुर न मानकर अप्रस्तुत प्रशंसा माननी चाहिए। इस कथन में बहुत कुछ सार है, तथापि हिंदी के आचार्यों ने ऐसे स्थानों पर अप्पय्य दीक्षित के मत पर चलकर प्रस्तुतांकुर ही माना है। वास्तव में यह अप्रस्तुत प्रशंसा का एक भेद-मात्र कहा जा सकता है।

लाल प्रबाल लसै रस-अंचित, कोकिल-चंचु चुभी अति पैनी ;
हंसनि सों लरि घाइल अंग बिलोकिए कोक-सरोरुह-नैनी।
खेलति बाग की बाउरी-बीच सहेली कि बात सुनै पिक-बैनी ;
पानि सों आनन, अंचल सों उर ढाँकि लियो लहि लाज की सैनी।

(कुमारमणि)

प्रवाल=नवीन पल्लव। अंचित=युक्त। बाउरी=एक प्रकार का दीर्घाकार कूप। यहाँ कोकिल की चंचु के प्रहार से चिह्नित रक्त नवीन पल्लव तथा हंसों द्वारा क्षत कमल (जो कि वस्तुतः प्रस्तुत नहीं) के वर्णन से दंत-क्षत अधर तथा नख-क्षत-युक्त हृदय-प्रदेश (जो कि वक्ता का वस्तुतः ईप्सित वृत्तांत है) का वर्णन व्यंग्य रूप में किया गया है। अतः प्रस्तुतांकुर अलंकार हुआ।

स्वारथु, सुकृतु न, स्रम बृथा, देखि बिहंग, बिचारि ;
बाज, पराए पानि परि तू पच्छीनु न मारि।

(बिहारी)

बाज़ और पक्षी प्रस्तुत हैं। उधर ऐसा व्यक्ति भी प्रस्तुत है, जो पराए (दूसरी जातिवाले व्यक्ति) के लिये अपनी जातिवालों को सताता है।

जो पदुमिनि केवल तुमहिं लखे लहत सुख पूर ;
चले ताहि तजि अब अनत, भए सूर तुम कूर।

(वैरीशाल)

सुनिए बिटपि प्रभु ! पुहुप तिहारे हम,
राखिहौ हमैं, तौ सोभा रावरी बढ़ायहैं ;
तजिहौ हरषिकै, तौ बिलगु न मानैं कछू,
जहाँ-जहाँ जैहैं, तहाँ दूनो जस छायहैं ।
सुरन चढ़ैंगे, नर-सिरन चढ़ैंगे, बर
सुकबि 'अनीस' हाट-बाट मैं बिकायहैं ;
देस मैं रहैंगे, परदेस मैं रहैंगे, काहू
भेस मैं रहैंगे, तऊ रावरे कहायहैं ।
(अनीस)

छपद छबीले ! रस पीवत सदीव, छीब
लंपट निपट प्रीति कपट ढरे परत ;
भंग भए मध्य, अग डुलत, खुलत साँस,
मृदुल चरन चारु धरनि धरे परत ।
'देव' मधुकर ! ढूक ढूकत मधूक धोखे,
माधवी मधुर मधु लालच लरे परत ;
दुहु पर जैसे जलरुहु परसत, इहाँ
मुहुँ पर भाईं परे पुहुप झरे परत ।
(देव)

यहाँ प्रस्तुत भ्रमर पर ढालकर प्रस्तुत नायक से उपालंभ कथित है । पहले चरण में उन्मत्त छीव (भ्रमर) की कपट-भरी प्रीति का कथन है, और दूसरे में शारीरिक दशा का । मधुकर भौंरे को कहते हैं, और मधूक महुवे को । सखी कहती है, जैसे दोनो पंखों से तुम कमल का स्पर्श करते हो, वैसे ही यहाँ महुवे के मुख पर तुम्हारी परछाईं पड़ते ही उसके फूल झड़े पड़ते हैं । अर्थात् जो भ्रमर कमल का लोभी है, वह यदि महुवे के पास जाय, तो न उसकी शोभा है न महुवे की । सखी भ्रमर के व्याज से नायक को केवल पद्मिनी नायिका से अनुकूलता की शिक्षा देती है ।

केतकी के हेत कीन्हे कौतुक कितेक तुम,
पैठि परिमल मैं गए हौ गड़ि गात ही ;
मिले मल्लि-बल्लिन लवंगन सों हिले, दुरि
दाड़िमन मिले पुनि पाँडर की घात ही।
कीन्ही रसकेली, साँझ चूमत चमेली बाँझ,
'देव' सेवतीन माँझ भूले भहरात ही ;
गोद लै कुमोदिनि बिनोद मान्यो चहूँ कोद,
छपद ! छिपे हौ पदुमिनि मैं प्रभात ही।
(देव)

नायक से यहाँ सखी का उपालंभ बहुतों से प्रेम करने का है।

परिमल=मकरंद। गए हौ गड़ि गात ही=केवल मन से न गड़कर शरीर-सहित गड़ गए हो। सेवती=जंगली गुलाब। मल्ली=बेला। दाड़िम=अनार। पाँडर=एक प्रकार की चमेली।

दाड़िम में छिपकर जाने से यह प्रयोजन है कि उसके तोड़ने में विलंब होता, जिससे अधिक समय लगने के कारण छिपकर काम करने का मतलब था। जब इतनी युक्ति से दाड़िम फोड़ा था, तब उसमें कुछ ठहरना था, किंतु उसी समय पाँडर में भी घात लगाए हुए थे। प्रयोजन जारपन से है। चमेली में फल नहीं लगते, इसी से वह बाँझ कही गई है।

पर्यायोक्ति (२६)

सम्मिलित लक्षण—इष्ट को प्रकारांतर से कहना या करना पर्यायोक्ति है *।

---

* अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ;
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तिं तदिष्यते।
(दंडी)

प्रथम पर्यायोक्ति—में प्रस्तुत धर्मी या धर्म को छोड़ उसे प्रस्तुत रूप में अन्य प्रकार से कहना होता है। यथा—

> महाराज सिवराज, तेरे बैर देखियत
> घन बन ह्वै रहे हरम हबसीन के;
> 'भूषन' भनत तेरे बैर रामनगर
> जवारि पर बहबहे रुधिर नदीन के।
> सरजा समत्थ बीर! तेरे बैर बीजापुर
> बैरी बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के;
> तेरे रोस देखियत आगरे, दिल्ली मैं बिन
> सिंदुर के बुंद मुख इंदु जमनीन के।
> (भूषण)

पहले पद में प्रस्तुत धर्मी हैं हबसिनें, जिनका प्रस्तुत धर्म है घर से भाग जाना। उसे न कहकर कवि ने उनके हरमों के जंगल हो जाने का प्रस्तुत रूप में कथन अन्य प्रकार से किया है। दूसरे पद में प्रस्तुत धर्म है आफ़त में पड़ना, जिसे न कहकर कवि ने प्रस्तुत रुधिर की नदी बहने-वाले दूसरे प्रकार से कहा है। तीसरे पद में प्रस्तुत धर्म है वैरियों का मारा जाना, जिसके लिये उनकी स्त्रियों के वैधव्य का कथन किया गया है। चौथा चरण भी ऐसा ही है।

> जाके लोचन करत हैं कुवलय कंज प्रकास;
> सो भाऊ भुवपाल के करत हिये नित बास।
> (मतिराम)

यहाँ कहने का प्रयोजन है कि विराट् रूपी विष्णु भाऊ के हृदय में बसते हैं। विष्णु यहाँ प्रस्तुत धर्मी रूप हैं। उन्हें न कहकर कवि ने उनके प्रस्तुत धर्म कुवलय-कंज-प्रकाशक लोचनों का कथन किया है, क्योंकि चंद्र-सूर्य उनके लोचन माने गए हैं।

आली झुलावति झूकनि सों, झुकि जाति कटी झननाति झकोरे ;
चंचल अंचल की चपला चल बेनी बड़ी सो गड़ी चित चोरे ।
या बिधि झूलत देखि गयो तब ते कबि 'देव' सनेह के जोरे ;
झूलत है हियरा हरि को हिय माहिं तिहारे हरा के हिंडोरे ।
(देव)

यहाँ प्रस्तुत प्रयोजन है मोहित होना, जिसे न कहकर हृदय का हार के हिंडोरे पर झूलना कहा गया है ।

यक तौ जिनके तन माहिं जड़ी, दुसरी रुचि सों तिय मूड़ चढ़ै ;
जिनके बर भाल मैं ज्वाल कराल, गरो जिनको अहि-पाँति मढ़ै ।
जिनकी छिपिकै हू कथा सुनतै सुक अम्मर ह्वै नित पाठ पढ़ै ;
तिनके पद-पंकज मैं निसि-द्यौस 'बिसाल' कि पूरन प्रीति बढ़ै ।
(विशाल)

यहाँ प्रयोजन महादेवजी के कथन का है, जो घुमाकर व्यक्त किया गया है, सीधे नहीं ।

जौ लौं रबि-कर करैं काल्हि उदयाचल चुंबन ;
तासु प्रथम सब चलौ सुजस लूटन जोधागन ।
(मिश्रबंधु)

यहाँ प्रयोजन बहुत सबेरे कहने का है, जो घुमाकर कहा गया है ।

मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश में अप्रस्तुत प्रशंसा का जो उदाहरण है, उसका अनुवाद यों है—

हे राजन ! नहिं बोलति रानी, राजसुता न पढ़ावति बानी ;
पथिक मुक्त सुक अरिन अटारी, क्रीड़ा करत चित्र प्रति भारी ।
(मुरारिदान)

यहाँ कवि को कहना था, हे राजन् ! तुम्हारी सेन-संधान सुनकर शत्रुओं ने महल छोड़ दिए । यह न कहकर कवि ने कहा है कि रानी महलों में नहीं बोलतीं, न आवाज़ से कोई राजसुता को पढ़ाता है ।

पथिकों द्वारा छुड़ाए हुए शुक अटा पर बैठे हैं, तथा वे ही तोते राज-चित्रों को असली समझकर उनसे खेल रहे हैं। यहाँ ये कारण बहुत दूर के होने से अप्रस्तुत-से दिखाई देते हैं। शत्रुओं ने चढ़ाई होने का हाल सुनकर महल छोड़ दिया, और डर के कारण वे सामान भी न ले जा सके, न तोतों को उड़ा सके; पथिकों ने जब देखा कि तोते भूखे-प्यासे हैं, तो उन्हें छोड़ दिया। वे चित्र देखकर यह कह रहे हैं। शत्रुओं के भागने में अनेक घटनाओं में एक यह भी घटी; अतः इसे दूरस्थ कारण कहा गया।

अलंकारसर्वस्व ने इन्हें प्रस्तुत मानकर यहाँ पर्यायोक्ति बतलाई है। मम्मट इन कारणों को दूरस्थ कह. अप्रस्तुत मानकर (यहाँ) अप्रस्तुत प्रशंसा मानते हैं। यह मतभेद है। ऐसे स्थानों पर बड़ों के आगे अपना मत कहना अयोग्य है, किंतु यह ग्रथ जिज्ञासुओं के समझाने को लिखा गया है, इसी से बतलाया जाता है कि मम्मट के अनुसार शुक-संवाद को अप्रस्तुत मानना ठीक जँचता है; अतः यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

द्वितीय पर्यायोक्ति—में किसी कार्य को प्रकारांतर से साधा जाता है। यथा—

> **आए वृषभानु-नंद, सुनो क्यों न सुख-कंद,**
> **राधे-व्रजचंद, छिपौ कोठरी हमारी में।**
>
> **(दूलह)**

यहाँ युक्ति से पराया हित किया गया है।

> **पूस-मास सुनि सखिन सन साईं चलत सबार;**
> **लै कर बीन प्रवीन तिय गायो राग मलार।**
>
> **(बिहारी)**

गायन-वादन-शास्त्रानुसार पूस में भी मलार गाने से वृष्टि होनी चाहिए, जिससे पति का जाना रुक जायगा, इससे मलार गाया गया। अपना हित युक्ति से किया गया है।

द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार नहीं, ध्वनि है—द्वितीय पर्यायोक्ति को संस्कृत के आचार्य दंडी तथा चंद्रालोककार (जयदेव) के मत से हिंदीवालों ने माना है।

मम्मट की टीका (उद्योत) के कर्ता का मत है कि यह ध्वनि है, अलंकार नहीं। यहाँ दोहे में तो ध्वनि है, किंतु कहीं-कहीं ध्वनि प्रकाशित हो जाने से व्यंग्य-मात्र रह जाती है। भाषा-संबंधी कोई उत्तमता न होने से इसे अलंकार न मानने में कुछ अनुचित नहीं।

अप्रस्तुत प्रशंसा से भेद—अब प्रश्न यह उठता है कि भूषण के उदाहरणवाले पहले चरण में स्त्रियों का भागना जब कारण है और घर का उजाड़ होना कार्य, तब वहाँ कार्य से कारण कही जानेवाली अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) क्यों न मानें? किंतु कार्य निबंधना में कारण प्रस्तुत होता है, और कार्य अप्रस्तुत तथा यहाँ वे दोनो प्रस्तुत होने से भेद प्रकट है।

पर्यायोक्ति से ध्वनि का पृथक्करण—

निश्चल व्यसनी पत्र पर है बलाक यहि भाँति,
मरकत-भाजन पै मनो अमल संख सुभ काँति।
(दास)

यहाँ भी पर्याय से स्थान की शून्यता कहनी है, किंतु उत्प्रेक्षा से बलाक के स्थिर कहे जाने से सिद्ध शून्यता को विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। वाच्यार्थ से इस व्यंग्यार्थ के विशेष सौंदर्य से यहाँ ध्वनि आ जाती है, और पर्यायोक्ति नहीं रहती।

व्याजस्तुति (३०)

व्याजस्तुति—में दूलह कवि के अनुसार चार भेद हैं, अर्थात् निंदा में स्तुति, स्तुति में निंदा, एक की स्तुति में दूसरे की स्तुति तथा एक की निंदा में दूसरे की निंदा निकलनी। यथा—

(१) कहा रीति रावरी, जो रंकौ को बिभूषौ गेह ?
(२) तुम - सो प्रबीन, गुरु - सेवा - ततपर को ?
(३) धन्य तुम चंद ! राधा-बैन-सम सुधा-धरे......
(४) याते निंदा पर को, बनाव देखौ हर को ;
जु राहु बिना धर को, तुम्हैं सो देत धरको ।

(दूलह)

व्याजस्तुति और व्याजनिंदा, दोनो मिलकर एक ही अलंकार समझे जाते हैं ।

लक्षण—प्रस्तुत व्यक्ति की निंदा से स्तुति या स्तुति से निंदा होने में व्याजस्तुति होती है ।

यहाँ पहले उदाहरण में निंदा में स्तुति है तथा दूसरे में स्तुति में निंदा । कथन दोनो में चंद्रमा से है । चंद्र ने गुरु-पत्नी का अपहरण किया था, जिससे स्तुति में निंदा निकलती है ।

तू तौ रातौ-दिन जग जागत रहत, वेऊ
जागत रहत रातौ-दिन बनरत हैं ;
'भूषन' भनत तू बिराजै रज भरो, वेऊ
रज भरे देहनि दरी मैं बिचरत हैं ।
तू तौ सूरगन को बिदारि बिहरत, सूर-
मंडलै बिदारि वेऊ सुरलोक रत हैं ;
काहे ते सिवाजी गाजी तेरोई सुजस होत,
तोसों अरिबर सरिबर-सी करत हैं ।

(भूषण)

यहाँ शिवाजी के विषय में रातोदिन चैतन्य रहने तथा राज्य-श्री-युक्त होने की प्रशंसा है, और यह भी कि वह योद्धाओं को मारते हैं । उधर शत्रु-मंडली परेशानी से रात-दिन जागती तथा धूल से भरी गुफाओं में फिरती अथच सूर्य-मंडल को बेधकर देव-लोक जाती है । बराबरी

शिवाजी से केवल शाब्दिक है। शिवाजी की निंदा में स्तुति है तथा शत्रुओं की स्तुति में निंदा। दोनो का वर्णन प्रस्तुत है, क्योंकि कवि का अभीष्ट दोनो के कथन से है।

स्तुति से निंदा—

बृद्ध बैस में भी पड़ोस के हो उपकारी;
जगत प्रेम सों पूरि बरैं तरुनी सुकुमारी।
पर बिधवा के ब्याह हेत चरचा जब आवै,
वही बृद्ध तब गुरु उदारता को दिखरावै।
इंद्रियजित बिधवा होन की सदा प्रबल आसा धरै;
पुनि ब्रह्मचरज के बिसद गुन का सप्रेम गायन करै।
(मिश्रबंधु)

देह धरी परकाज ही को, जग माँझ है तो-सी तुही सब लायक;
दौरि थकी, अँग स्वेद भयो, समुझी सखि ह्वाँ न मिले सुखदायक।
मोहूँ सों प्यार जनायो भली बिधि, जानी जु जानी हितून की नायक;
साँच कि मूरति, सील कि सूरति, मंद किए जिन काम के सायक।
(कुलपति मिश्र)

निंदा से स्तुति—

मातु-पिता को पता न लगै, नित माखनचोर ही मैं मन लावत;
जो तिय जाति अधोगति को, सुख सों रति कै तेहि मूड़ चढ़ावत।
मान-बिहीन बसै बन मैं, गुन-हीनहु के घर संपति छावत;
ऐसे दिगंबर सों करि नेह 'बिसाल' कहा निज नाम धरावत!
(विशाल)

धीवर को सखा है, सनेही बनचरन को,
गीध हू को बंधु, सबरी को मेहमान है;
पांडव को दूत, सारथी है अरजुनहू को,
छाती बिप्र-लात को धरैया तजि मान है।

ब्याध अवराधहारी, स्वान समाधानकारी,
करे छुरीदारी, बलि हू को दरबान है ;
ऐसो अवगुनी, ताके सेइबे को तरसत,
जानिए न कौन 'सेनापति' को समान है।
(सेनापति)

इस छंद में भी निंदा में स्तुति है।

व्याजस्तुति के वास्तव में दो ही भेद हैं—दूलह ने उपर्युक्तानुसार दो भेद और लिखे हैं, अर्थात् एक की स्तुति में दूसरे की स्तुति अथच एक की निंदा में दूसरे की निंदा। ऊपर के तृतीय उदाहरण 'धन्य तुम चंद......धरे' में चंद्र की स्तुति से राधा की स्तुति वास्तव में निकलती है। यह उदाहरण अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) का है। प्रस्तुत होने पर भी वास्तव में यहाँ चंद्र अप्रस्तुत है, क्योंकि कवि को राधा की प्रशंसा अभीष्ट है। निंदा में निंदावाला चौथा उदाहरण भी इसी प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा है। यहाँ कवि को चांद्र निंदा अभीष्ट है, और हर की निंदा केवल चंद्र की विवशता दिखलाने को की गई है। इस प्रकार व्याजस्तुति के असली भेद दो ही रह जाते हैं।

एक की निंदा से दूसरे की स्तुति निकलने में कुवलयानंद ने एक और व्याजस्तुति मानी है। यथा—

को तुम ? हौं कासिद राम कौ ;
कहाँ वानर हनुमान नाम कौ ?
पीट्यौ कपिन, जित्यौ इँद्रजित हू ;
या तैं भाज गयौ वह कित हू।
(मुरारिदान)

यह अप्पय्य दीक्षित द्वारा दिए हुए उदाहरण का अनुवाद है। अंगद लंका में कहते हैं कि पूर्व-पराजय के कारण हनुमान् ऐसे भाग

गए कि उनका पता ही नहीं रहा, क्योंकि इतर वानरों ने उन्हें पराजित होने के कारण लज्जित किया था। यहाँ हनुमान् की कल्पित निंदा में शेष सेना की स्तुति निकलती है। यहाँ सेना वास्तव में प्रस्तुत है, और हनुमान् का वृत्तांत अभीष्ट की तरह कहे जाने पर भी अप्रस्तुत। इसलिये अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) हो जाती है।

आक्षेप (३१)

आक्षेप—प्रतिषेध की उक्ति के होने पर होता है। इसके तीन भेद होते हैं।

प्रथम आक्षेप—अपने कहे हुए का निषेध करना होता है। यथा—

जाय भिरौ, न भिरे बचिहौ भनि 'भूषन' भौंसिला भूप सिवा सों ;
जाय दरीन दुरौ, दरियौ तजि कै दरियाव लवौ लघुता सों।
सीछन काज वजीरन को कहैं बोल यों आदिलसाहि सभा सों ;
छूटि गयो तौ गयो परनालो, सलाह कि राह गहौ सरजा सों।

(भूषण)

यहाँ पहले दो पदों में आक्षेप के दो उदाहरण हैं। कहने का मतलब यह कि तुम्हारे ही हित के लिये मना करता हूँ।

तव मुख विमल प्रसन्न अति रह्यो कमल-सो फूलि ;
नहिं-नहिं पूरन चंद-सो, कमल कह्यों मैं भूलि।

(दास)

यहाँ पहले विकास-रूपी धर्म मानकर वक्ता ने कमल कहा, और फिर निषेध के साथ उसमें उज्ज्वलता दिखलाकर सुंदरता को और भी पुष्ट किया।

दै मृदु पायन जावक को रँग नाह को चित्त रँगै रँग जातैं ;
अंजन दै करौ नैननि मैं सुखमा बढ़ि स्याम सरोज प्रभातैं।

सोने के भूषन अंग रचै 'मतिराम' सबै बस कीबे की घातैं ;
यों ही चलै न सिंगार सुभावहिं, मैं सखि ! भूलि कही सब बातैं ।
(मतिराम)

सोभा-सरबर-कमल को कै दरसन दै बीर !
अथवा बिहँसति-बलित रुख मुख लखाय बलबीर ।
(लछिराम)

इन दोहों में विकल्प (नं० ५३) न होकर प्रथम आक्षेप है ।

निषेधाभास—में वास्तविक निषेध न होकर उसका आभास-मात्र होता है । इसी को द्वितीय आक्षेप भी कहते हैं । यथा—

हौं न कहति तुम जानिहौ लाल ! बाल की बात ;
अँसुवा उड़गन परत हैं, होन चहत उतपात ।
(मतिराम)

मैं नहीं कहती हूँ, तुम स्वयं जान लोगे कि उसकी क्या दशा है । प्रयोजन कहने ही का है, किंतु निषेध के आभास से मुख्य कथन में विशेष विश्वास और उग्रता लाने का प्रयोजन है ।

हारे सबै उपचार के चार बिचार सखीन हू को हरि लैहै ;
ऊरध स्वास झकोरन तैं लखिबे हित चौकठ सों फिरि ऐहै ।
आज बिसासिनी की 'लछिराम' दसा यों परोसिनी कौ परि गैहै ;
मैन-सँदेसिनी हौं घनस्याम, घरी मैं कपूर-सी बावरि जैहै ।
(लछिराम)

तीसरे भेद—में प्रकट में तो कहना होता है, किंतु युक्ति से निषेध रहता है । यथा—

कोपल ते किसलय जबै होहिं कलिन ते फैल ,
तब चलाइए चलन की चरचा नायक नैल ।
(मतिराम)

यहाँ कहा तो जाता है कि वसंत में जाना ठीक है, किंतु तात्पर्य यह प्रकट करने का है कि ऐसा विचार ही अनुभव-शून्यता का है ।

विरोधाभास (३२)

विरोधाभास—में एक देशस्थित वस्तुओं में वास्तविक विरोध न होने पर भी कार्य-कारण-रहित विरोध देख पड़ता है । यथा—

दच्छिन नायक एक तुही भुव-भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै ;
दीन-दयाल न तोसो दुनी पर, म्लेच्छ के दीनहि मार मिटावै ।
श्रीसिवराज कहै कबि 'भूषन' तेरे सरूप को कोउ न पावै ;
सूर सुबंस में सूर-सिरोमनि ह्वै करि तू कुल-चंद कहावै ।

(भूषण)

यहाँ देखने में कई विरोध हैं, किंतु वे वास्तविक नहीं हैं । अनुकूल नायक एक-स्त्री-व्रत होता है, और दक्षिण कई से समान प्रीति करने-वाला । सूर्य-वंश में सूर (वीर) होकर वह कुल-चंद है । इनमें वास्तविक विरोध नहीं है, यद्यपि कहने-भर को सूर्य और चंद्र का साथ कथन एक ही में है ।

ज्यों-ज्यों पावक-लपट-सी तिय हिय सों लपटाति ,
त्यों-त्यों छुही गुलाब सैं छतिया अति सियराति ।

(बिहारी)

पावक-लपट-सी=अग्नि की ज्वाला-सी कांतिवाली । त्यों-त्यों छुही गुलाब सैं=वैसे-वैसे गुलाब से सींची हुई-सी ।

सब गुन-हीन, सब करम-बिहीन, पुन्य-
पापन सों छीन, रूप-रंग हू सों न्यारो है ;
सबसों बिरक्त, सब ही सों अनुरक्त, बास-
नानि को न भक्त, बासनानि को सहारो है ।

अक अरु आनँद सो रहत उदास, तऊ
सत चित आनँद, जगत रखवारो
सबसों पृथक, पुनि सबके समीप, जग-
रूप जगदीस एक ईश्वर हमारो है।

(मिश्रबंधु)

इच्छुन धरै न, त्यों नवीनता करै न,
बदलै न नेकु, तऊ सब जग रचि डारो है;
नभ-सम व्यापि रह्यो सकल पदारथन,
काहू सों तबौ न मिलि औरन बिसारो है।
सबसों मिलोई रहे, ध्यान मैं न आवै तऊ,
ऐसो कछू जाल जग-मोहक पसारो है;
सबसों पृथक, पुनि सबके समीप, जग-
रूप जगदीस एक ईश्वर हमारो है।

(मिश्रबंधु)

इन दोनो छंदों में देखने-भर को कई विरोध हैं, किंतु ईश्वर-संबंधी कथन होने से दार्शनिक तथा धार्मिक विचारों से शांत हो जाते हैं। दक्षिण नायक अनुकूलता का बाधक है, अथच अनुकूलता बाध्य। विरोध, विभावना और विशेषोक्ति, इन तीनो में विरोध केवल ऊपरी दृष्टि से होता है, वास्तविक नहीं। कुछ आचार्यों ने विरोधाभास के कई भेद माने हैं, जो वास्तव में दूसरे प्रकारों के उदाहरण-मात्र हैं।

विभावना (३३)

विभावना—के छ भेद हैं। सबमें न्यूनाधिक हेतु-हीन कार्य का कथन होता है।

प्रथम विभावना—में कारण के अनस्तित्व में कार्य होता है। यथा—

साहितनै सिवराज की सहज टेव यह ऐन ;
अनरीझे दारिद हरै, अनखीझे रिपु-सैन।
(भूषण)

दरिद्र-हरण कर लेने के कारण यहाँ (कार्य का पूरा होना) बाधक होकर तथा हेतु को बाध्य बनाकर उसका रूप थोड़ा रीझने पर कर देता है। इसी प्रकार अरि-सेन का विनाश हो गया ही, अतः उसका कारण नीति का वचन—"शत्रुनाश योग्य है"— मानना पड़ेगा।

जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर ;
उनहूँ बिनु छिन गहि रहत दगन अजौं वह ठौर।
(बिहारी)

लाज-भरी अँखियाँ बिहँसीं, बलि बोल कहे बिन उत्तर दीन्हों।
(मतिराम)

उत्तर देने का मुख्य हेतु है बोलना। यहाँ बिना बोले ही उत्तर मिल जाने से कार्य मुख्य हेतु (बोलने) का बाधक हो जाता है, और समझ पड़ता है कि किसी और प्रकार—इशारे आदि से—उत्तर दिया गया होगा।

स्रौन-बिहीन सदा सुनिबो करै, नैन बिना निरखै बर बेस को ;
नासिका के बिन सूँघै सुगंध, बिना रसना लहै स्वाद बिसेस को।
हाथ नहीं, पर काम करै नित, बेपग धाय सकै सब देस को ;
रूप नहीं, पै तऊ दरसै जग ब्रह्म सरूप 'बिसाल' महेस को।
(विशाल)

द्वितीय विभावना—में अपर्याप्त हेतु से कार्य होता है। यथा—

तिय ! कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिह्न भौंहँ कमान ;
चल चित बेधत चुकत नहिं बंक बिलोकनि बान ।
(बिहारी)

यहाँ चित्त का बेधना पूर्ण होकर कथित हेतु का बाधक हुआ । जब प्रत्यंचा-विहीन धनुष बेध नहीं सकता, तब कोई दूसरा कारण होगा ।

बिंध्य ते बुलंद जे दुचंद पाप-छल-छंद
एक जल-बिंदु ते अनंदि गंग धोए तैं ।
(लेखराज)

यहाँ एक जल-बिंदु इतने ऊँचे पाप धोने को अपर्याप्त था, किंतु हो ही जाने से पर्याप्तता सिद्ध है ।

आक-धतूरे के फूल चढ़ाए ते रीझत हैं तिहुँ लोक के साईं ।
(मतिराम)

यहाँ थोड़ी बात से कार्य हो जाने से मुख्य कारण श्रद्धा माननी पड़ती है ।

सुमिरौं वा बिघनेस को तेज-सदन, सुख-सोम ;
जासु रदन-दुति-किरन इक हरति बिघन-तम-तोम ।
(दुलारेलाल भार्गव)

नीचे के उदाहरणों में स्पष्ट कथन है—

बाने फहराने, घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस-देस के ;
नग भहराने, ग्राम-नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के ।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजाने अलि छूटे लटकेस के ;
दल के दरारे हुते, कमठ करारे फूटे,
केरा कैसे पात बिहराने फन सेस के ।
(भूषण)

केवल बाने का फहराना पर्याप्त कारण नहीं।

बाजि गजराज सिवराज सेन साजतहि
दिली दिलगीर दसा दीरघ दुखन की;
तनिया न तिलक सुथनिया पगनिया न,
घामै घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की।
'भूषन' भनत पति बाहँ बहियाँ न तेऊ
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की;
बालियाँ बिथुरि जिमि आलियाँ नलिन पर
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।
(भूषण)

सैन को सजाना-मात्र अपर्याप्त हेतु है।

रावरी कृपा की कोर लहिके कछूक गहि
गरब गँभीर पाप-पुंजन कमायों मैं;
देसन को चूर करि, सतगुन दूर करि,
कूर बनि केवल कुगुन अपनायों मैं।
सबको समान सतकार कै उदार ह्वैकै
जग-उपकार मैं कबौं न मन लायों मैं;
आरत ह्वै भारत पुकारत है नाथ! अब
पाहि-पाहि रावरी सरन तकि आयों मैं।
(मिश्रबंधु)

यहाँ कृपा थोड़ी ही हुई, किंतु गर्व बहुत हो गया।

तृतीय विभावना—में प्रतिबंधक के होते हुए भी कार्य हो जाता है। यथा—

मानत लाज-लगाम नहिं, नेकु न गहत मरोर;
होत तोहि लखि बाल के दग-तुरंग मुँहजोर।
(मतिराम)

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ;
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।

(बिहारी)

यहाँ लज्जा प्रतिबंधक होते हुए भी कार्य हो रहा है, जिससे किसी अन्य भारी कारण (प्रेम) का होना सिद्ध है। प्रतिबंधक की अपर्याप्तता का बाधक है कार्य का हो जाना।

पोषन-भरन है करत सब ही को जब,
क्यों न तब ईस कबिता को प्रतिपालैगो ;
बल को बिचार जब करत न पोषन मैं,
सिथिल कबिन तब कैसे वह घालैगो।
सोचिकै बिसंभर को भाव यह आसप्रद
कौन कबिता सों मतिमंद कबि हालैगो ;
अनुभव-छीन, रीति-पथ हू मैं दीन, तैसे
सकति-बिहीन कबि ग्रंथ रचि डालैगो।

(मिश्रबंधु)

यहाँ अनुभव आदि की कमी प्रतिबंधक है।

बीर बड़े-बड़े मीर पठान, खरो रजपूतन को दल भारो ;
'भूषन' जाय तहाँ सिवराज लियो हरि औरँगजेब को गारो।
दीन्हो कुज्वाब दिली-पति को, अरु कीन्हो उजीरन को मुँह कारो ;
नायो न माथहि दक्खिन-नाथ, न साथ मैं सैन, न हाथ हथ्यारो।

(भूषण)

घोर तरुनीजन बिपिन तरु नीजन ह्वै
निकसीं निसंक निसि आतुर अतंक मैं ;
गनैं न कलंक मृदु लंकनि मयंकमुखी,
पंकज-पगन धाईं भागि निसि-पंक मैं।

भूषननि भूलि पैन्है उलटे दुकूल 'देव'
खुले भुज-मूल प्रतिकूल बिधि बक मैं ;
चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध-भाँड़े, उन
पूत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं।

(देव)

भूषण के छंद में प्रतिबंधक पहले तथा चौथे पदों में हैं और देव-वाले में तीसरे पद को छोड़कर शेष तीनो में। नीजन=निर्जन।

जदपि चवाइनु-चीकनी चलत चहूँ दिसि सैन ;
तऊ न छाँड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन।

(बिहारी)

चवाइनु-चीकनी=चवावों से चुपड़ी हुई, भरी हुई। चलत चहूँ दिसि सैन=चारो ओर इशारेबाज़ी चल रही है।

चतुर्थ विभावना—में अकारण से कार्योत्पत्ति है। यथा—

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं,
जा दिन सिवाजी गाजी नेकु करषत हैं ;
सुनत नगारनि अगार तजि अरिन की
दारगन भागति न बार परखत हैं।
छूटे बार-बार, छूटे बारन ते लाल देखि
'भूषन' सुकबि बरनत हरषत हैं ;
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन मैं,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरषत हैं।

(भूषण)

भूषण ने यहाँ बालों के लिये काले मेघ और लालों के लिये अंगारों को कहा है। बादल से अंगारों का बरसना अकारण से कार्य की प्राप्ति है।

हँसत बाल के बदन मैं यों छबि कछू अतूल ;
फूली चंपक बेलि ते झरत चमेली फूल ।

(मतिराम)

पंचम विभावना—में विरुद्ध हेतु से कार्योत्पत्ति होती है ।

यथा—

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सोहाई ;
मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल डोलनि मैं छबि छाई ।
लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई !
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियानि लोनाई ।

(मतिराम)

लाल ! रावरे रूप की निपट अनोखी बानि ;
अधिक सलोनो है, तऊ लगत मधुर अँखियानि ।

(रामसिंह)

इन दोनो छंदों में लोनाई मिठाई के लिये विरुद्ध हेतु है ।

भूले भए भट भारे भाँति-भाँति भूरि भाँड़े
नेकु नाम सुमिरत ही ते डारे भुंजि ते ;
दीरघ दरिद्र दुख गरुवे सुमेरु - सम
एक रेनु-कन ही ते कीन्हे लघु लुंज ते ।
'लेखराज' तेरे गंगे ! गुन किमि हेरे जात,
सीत जल ही ते मेरे जारे पाप-पुंज ते ;
जौन दृढ़ बिषय सुदरसन ते न कटे,
तौन नेक दरसन ही ते कीन्हे लुंज ते ।

(लेखराज)

यहाँ चारों पदों में विरुद्ध हेतु से कार्योत्पत्ति है ।

नैन सों छार अनंग कियो, रति के उर चंद सों आगि बगारत ;
कंठ के दीह हलाहल सों निसि-दौस जमी पै अमी बिसतारत ।

देखै न क्यों परताप 'बिसाल' कहा इत बैठि बनावत भारत ;
संकरजू निज दरसन दै नित गंग कि धार सों पातक जारत।
(विशाल)

इस छंद में विभावना के कई उदाहरण हैं, जिनमें से सबमें विरुद्ध हेतु से पंचम विभावना है।

उड़िला उड़िलत श्यान जल बिसद दूध की धार ;
दोष दरै, आतप गरै, पाप होयँ जरि छार।
(मिश्रबंधु)

षष्ठ विभावना—में कार्य से हेतु की उत्पत्ति कथित रहती है। यथा—

ए हो नटनागर ! सकल गुन - आगर ! तो
अधर-सुधा ते सुधा - सागर अपार भे।
(दूलह)

बाँके नैन सरोज ते सरिता कढ़ी अपार ;
बूड़त ताहि उबारिए ए हो नंदकुमार !
(वैरीशाल)

भयो सिंधु ते बिधु सुकबि बरनत बिना बिचार ;
उपज्यो तो मुख-इंदु ते प्रेम - पयोधि अपार।
(मतिराम)

विभावना और विरोध का विषय-विभाजन—विरोध (नं० ३२) में एक ही स्थान में न रह सकनेवालों के एक ही स्थान में वर्णन में विरोध होता है, तथा विभावना में कारण न होते कार्य के होने में विरोध है।

विशेषोक्ति (३४)

विशेषोक्ति—में हेतु के पूर्ण होने पर भी कार्य नहीं होता। यथा—

पुनि हैहयाधिप - बंस को गुनि करम निंदित क्रोध कै ;
करि बंक भृकुटी सहठ माहिष्मती को अवरोध कै।
करि तौन बंस बिध्वंस घोर प्रसंस संगर मैं महा ;
श्रीराम अपने क्रोध-सागर को न पार तबौ लहा।

(मिश्रबंधु)

बरसत रहत अछेह वै नैन बारि की धार ;
नेकहु मिटति न है तऊ तो बियोग की झार।

(वैरीशाल)

यहाँ प्रबल हेतु वारि-धार है, जो बाधक बनकर वियोग की झार के न बुझने को बाध्य बना देती है, और यहाँ रूपकालंकार का होना बतलाती है।

नारि जु बारिज-सी बिकसी रहै, नेह - कसी, पिक-सी कल कूजै ;
जा बड़भाग के भौन बसी, तेहि पीतम के चलिकै पग पूजै।
और कहा कहिए तेहि द्वार कि दासी ह्वै 'देव' उदास न हूजै ;
आँखिन को सुख, सुंदरि को मुख देखत हू दिखसाध न पूजै।

(देव)

पियत रहत पिय-नैन यह निसि-दिन मृदु मुसुकानि ;
तऊ न होति मयंकमुखि ! तनिक प्यास की हानि।

(मतिराम)

तीनि कोस सूरज भुव लिखिय ;
घेरि पठान सबै इक किखिय।
चारिहु ओर धूम करि दिखिय ;
तऊ पठान रोस नहिं मिखिय।

(सूदन)

आवत हैं परभात इतै, चलि जात हैं रात उतै निज गोहैं ;
मो ढिग जो पै रहैं कबहूँ, तबहूँ उत ही की लिए रहैं टोहैं।

सौंहैं 'बिसाल' करैं इत लाखन, पै अभिलाखि उतै मन मोहैं ;
होति अरी हित-हानि खरी, तऊ लालची लोचन लाल को जोहैं।
(विशाल)

बही-बही फिरै लागी बही चित्रगुपित की,
मचै लगो जम के सदन हाहाकार है ;
पापनि को गंग मैं पछारैं लगे खलगन,
पापिन की भई अति गरम बजार है।
जगत के काज सब उलटे चलन लागे,
पुन्यवान रोए करि - करि डिड़कार है ;
ऐसो मत परथो है पसंद सब पापिन को,
नहीं पुन्यवानन हू कियो इनकार है।
(मिश्रबंधु)

विशेषोक्ति में अलंकारता—विशेषोक्ति में हेतु की पूर्णता कही भर जाती है (या प्रतिबंधक छिपा लिया जाता है), क्योंकि यदि वह वास्तव में उस कार्य के लिये पूर्ण हो, तो कार्य हो ही जाय। फिर भी कवि द्वारा पूर्णता के रूप में हेतु के कहे जाने-मात्र से विशेषोक्ति मान ली जाती है। वियोगानल शमन करने को रुदन पूर्ण कारण है ही नहीं, क्योंकि घटने के स्थान पर इससे वह कभी-कभी और भी बढ़ता है। फिर भी कवि-कथन के कारण भाषा-संबंधी चमत्कार के विचार से यह अलंकार माना जाता है।

असंभव (३५)

असंभव—में "कौन जानता था" के अर्थवाले शब्दों को वाचक बनाकर अर्थ-सिद्धि की असंभवनीयता कही जाती है। यथा—

कालिंदी मैं कूदि, पैठि जायकै पताल आली !
कौन जानै बनमाली काली नाथि लायहै।
(दूलह)

छोटो जसुमति - छोहरो को जानत हो आजु ;
करि बिधंस नृप कंस को देहै उग्रहि राज ।
(ऋषिनाथ)

हरि-इच्छा सब तैं प्रबल, विक्रम सकल अकाथ ;
किन जान्यो लुटि जाइहैं गोपी अर्जुन साथ ।
(दास)

यौं दुख दै ब्रजबासिन कौं ब्रज कौं तजि कै मथुरा सुख पैहैं ;
वै रसकेलि बिलासिनि कौं बन-कुंजनि की बतियाँ बिसरैहैं ।
जोग सिखावन कौं हम कौं बहुरयौं तुमसें उठि धावनि ऐहैं ;
ऊधौ नहीं हम जानत ही मनमोहन कूबरी हाथ बिकै हैं ।
(मतिराम)

'नहीं हम जानत ही' बाचक लाकर कूबरी से प्रीति करने में असंभव वस्तु का होना कहा गया है ।

विरोध और असंभव में पृथक् अलंकारता—विरोध में दोनो बाधक और बाध्य होते हैं, किंतु असंभव में कोई बाधक-बाध्य नहीं, केवल वक्ता कार्य को असंभव रूप में कहता है, अथच असंभवपन निवारण की पाठक को भी आवश्यकता नहीं पड़ती । विरोध में अर्थ समझने के लिये विरोध हटाना पड़ता है, और विना ऐसा किए काम नहीं चलता । अतः दोनो की पृथक् अलंकारता सिद्ध है ।

असंगति (३६)

असंगति—नियमवाले संबंध के छोड़ने में होता है । इसके तीन भेद हैं ।

प्रथम असंगति—नियम-विरुद्ध भिन्न प्रदेशों में कार्य-कारण-भूत धर्मों की स्थिति होने में होती है ।

इसका मोटा लक्षण है—"अंते हेतु अंते काज बनौं असंगति।"
यथा—

छिरके नाह नवोढ़ दृग कर पिचकी-जल-जोर ;
रोचन-रँग-लाली भई बिय तिय लोचन-कोर।
(बिहारी)

पानी एक के दृग में लगा (हेतु), पर लाली दूसरे के आई (कार्य)। अतः कार्य और कारण का भिन्न प्रदेश हुआ।

राधा के दृग खेल में मूँदे नंदकुमार ;
करनि लगी दृग - कोर सो भई छेदि उर पार।
(मतिराम)

दृग-कोर लगी तो हाथों में, किंतु छिदा हृदय। कारण हाथ में हुआ तथा कार्य भिन्न देश (हृदय) में।

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर चित प्रीति ;
परति गाँठि दुरजन हिये दई ! नई यह रीति।
(बिहारी)

उर में बिजली-सी चमकी, नैनों में जल भर आया ;
क्या जानें आज अचानक किस स्मृति का घन घिर आया।
(उमेश)

जब बिजली बादल में चमकती है, तब वहाँ पानी बन जाता है। ऐसा वैज्ञानिक नियम है। यहाँ हृदय में बिजली चमकी, तथा पानी भिन्न प्रदेश नेत्रों में बन गया।

महाराज सिवराज चढ़त तुरंग पर
ग्रीवा जाति नै करि गनीम अतिबल की ;
'भूषन' चलति सरजा की फौज भूमि पर,
छाती दरकति है खरी अखिल खल की।

किये दौरि घाव उमरावन-अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिल्ली-दल की ;
सूरति जराई कियो, दाहु पातसाहु डर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी ।
(भूषण)

जब मनुष्य घोड़े पर चढ़ने लगता है, तब उस(मनुष्य)की गर्दन कुछ आगे झुक जाती है, किंतु यहाँ शत्रु की झुकती है ।

विरोध-असंगति भेद-प्रदर्शन—विरोध में एक देशस्थित वस्तुओं का विरोध रहता है, किंतु यहाँ भिन्न देशस्थित रहने का ।

दगनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन ;
ए तेरे सबतैं बिषम ईछन - तीछन बान ।
(बिहारी)

ईछन=आँख ; दृष्टि-ज्ञान ।

लरैं नैन, पलकैं गिरैं, चित तरपैं दिन - रैन ;
उठैं सूल उर, नेह - पुर नव नय-मय नृप मैन ।
(दुलारेलाल)

कोई परलोक सोक भीत अति वीतराग,
तीरथ के तीर बसि पी रहत नीर ही ;
कोई तप-काज बाल ही तैं तजि गेह-नेह,
आगि करि आस-पास जारत सरीर ही ।
कोई छाँड़ि भोग-जोग धारना सों मन जीति,
प्रीति सुख-दुखहू मैं साधत समीर ही ;
'सेनापति' सोवै सीतापति के प्रताप सुख,
जाकी सब लागैं पीर ताही रघुबीर ही ।
(सेनापति)

वीतराग=राग-रहित ।

सागर के मथतै-मथतै पहिले गुनआगर माल गयो लुटि ;
फेरि तहीं मदिरा निसरी, तब दैतन को दल आनि गयो जुटि।
देखि हलाहल व्याकुल ह्वै कुल ख्याल 'बिसाल' कि ओर गयो छुटि ;
संकरजू बिष-पान कियो, सब दासन को जल-पान गयो छुटि।

(विशाल)

द्वितीय असंगति—अलग करने की बात अलग करने में होती है। यथा—

मैं देख्यो बन जात रामचंद्र तुव अरि तियन ;
कटि-तट पहिरे पात, दृग कंगन, कर मैं तिलक।

(दास)

कान में पहनने का आभूषण तथा पत्ते पात कहलाते हैं। आँसू पोंछने से आँख के निकट कंकण तथा हाथ में तिलक लग गया था।

बाहु कहा खए बेंदी दिए औ' कहा है तरयोना के बाहु गड़ाए ;
कंकन पीठि हिये ससि रेख की बात बनै बलि मोहिं बताए।
'दास' कहा गुन ओंठ मैं अंजन, भाल मैं जावक-लीक लगाए ;
कान्ह सुभाय ही बूझति हौं, है कहा फल नैननि पान खवाए ?

(दास)

भूप-सिरमौर राम दौरत 'कुमार' कहि,
उज्जरत दुज्जन के दुग्ग हैं पलक मैं ;
बैरि-तरुनीनि के नवीन लखे भूषन हैं,
भूषन बिहीन लखी जीरन ललक मैं।
चुरी हिय माह बन-बीच दुख दाह डरी,
जावक को रंग जगै लोचन-फलक मैं ;
पानि में बसन दसननि रसना है, गति-
नथ की पगनि, पत्र-रचना अलक मैं।

(कुमारमणि)

छाती कूटती हैं, अतः हृदय पर चूड़ी पहुँच गई। जावक के समान लाल नेत्र हो गए हैं। थकान के मारे ओढ़ने का वस्त्र हाथ में ले लेती हैं; दाँतों-तले जिह्वा दबाए हैं। पहले नथ सदा हिला करती थी, अब पग चला करते हैं, पत्र (जन्म कुंडली) में जो लिखा था, वैधव्य आ जाने से (अलकें खुली रहने से) बालों में भी लिख गया।

तृतीय असंगति—में कर्ता के कुछ करने के प्रयत्न में विरुद्ध बात हो जाती है। यथा—

ललक सों आए लघु मान मेटिबे को पीक
पलक देखाय गुरु मान झलकायो है।

(दूलह)

उदित भयो है जलद ! तू जग को जीवन-दानि;
मेरो जीवन लेत है कौन बैर मन आनि ?

(मतिराम)

तृतीय भेद में असंगति नहीं—तृतीय असंगति में भिन्न स्थान है ही नहीं, जिससे यह भेद असंगति में आना अनुचित है। यह मत पंडितराज का है।

द्वितीय भेद असंगति में मतभेद—पंडितराज द्वितीय असंगति को भी पृथक् स्थान न होने के कारण विरोधाभास मानते हैं, किंतु वहाँ कंकण और कर के भिन्न-भिन्न स्थानों में भासित होने के कारण स्थान-भेद प्रस्तुत है। जहाँ विरोध-सा जान पड़े, वहाँ असंगति होगी, किंतु भूल से और का और कर जाने में न होगी, क्योंकि अलंकार योग्य चमत्काराभाव है। यथा—

'सोमनाथ' मोहन सुजान दरसाने, त्यों ही
रीझि अलबेली उरझानी और हाल में;

मोरवारी बेसरि लै स्रवन सुजान चारु
साजे पुनि भूलिकै करनफूल भाल मैं।
(सोमनाथ)

यहाँ नायक को देखकर नायिका का चित्त दूसरी ओर चला गया, सो भूल हो गई, जिसमें अलंकार-संबंधी कोई चमत्कार नहीं देख पड़ता। चमत्कार केवल भाव का है, भाषा का नहीं।

विषम (३७)

विषम—में तीन भेद होते हैं। 'अननुरूपसंसर्गो विषमम्।' अर्थात् असमान संसर्ग में विषम होता है। (पंडितराज)

प्रथम विषम—में विरुद्ध वस्तुओं का अयोग्य संबंध चमत्कार-पूर्वक कथित रहता है। यथा—

वे नक्षत्रों पर सोते किरणों की चादर ताने ;
मैं धूल-कणों पर बैठा जग-जगकर रात बिताऊँ।
(उमेश)

जावलि बार, सिंगार पुरी औ' जवारि को राम कै नैरि को गाजी ;
'भूषन' भौंसिला भूपति ते सब दूरि किए करि कीरति ताजी।
बैर कियो मरजा सों खवासखाँ, डौंड़ियै सैन बिजैपुर बाजी ;
बापुरो आदिलसाहि कहाँ, कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी।
(भूषण)

मानहु पायो है राज कहूँ, चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े ;
गुंज गरे, सिर मोर-पखा 'मतिराम' यों गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मम तोर्यो हरा, धरि हाथन सों रही चूनरी पोढ़े ;
ऐसे ही डोलत छैल बने, तुम्हें लाज न आवति कामरी ओढ़े।
(मतिराम)

चोढ़े=गोचर की ऊँची-नीची भूमि। यह बनाव और हमसे प्रेम चाहना।

बूझै बड़े बबा नंद को बंस, जसोमति माय को मायको बूझत,
बोलत बातैं बड़ी बन मैं, मन मैं बृषभानु बबा सों अरूझत।
'देव' दबीं हम नेह के नाते, न तौ पुरिखा इन बातन जूझत;
बीभि सँभारि न काढ़त गारि हौ, ग्वारि गँवारि हमैं हरि बूझत।

(देव)

हौं भई दूलह वै दुलही, उलही रुचि सों चित प्रीति घनेरी;
हौं पहिरो उनको पियरो, पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी।
'देव'जू कासों कहौं, को सुनै, औ' कहा कहे होत कथा बहुतेरी;
जे हरि मेरी धरैं नित जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री।

(देव)

जेहरि=पायज़ेब। जे हरि=जो हरि।

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे;
जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धरि उर
कीन्ही ना सलाम, न बचन बोले सियरे।
'भूषन' भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे;
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भए
स्याह मुख औरँग, सिपाह-मुख पियरे।

(भूषण)

इस कवित्त के प्रथम चरण में यह अलंकार है।

ब्याह समै मैं हिमंचल के घर भो सबके मन आनँद गाढ़ो;
श्रीवर के अवलोकन को अबलागन आनि भयो जुरि ठाढ़ो।
देखि अपूरब रूप कराल दुखी मयना मुख सों बच काढ़ो;
कौल-कली-सी कहाँ गिरिजा औ' कहाँ सिव संकर-सो बर राढ़ो।

(विशाल)

कौल=कमल।

इन सब छंदों में अयोग्य संबंध के कथन हैं।

द्वितीय विषम—में हेतु से कार्य में विरूपता होती है।

कुलपति मिश्र इसका लक्षण यों कहते हैं—जब कारण के कार्य में गुण से गुण की या क्रिया से क्रिया की विरूपता हो, तब दूसरा विषम है।

क्रिया से क्रिया की विरूपता—

मोतन ताप सिरै सदा तो तन सीतल अंग;
तेही ते उपज्यो बिरह जारत मेरो अंग।

(चिंतामणि)

यहाँ नायिका पहले तापहारिणी थी, किंतु उसी संग से दाहक विरह उपजा। अतएव हेतु की पहली क्रिया से दूसरी क्रिया की विरूपता है। उपर्युक्त दोनो लक्षणों में प्रतिकूलता नहीं है।

गुण से गुण की विरूपता—

गोरो, सोभा को सदन तेरो बदन ललाम;
कियो लाल रँग लाल को सौतिहु को रँग स्याम।

(रामसिंह)

कार्य से कारण की बिरूपता—

पान कै भंग हरे रँग की रँग लाल बिलोचन मैं दरसायो;
सेत सुदेव नदी जलधार सों त्यों जम के मुख मैं मसि लायो।
देखै न क्यों मन लाय 'बिसाल' कहा भ्रमजाल मैं चित्त लगायो;
संकर स्याम हलाहल सों छिति - मंडल पै सित कीरति छायो।

(विशाल)

दोहे में हेतु का रंग श्वेत है, किंतु कार्य का लाल और काला।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय;
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।

(बिहारी)

कटाक्ष के डर से बचने का प्रयत्न किया गया, परंतु उससे बचना तो दूर रहा, उलटे बेनी रूपी व्यालिनी ने ग्रस ही लिया।

जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो, तेहि देखत मोह मैं आय गई;
न चितौनि चलाय सकी, उनही की चितौनि के घाय अघाय गई।
बृषभानु-लली की दसा सुनौ 'दास'जू, देत ठगोरी ठगाय गई;
बरसाने गई दधि बेचन को, तहाँ आपु ही जाय बिकाय गई।

(दास)

लोने मुख दीठि न लगै यों कहि दीन्ही ईठि;
दूनी ह्वै लागन लगी दिए दिठौना दीठि।

(बिहारी)

दृष्टि न लगने के हेतु का यत्न किया गया, तथापि बचना तो दूर रहा, वह दूनी होकर लगने लगी।

कन दीबो सौंप्यो ससुर बहू थोरहथी जानि;
रूप रहचटे लगि गयो सब जग माँगत आनि।

(बिहारी)

मदन-सिलीमुख के डरनि सोयों बन घन कुंज;
भयो महादुखदानि उत दुगुन सिलीमुख-पुंज।

(चिंतामणि)

शिलीमुख=बाण, भ्रमर।

काम जो हजामति बनायबे को जानते, तौ
रुपया द्वै - एक लावतेई दिन - भर में;
सोफर जो होते, तौ बराबरी करत कौन,
बायु - बेग मोटर उड़ावते सहर में।
जूती गाँठि लेते, तऊ तूती बोलती ही सदा,
भेली-सूका पीटि लेते एक ही पहर में;

पास कीन्हों बी ए, वास खोदत सरम लागै,
टके को पुछैया नहीं, सरौ परे घर में।
(मिश्रबंधु)

दरसनीय सुनि देस वह, जहँ दुति-ही-दुति होय ;
हौं बौरो हेरन गयो, बैठो निज दुति खोय।
(दुलारेलाल)

आई हौं पायँ देवाय महाउर कुंजन ते करिकै सुख-सेनी ;
साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करती भटू ! भौंहँ तनेनी ;
मूँदी न राखति प्रीति अली ! यह गूँदी गोपाल के हाथ कि बेनी।
(मतिराम)

सखी के कहने पर नायिका नेत्र तनेनकर यह प्रयत्न करती है कि वह न कहे, परंतु सखी यह सोचकर कि वह दब जायगी और साफ़-साफ़ कहने लगी। यहाँ तक कह दिया कि तुमसे श्रीकृष्णचंद्र से प्रेम है, अतः तृतीय विषम है।

महावर सात्विक से पसीना निकला होने पर दिये जाने के कारण फैल गया। प्रेम के कारण स्वेद का होना कहा जाता है। प्यार की तीव्रता के कारण उँगली गड़ जाने के भय से पोलेपन से अंजन लगाया गया, जिससे फैल जाने से मृगछैनी को उसके नेत्र देखकर लज्जित होना कहा गया है, प्रीति ही के वश कसकर बाल भी नहीं बाँधे बँधे ; इससे ये क्रियाएँ प्रेमी के हाथ से संपादित विदित हुईं।

लाए हौ मोहिं मया करिकै, तौ हरी-हरी घास खरी-भुस खैहौं ;
ब्यान पचीसक ब्याय चुकी, अब भूलि नहीं सपने हू बियैहौं।
हौं महिषासुर ते बड़ी बैस मैं, तो घर जाय कलंक न लैहौं ;
दूध को नाम न लेहु कबीसुर, मूतन के नदी-नार बहैहौं।

कलंक न लैहौं=यह बदनामी बच्चा पैदा करके न लूँगी कि इस वृद्धावस्था में भी भैंसे की इच्छा की।

ब्यास बादरायन त्यों संकरहु रामानुज
तुलसी कबीर आदि सिच्छक जिते भए ;
करिकै बिसाल ख्याल स्वमत पै सबहिन
उपदेस एक ईस - मूलक नितै दए।
दैकै एक पाई लाभ लाखन के पायबे की
झूठी लालसा को किंतु जनता फिरै लए ;
धरम - धरम की पुकार बीच नीचन के
स्वारथ के साधक हमारे तीर्थ ह्वै गए।
(मिश्रबंधु)

माना, विधवा-ब्याह शास्त्र में है कुछ दूषित ;
पै व्यभिचार कराल शास्त्र में है कब भूषित ?
होता है आचरण शास्त्र-प्रतिकूल अवश जब ,
तजकर निंदित गैल गहैं क्यों नहिं सुखदा तब ?
फिर शास्त्र-शास्त्र चिल्लात हैं, जे अंधे सुत क्षुद्र मम ;
है नहीं पापकर्मा कहीं उनके सम जग में अधम।
(मिश्रबंधु)

यहाँ शास्त्र के माननेवाले करने तो पुण्य निकले, किंतु कर बैठे पाप।

सम (३८)

सम—के तीन भेद हैं, जिन सबमें अनुरूप का संसर्ग होता है।

प्रथम सम—में अनेक अनुरूपों का संबंध रहता है। यथा—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर ;
को घटि, वै वृषभानुजा, यै हलधर के बीर।
(बिहारी)

वह वृषभ की अनुजा (बहन) और यह हलधर (बैल) के भाई हैं।

मोहन को मुख - चंद अली ! नित नैन-चकोरन को दरसावै ;
लोचन भौंर गोपाल के आपने आनन वारिज बीच बसावै।
तौ तैं लहै 'मतिराम' महाछबि प्रानपियारे ते तू छबि पावै ;
तौ सजनी सबके मन भावै, जु सोने से अंगनि लाल मिलावै।

(मतिराम)

चंद चकोर, भ्रमर वारिज, स्वर्ण और लाल का साथ अनुरूप है।

ऊधो तहाँई चलौ लै हमैं, जहँ कूबरी - कान्ह बसैं यकठोरी ;
देखिए 'दास' अघाय-अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, दढ़ाइए कान्ह सों प्रेम कि डोरी ;
कूबर भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी।

(दास)

बंदन=इंगुर। यहाँ टेढ़ी कुब्जा की त्रिभंगी कृष्ण से अनुरूप प्रीति कथित है।

जैसो मातु गंग सरसावति महान बेग,
तैसोई जटा को जूट बाढ़त उताल है ;
जैसे चारु चंद्रमा ललाट पै प्रकासमान,
धधकत तैसे नैन तीजो अति लाल है।
भनत 'बिसाल' जैसे कंठ मैं हलाहल है,
तैसे अंग-अंगन भुजंगन को जाल है ;
जैसे जग जाहिर पिनाक पर भावे बेस,
तैसो एक आँक सिव सूल बिकराल है।

(विशाल)

यहाँ जैसे-तैसे से अनुरूपता सिद्ध है।

छहरैं सिर पै छबि मोर-पखा, उनके नथ के मुकुता थहरैं ;
फहरैं पियरे पट बेनी उतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं।
रस-रंग भिरे अभिरे हैं तमाल, दोऊ रस ख्याल चहैं लहरैं ;
नित ऐसे सनेह सों राधिका-स्याम हमारे हिये मैं सदा ठहरैं।
(बेनी)

द्वितीय सम—में कारण के साथ कार्य की समानरूपता रहती है। यथा—

करत लाख मनुहारि, पै तू न लखति यहि ओर ;
ऐसो उर जु कठोर, तौ न्यायहि उरज कठोर।
(मतिराम)

उर (हेतु) कठोर हुए तो उससे उपजे उरज का कठोर होना अनुरूप ही है।

भई कीरति सों कीरति करति छबि छाय कै।
(दूलह)

बास लह्यो बड़वानल पास, हलाहल को सहजात कहावै ;
संकर भाल के लोचन पै बसि पावक-ज्वाल कराल मँझावै।
राहु गिल्यो उगिल्यो, पुनि सूरज संग मिल्यो जु कलंक सुभावै ;
सो गुरु-साप डर्‌यो नहिं पाप, निसापति क्यों नहिं ताप बढ़ावै।
(कुमारमणि)

सहजात=भाई। सूर्य के साथ मिला हुआ होकर भी उसमें स्वाभाविक कलंक है। गुरु-पत्नी हरने में गुरु-शाप के पाप से न डरा।

तृतीय सम—में जिसके लिये यत्न किया जाय, उसकी सिद्धि विना बाधा के होती है। यथा—

क्यों नहिं देहिं प्रबीन वै ऊधव वांछित साज ;
कब की चाहै जोग सो दियो जोग ब्रजराज।
(वैरीशाल)

इस छंद में समता शाब्दिक-मात्र है, और जोग के दो अर्थोंवाले श्लेष से पोषित है।

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम', रहौ तित ही, जित ही मन भायो ;
काहे को सौहैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, यों हीं कहा रसबाद बढ़ायो ;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय, सो मानै मनायो।

(मतिराम)

इस छंद में भी सम मान (रूठना, प्रतिष्ठा) के दो अर्थों से अलंकार श्लेष द्वारा पोषित है।

तृतीय सम में चमत्कार—सम के इस भेद में सम का या तो आभास-मात्र होता है (वास्तव में कार्य-सिद्धि नहीं), या किसी अन्य अलंकार का चमत्कार विचित्रता लाने को रक्खा जाता है।

दोष सों मलीन, गुन-हीन कबिताई है, तौ
कीन्हें अरबीन परबीन कोई सुनि है ;
बिनुही सिखाए सब सीखिहैं सुमति, जो पै
सरस अनूप रस रूप यामैं धुनि है।
दूषन को करि को कबित्त बिन भूषन को
जो करै प्रसिद्ध, ऐसो कौन सुर-मुनि है ?
राम अरचत, 'सेनापति' चरचत, दोऊ
कबित रचत याते पद चुनि-चुनि है।

(सेनापति)

तृतीय सम तथा प्रहर्षण में भेद प्रदर्शन—प्रहर्षण (नं० ६४) में बिना यत्न के फल मिलता है, और तृतीय सम में यत्न करने से, यही भेद है।

नोट—तृतीय सम केवल वाच्यार्थ में होता है, और अर्थ लगाने में प्रायः लुप्त हो जाता है।

अंतिम उदाहरण में अच्छे छंद के पसंद होने में भी कथन में चमत्कार-शून्यता से अलंकार नहीं आया है।

विचित्र (३६)

विचित्र—में किसी कार्य के सिद्ध करने को विपरीत यत्न-मात्र वर्णित होता है (किंतु कार्य सिद्ध होना नहीं कहा जाता)। यथा—

बेदर कल्यान दै परेन्दा आदि कोट साहि-
एदिल गँवायहै नवाय निज सीस को;
'भूषन' भनत भाग नगरी कुतुब साई
दै करि गँवायो रामगिरि-से गिरीस को।
भौंसिला भुवाल साहितनै गढ़पाल दिन
दोय ना लगाए गढ़ देत पंच तीस को;
सरजा सिवाजी जयसाह मिरजा को लीबे
सौगुनी बड़ाई गढ़ दीने हैं दिलीस को।

(भूषण)

जनता से बड़ाई पाने के लिये किसी शत्रु को गढ़ सौंप देना विपरीत यत्न है। इसी प्रकार और छंदों में भी समझ लीजिए।

छोरिकै जगत-हित जगत-पिता सों नित
जोरिकै सुचित बित प्रेमहि बिचारो तुम;
बासनानि पूरन करन के उपाय तजि
बासना हनन की सुरीतिन प्रचारो तुम।
लालच सों धावत, जकंदत फिरत जग,
जो कछु लहन, ताहि नीच निरधारो तुम;
जौन सोचि हाल जग बिकल बिलाप करै,
सोई सति आनँद को हेत गुनि धारो तुम।

(मिश्रबंधु)

हरि ऊँचे हेत बामन भे बलि के सदन मैं।

(दूलह)

जीवन हित प्रानहिं तजैं, नवहिं ऊँचाई हेत;
सुख कारन दुख संग्रहैं बहुधा पुरुष सचेत।

(दास)

विषम और विचित्र की पृथकृता—उद्योतकार ने विचित्र को विषम (नं० ३७) में माना है। उसमें हित का यत्न करते हुए अहित विपरीत यत्न से हो जाता है।

रसगंगाधर और विमर्षिणी ने कहा है कि विषम में अहित स्वतः (विना प्रयत्न के) होता है, किंतु विचित्र में विरुद्ध क्रिया द्वारा यत्न-मात्र किया जाता है, तथा सिद्धि का वर्णन नहीं होता।

अधिक (४०)

प्रथम अधिक—में आधार से भी आधेय का आधिक्य प्रकट होता है।

कटोरा आधार है और उसका पानी आधेय।

जिनके अतुल बिलोकियत पानिप पारावार,
उमड़ि चलत तिन दृगन भरि तो मुख रूप अपार।

(मतिराम)

बाढ़ो चरन समानो नाहिं चौदहौ भुवन मैं।

(दूलह)

सहज सलील सील, जलद-से नील डील,
पब्बय-से पील देत नाहिं अकुलात हैं;
'भूषन' भनत महाराज सिवराज देत
कंचन को ढेर, जो सुमेर-सो लखात हैं।

सरजा सवाई कासों करि कबिताई तव
हाथ की बड़ाई को बखान करि जात है ;
जाको-जस-टंक सात दीप नव खंड महि-
मंडल की कहा बरम्हंड ना समात है।
(भूषण)

यहाँ आधार है ब्रह्मांड, और आधेय यश हुआ। यश से ब्रह्मांड छोटा कहा गया है।

पव्वय=पर्वत। जस-टंक=यशःकोष।

द्वितीय अधिक—में आधेय से आधार का आधिक्य होता है। यथा—

तीनौ लोक तन मैं, समान्यो ना गगन मैं,
बसै सो संत मन मैं, कितेक कहौं मन मैं।
(दूलह)

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम ;
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।
(केशवदास)

यहाँ मुद्रिका छोटी होकर भी आधेय हाथ से बड़ी हुई।

अधिक और विषम में पृथक्ता—आश्रय से आश्रयी की अधिकता यहाँ वास्तविक न होकर कवि-कल्पित-मात्र होती है। विषम में आश्रय आश्रयी का भेद नहीं होता, यह भेद है।

अल्प (४१)

अल्प—में अति छोटे आधार से भी आधेय छोटा करके कहा जाता है। यथा—

राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर,
ता छला मैं मापि लीजै भई छाम कटि बाम की।

(दूलह)

मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति संक;
टूटि परै मति भार सों निपट पातरी लंक।

(मतिराम)

अधिक और अल्प का अन्य में अंतर्भाव—अल्प और प्रथम अधिक एकसाँ हैं, एक में छोटाई का वर्णन है और दूसरे में बड़ाई का। उदाहरण में मन कमर में लगा रहने से आधेय है। अधिक और अल्प वास्तव में पृथक् अलंकार न होकर संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) के अंतर्गत आ जाते हैं। फिर भी बहुतेरे आचार्यों ने इन्हें पृथक् अलंकार माना है।

अन्योन्य (४२)

अन्योन्य—में अनेकों को परस्पर एक ही क्रिया के करने की कारणता मिलती है। यथा—

सहज सिँगार साजि, साथ लै सहेलिन को
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद को;
कबि 'मतिराम' मन करत मनोरथनि
देख्यो वहि ठौर पै न प्यारे नँदनंद को।
नेह ते लगी है देह दाहन, दहन गेह
बाग मैं बिलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद को;
चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद, अब
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख-चंद को।

(मतिराम)

पहले मुख अधिक सुंदर होने के कारण शशि को हँसता-सा दिखाई देता था, परंतु संकेत-स्थान में नायक के न मिलने से नैराश्य के कारण दुःख होने से मुख में फीकापन आ गया, जिसका चंद्र हास करने लगा, कहकर व्यंजित किया गया है। चंद्र और मुख द्वारा एक दूसरे के साथ हँसने-रूप एक ही क्रिया संपादित होने से अन्योन्य अलंकार हुआ।

तो कर सों छिति छाजत दान है, दान हू सों अति तो कर छाजै ;
तैं हीं गुनी की बड़ाई सजै अरु तेरी बड़ाई गुनी जन साजै।
'भूषन' तोहि सों राज बिराजत, राज सों तू सिवराज बिराजै ;
तो बल सों गढ़-कोट गजैं अरु तू गढ़-कोटन के बल गाजै।

(भूषण)

हुते पराजित पूरबहिं कोकिल, कंज, मयंक ;
ते अब पछिलो बैर धरि जारत खरे निसंक।

(वैरीशाल)

मिलन समय में कोकिल, कंज और मयंक हार गए थे, अब वियोगावस्था में बात बदल गई।

निज निवास को छोड़िकै लागी पलकन पीक ;
वाही अकस लगी लला अधरा अंजन-लीक।

(वैरीशाल)

हरि, मोसों वाकी दसा कछु कहि आवत नाहिं ;
बिरह-दाव तन मैं बसी, तन बिरहानल माहिं।

(वैरीशाल)

दाव=दावाग्नि।

कब की हौं देखति चरित्र निज आँखिन सौं—
राधिका रसीली स्याम रसिक रसाल के ;
'मतिराम' बरनै दुहूँनि के मुदित अति
मन भए मीन-से अमृतमय लाल के।

इकटक देखें छिएँ व्रत-से निमेखनि के,
नेम किए मानों पूरे प्रेम प्रतिपाल के;
लाल मुख इंदु, नैन बाल के चकोर भए,
मुख अरबिंद, चंचरीक नैन लाल के।
(मतिराम)

विशेष (४३)

प्रथम विशेष—में विना प्रसिद्ध आधार के आधेय का कथन होता है। यथा—

सिवाजी सुमान सलहेरि मैं दिलीस-दल
कियो कतलाम करवाल गहि कर मैं;
सुभट सराहे चंदावत कछवाहे
मुगलौ पठान ढाहे फरकत परे फर मैं।
'भूषन' भनत भौंसिला के भट उद्भट
जीति घर आए, धाक फैली घर-घर मैं;
मारु के करैया अरि अमरपुरै गे जऊ,
तऊ मारु-मारु धुनि होति है समर मैं।
(भूषण)

यद्यपि यहाँ चौथे चरण में भाविक (नं० ६४) का भी रूप आ गया है, तथापि मुख्यता आधार-रहित आधेय का वर्णन करने में होने से प्रथम विशेष की है। शोर करने के आधार युद्धकर्ता हैं, जिनके वहाँ न रहने पर भी विना आधार के आधेय का कथन है।

प्रथम विभावना (नं० ३३) भी कही जा सकती है, क्योंकि शोर-कर्ता हेतु के अभाव में कार्य (शोर) का कथन है, किंतु कवि का मुख्य तात्पर्य जिन वीरों में शोर स्थित था, उन आधारों के न रहने पर भी उस(शोर)की स्थिति में है।

चलौ ग्वाल, वाकी दसा लखौ, कही नहिं जाय ;
हियरे है सुधि रावरी, हियरो गयो हेराय ।

(मतिराम)

तन तौ तिया को बर भाँवरैं भरत, मन
साँवरे बदन पर भाँवरैं भरत है ;

(मतिराम)

यहाँ विना आधार (तन) के मन नायक पर भाँवरें भरता है ।

द्वितीय विशेष—में एक ही काल में एक ही रूप से अनेक स्थानों में एक ही की स्थिति का कथन होता है । यथा—

घर मैं, बगर मैं, डगर मैं, नगर मैं, री,
जहाँ देखौं, तहाँ पेखौं प्यारो नँदनंद मैं ;

(दूलह)

नायक हर स्थान में वास्तव में न था, किंतु प्रेमाधिक्य से उसे देख पड़ता था ।

नोट—द्वितीय विशेष का पर्याय (नं० ४०) से भेद उसी अलंकार में लिखा जायगा । 'एक ही काल' पर ध्यान रखना चाहिए ।

कुंजन मैं, कूलन-कछारन मैं, केलिन मैं,
क्यारिन मैं कलित कलीन किलकंत है ;
कहै 'पदुमाकर' पराग हू मैं, पौन हू मैं,
पातन मैं पिकन पलासन पगंत है ।
द्वार मैं, दिसान मैं, दुनी मैं, देस-देसन मैं
देखौ दीप-दीपन मैं दीपति दिगंत है ;
बीथिन मैं, ब्रज मैं, नवेलिन मैं, बेलिन मैं,
बनन मैं, बागन मैं बगरो बसंत है ।

(पद्माकर)

बिज्जपूर बिदनूर सूर सर धनुष न संधहिं ;
मंगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल नहिं बंधहिं ।
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी-चिंजा-डर ;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संकावर ।
'भूखन' प्रताप सिवराज तव इमि दच्छिन दिसि संचरइ ;
मथुरा-धरेस धकधकत सो द्रबिड़ निबिड़ डर दबि डरइ ।

(भूषण)

"दच्छिन दिसि संचरइ" 'दक्षिण दिशा के हर स्थान में शिवाजी के प्रताप की स्थिति है' से अलंकार सिद्ध हुआ ।

धम्मिल=फूल, मोती आदि से गुथे हुए बाल । कोटै गरब्भ=कोट-गर्भ में ; क़िले के अंदर । चिंजी=लड़की ।

नैननि हियरैं सदनहूँ, बनहूँ बहैं लखाइ ;
जित देखौ, तित साँवरो रूप रह्यो सखि छाइ ।

(ऋषिनाथ)

तृतीय विशेष—में किसी शक्य कार्य के करने में उससे अशक्य कार्य भी हो जाता है । यथा—

मिटी दुसह चिंता सकल, सफल भयो सब काम ;
तोहि लखे देखी भटू चिंतामनि अभिराम ।

(वैरीशाल)

शक्य=हो सकने योग्य । अशक्य=न हो सकने योग्य ।

पाय चुके फल चारिहू करत गंग-जल-पान ।

(पद्माकर)

बन कवने मन हरत हौ, प्रगट करत चित चोज ;
लाल, तिहारो रूप लखि निरख्यौ सही मनोज ।

(ऋषिनाथ)

तुमहिं लखत सब लखतमय कामद रघुकुल-राज !
काम काम-तरुवर लख्यौ, सुर-गुरु, सुर-पुर-राज ।

(रसिक रसाल)

साँची कहियतु आजु अलि, थोरे जतन रसाल ;
सब कछु पायो औचका, भुज भरि भेटे लाल ।

(सोमनाथ)

व्याघात (४४)

प्रथम व्याघात—में जिस साधन से किसी ने कुछ किया हो, उसी साधन से दूसरा उसे अन्यथा कर देता है । यथा—

तुम कहती निसिनाथ के लखत नसत संताप ;
याही ते दूनो बढ़त लखि बिरहानल पाप ।

(वैरीशाल)

सखी ने चंद्र से संताप-हानि के विचार का पोषण किया, उधर नायिका ने उसी से संताप-वृद्धि का कथन कर दिया ।

जु पै सखी ब्रजगाँव मैं घर-घर चलत चवाव,
तौ हरि-मुख लखि देहु किन नैन-चकोरन चाव ।

(मतिराम)

नायिका निंदा का कारण देकर जाने को नहीं करती है । उधर दूती उसी निंदा के कारण जाने का समर्थन करती है, इस विचार से कि जब निंदा होती ही है, तब नैनों को दर्शन का सुख क्यों न दिया जाय ?

अब का समुझावती, को समुझै, बदनामी के बीज तौ ब्वै चुकी री ;
तब तो इतनो न बिचार कियो, अब हाँसी भए कहौ कै चुकी री ।
कबि 'ठाकुर' या रस - रीति - रँगे, परतीति पतिब्रत ख्वै चुकी री ;
अरी, नेकी-बदी जो बदी हुती भाल मैं, होनी हुती, सु तो ह्वै चुकी री ।

(ठाकुर)

तुम चाहौ, सो कोऊ कहौ हमको, नँदवारे सों प्रीति ठई सो ठई ;
तुमही कुलबीनी प्रबीनी सबै, हमहीं कुल छाँड़ि गई सो गई।
'रसखानि' यों प्रीति कि रीति नई, जु कलंक की सौहैं लई सो लई ;
अब गाँव के बासी हँसैं ही हँसैं, हम स्याम की दासी भई सो भई।
(रसखानि)

इन नैनन में वह साँवरी मूरति देखत आनि अरी सो अरी ;
अब तौ है निबाहिबो याको भलो 'हरिचंदजू' प्रीति करी सो करी।
उन खंजन के मदगंजन सों अँखियाँ पै हमारी लरीं सो लरीं ;
अब लोग चवाव करैं ही करैं, हम प्रेम के फंद परीं सो परीं।
(भारतेंदु हरिश्चंद्र)

अंतिम तीनो छंदों में भी यही भाव आ जाता है। सखी के समझाने पर नायिका हँसी के कारण ही प्रीति नहीं छोड़नी चाहती।

तृतीय विषम, विशेषोक्ति तथा व्याघात में भेद—मतिराम-वाले दोहे में नायिका ने चवाव के कारण न जाने का प्रस्ताव किया था, किंतु वही कारण जाने के समर्थन में कहा गया। अतः तृतीय विषम (नं० ३७) क्यों न मानें ?

इसका उत्तर यह है कि नायिका ने जो विचार प्रकट किया था, उसका तो समर्थन हो ही गया, अतएव विषम न आया। यदि विशेषोक्ति (नं० ३४) मानने को कहा जाय, तो भी नहीं है, क्योंकि समर्थन मौजूद ही है, और विशेषोक्ति में हेतु के होते कार्य नहीं होता।

द्वितीय व्याघात—में स्वभावतः जो जैसा करनेवाला कहा गया हो, उससे उलटा कार्य होता है। यथा—

कसत मैं बार-बार वैसोई बुलंद होत,
वैसोई सरस रूप समर भरत है ;

'भूषन' भनत महाराज सिवराजमनि
सघन सदाई जस फूलन धरत है।
बरछी, कृपान, गोली, तीर के-ते मान
जोरावर गोलाबान तिनहू को निदरत है;
तेरो करवाल भयो जगत को ढाल, अब
सोई हाल म्लेच्छन के काल को करत है।
(भूषण)

जा लखि लोचन पावहीं नित प्रति जोति नवीन,
ता मुख बिहँसनि सों भटू चंदहि करत मलीन।
(वैरीशाल)

सुनतहि बचन-पियूष जो पिय-हिय-ताप बुझाय,
सोई सौतिन के हिये देत लाय - सी लाय।
(वैरीशाल)

कारणमाला (४५)

कारणमाला—में प्रत्येक पूर्व-कथित वस्तु पीछेवाली वस्तुओं की (एक शृंखला बनाते हुए) क्रम से हेतु होती जाती है। यह क्रम उलटा होने पर भी यही अलंकार होता है। यथा—

संकर की किरपा सरजा पर जोर बढ़ी कवि 'भूषन' गाई;
ता किरपा सों सुबुद्धि बढ़ी भुव भौंसिला साहितनै की सवाई।
राज सुबुद्धि सों दान बढ़्यो, अरु दान सों पुन्य-समूह सदाई;
पुन्य सों बाढ़्यो सिवाजी खुमान, खुमान सों बाढ़ी जहान भलाई।
(भूषण)

सुजस दान अरु दान धन, धन उपजै किरवान;
सो जग मैं जाहिर करी सरजा सिवा खुमान।
(भूषण)

यहाँ पहले उदाहरण में कृपा से बुद्धि, उससे दान, उससे पुण्य, उससे शिवाजी की वृद्धि और उससे भलाई बढ़ी। भलाई का कारण है वृद्धि, वृद्धि का पुण्य आदि होता हुआ कृपा तक जाता है। प्रत्येक पीछेवाली वस्तु का कारण क्रम से प्रत्येक पहलेवाली है, और एक शृंखला-सी बनती चली गई है।

दूसरे उदाहरण में क्रम उलटा हुआ है, अर्थात् प्रत्येक पीछेवाला पहलेवाले का कारण होता गया है। यश का कारण दान है, दान का धन और धन की तलवार। तलवार धन की वास्तविक कारण नहीं, वरन् परिश्रम है। फिर भी कवि ने तलवार ही कही है। वही खड्ग शिवाजी ने प्रकट किया है।

> **नैनन सों नेह होत, नेह सों मिलाप होत,**
> **रावरो मिलाप सब सुजस समाजै री।**
> **(दूलह)**

यह उदाहरण पहले ढंग का है।

> **विद्या के बिन बिनय नहिं, ता बिन नर न सुपात्र;**
> **बिन सुपात्रता धन नहीं, ता बिन धर्म न मात्र।**
> **(रसाल)**

यहाँ अपोह से है।

एकावली (४६)

एकावली—में उत्तर-उत्तरवाली वस्तु प्रत्येक पूर्ववाली वस्तु के विषय में विशेषण-भाव से कथित होती है। यह क्रम उलट जाने पर भी यही अलंकार रहता है। यथा—

> **कूरम पै कोल, कोल हू पै सेस-कुंडली है,**
> **कुंडली पै फैली फैल सुफन हजार की;**
> **कहै 'पदुमाकर' त्यों फन पै फबी है भूमि,**
> **भूमि पै फबी है थिति रजत-पहार की।**

रजत - पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर फैल जटाजूट है अपार की ;
संभु-जटाजूटन पै चंद को छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की।
(पद्माकर)

सो न सभा, जहँ वृद्ध न राजत, वृद्ध न ते, जु पढ़े कछु नाहीं ;
ते न पढ़े, जिन साधु न साधित, दीह दया न दिखै जिन माहीं।
सो न दया, जु न धर्म धरै, धर धर्म न सो, जहँ दान वृथाहीं ;
दान न सो, जहँ साँच न 'केसव', साँच न सो, जु बसै छल माहीं।
(केशव)

यहाँ 'अपोह' (निषेध) से एकावली आई है। नकार की मुख्यता है।

मालादीपक (४७)

मालादीपक—सादृश्य भाव-रहित दीपक और एकावली के मिलने से होता है। यथा—

कनक-बेलि मैं कोकनद, तामैं स्याम सरोज ;
तिनमैं मृदु मुसुकानि है, तामैं थित सु मनोज।
(मतिराम)

यहाँ स्थित धर्म का अन्वय कई जगह होने से दीपक (नं० १५) आता है, और एकावली (नं० ४६) है ही, क्योंकि स्वर्ण-बेलि (नायिका) में लाल कमल (मुख) है, जिसमें नील कमल (नेत्र) हैं, जो मुसुकाते (प्रफुल्लित) हैं। उस मुसुकानि में कामदेव रहता है। अतः मालादीपक हुआ।

नाक मैं नथूनी, नथुनी मैं लटकन, लट-
कन माहिं मोती, मोती अधर पै राजै री।
(दूलह)

यहाँ विराजने का अन्वय कई जगह होता है, और एकावली है ही।

दीपक और एकावली के संकर से मालादीपक में भिन्नता—वर्ण्यावर्ण्य भाव न होने से सादृश्य पर लक्ष्य नहीं है, जिससे दीपक नहीं है।

एकावली से यह पार्थक्य है कि वही धर्म कई स्थानों पर उसमें नहीं लगता। अतः मालादीपक को दीपक और एकावली का संकर नहीं कह सकते, पृथक् ही अलंकार है।

सार (४८)

सार—वह है, जहाँ पूर्व-पूर्ववाली वस्तु से उत्तर-उत्तरवाली वस्तु का गुण बढ़ता जाय। गुण में सुगुण और दुर्गुण, दोनो का ग्रहण हो जाता है। यथा—

सब ते मधुर ऊख, ऊख ते पियूख औ'
पियूखहू ते मधुर अधर प्रानप्यारी को।
(दूलह)

आदि बड़ी रचना है बिरंचि की, जामैं रह्यो रचि जीव जड़ो है;
ता रचना महँ जीव बड़ो अति, काहे ते, ता उर ज्ञान गड़ो है।
जीवन मैं नर लोग बड़े, अति 'भूषन' भाषत पैज अड़ो है;
है नर लोग मैं राज बड़ो, सब राजन मैं सिवराज बड़ो है।
(भूषण)

सीतल चंदन लोक मैं, ताते सीतल चंद;
ताहू ते सीतल महा सतसंगति सुखकंद।
(ऋषिनाथ)

यथासंख्य (४९)

यथासंख्य (यथाक्रम)—में जिस क्रम से कुछ प्रथम कहा हो, उसी क्रम से तत्संबंधी अन्य वस्तुओं का कथन होता है। यथा—

अमिय, हलाहल, मद-भरे, स्वेत, स्याम, रतनार—
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार।
(रसलीन)

नेत्रों का वर्णन है—

अमिय	हलाहल	मद-भरे
स्वेत	स्याम	रतनार
जियत	मरत	झुकि-झुकि परत

जेहि (जिनको) चितवत (देखने से) एक बार (भी)

महाबीर सत्रुसाल नंदराव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय से;
कहै 'मतिराम' तेरे तेज-पुंज लिए गुन
मारुत औ' मारतंड-मंडल बिलोय से।
उड़त नवत टूटि-फूटि मिटि फाटि जात,
बिकल सुखात बैरी दुखनि समोय से;
तूल-से, तिनूका-से, तरोवर-से, तोयद-से,
तारा-से, तिमिर-से, तमीपति-से, तोय-से।
(मतिराम)

तूल-से उड़त, तिनूका-से नवत, तरोवर-से टूटि जात, तोयद (बादल)-से फूटि जात, तारा-से मिटि जात, तिमिर-से फाटि जात, तमीपति (चंद्रमा)-से विकल (कला-हीन) होत, तोय (पानी)-से सुखात।

पर्याय (५०)

प्रथम पर्याय—में एक वस्तु का समय के फेर से अनेक स्थानों में कहा जाना होता है। यथा—

तजि इनको हिय मैं बसी पिय-मूरति बिहरै न;
निपट समीपी क्यों सहैं, याते तरफत नैन।
(वैरीशाल)

पहले पिय की मूर्ति नेत्रों के सामने रहती थी, परंतु अब (समय के फेर से) वही मूर्ति हृदय में रहने लगी।

प्रयोजन यह है कि पहले संयोग था, अतः पिय नेत्रों के सामने ही निवास करते थे, परंतु अब वियोगावस्था में उनका निवास हृदय-मात्र में रह गया। इसी से नेत्र तड़फड़ाते हैं।

सखी, तिहारे दृगनि की सुधा-मधुर मुसुकानि—
बसी रहति निसि-द्यौसहू अब उनकी अँखियानि।

(मतिराम)

पहले नायिका की आँखों में मधुर मुस्कान थी, अब (समय के फेर से) वह नायक की आँखों में बसती है। प्रयोजन नायक की आशक्ति का है।

जीति रही अवरंग मैं सबै छत्रपति छंडि;
तजि ताहू को अब रही सिव सरजा कर मंडि।

(भूषण)

कबहूँ प्रगटि जुद्ध मैं हाँकै;
मुगलनि मारि पुहुमि-तल ढाँकै।
बानन बरषि गयंदन फोरै;
तुरकन तमकि तेग तर तोरै।
कबहूँ जुरै फौज सौं आछे;
लेइ लगाइ चालु दै पाछे।
बाँके ठौर-ठौर रन-मंडे;
हाहा करे दंड लै छंडे।
कबहूँ उमड़ि अचानक आवै;
घन-से घुमड़ि लोह बरसावै।
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै;
कबहूँ चापि चँदालनि लूटै।

कबहूँ देस दौरिकै लावै;
रसदि कहूँ की कढ़न न पावै।
चौकी कहैं कहाँ ह्वै जैहो;
जित देखौ, तित चंपति है हो।
(लाल कवि)

'जित...है हो' कह देने से उसी समय में अनेक स्थानों पर श्री-चम्पति की स्थिति हो जाने से पर्याय नहीं रह गया, विशेष हो गया। परंतु 'कबहूँ' शब्द से ऊपरवाली पंक्तियों में समय का फेर भासित होता है, अतः वहाँ पर्याय ही है।

द्वितीय पर्याय—में समय के फेर से एक वस्तु में अनेक का बसना होता है। यथा—

अगर के धूप धूम उठत जहाईं, तहाँ
उठत बबूरे अब अति ही अमाप हैं;
जहाईं कलावँत अलाप मधुर स्वर,
तहाँईं भूत-प्रेत अब करत बिलाप हैं।
'भूषन' सिवाजी सरजा के बैर बैरिन के
डेरन मैं परे मानो काहू के सराप हैं;
बाजत हे जिन महलन मैं मृदंग, तहाँ
गाजत मतंग, सिंह, बाघ दीह दाप हैं।
(भूषण)

यहाँ समय के फेर से अनेक का निवास है।

बढ़त राग जेहि अधर लखि नागबेलि को राग,
तहँ अब अंजन-रेख लखि होत हिये में दाग।
(वैरीशाल)

पहले अधर में पान की लालिमा थी, अब वहाँ अंजन की रेखा है, अतः एक वस्तु में क्रम से अनेक का वर्णन है।

अर्थ यह है कि जिस अधर में पान की रक्तिमा अवलोकन कर मेरा अनुराग बढ़ता था, उस अधर में अंजन-रेखा देखकर मेरा हृदय म्लान होता है।

मृदु बोलनि कुंडल डोलनि कानन कानन कुंजनि ते निकस्यो ;
बनमाल बनी 'मतिराम' हिये पियरो पट त्यों कटि मैं बिलस्यो।
जब ते सिर मोर-पखानि धरे चित चोरि चितै इत ओर हँस्यो ;
तब ते दुरि भाजिकै लाज गई, अब लालच नैननि आनि बस्यो।

(मतिराम)

यहाँ पहले नेत्रों में लज्जा थी, अब समय के फेर से लालच बसा।

पर्याय, विशेष और परिवृत्ति का भेद - प्रदर्शन—पर्याय, विशेष (नं० ४३) और परिवृत्ति (नं० ५१) अलंकारों का भेद साहित्य-दर्पण में यह लिखा है। दूसरे पर्याय में एक ही वस्तु समय के फेर से अनेक स्थानों में रहती है, और विशेष में एक ही समय में। आपस में विनिमय के न होने से परिवृत्ति से भेद है।

परिवृत्ति (५१)

परिवृत्ति—में किसी को कुछ देकर उससे कुछ लेने का चमत्कार-पूर्ण कथन होता है।

इसके उदाहरण चार प्रकार से आते हैं, अर्थात् उत्तमेन न्यूनस्य विनिमयः, न्यूनेनोत्तमस्य विनिमयः, उत्तमेनोत्तमस्य विनिमयः तथा न्यूनेन न्यूनस्य विनिमयः।

इनमें से मम्मट तथा पंडितराज केवल पहले दो भेदों को स्वीकार करते हैं, तथा साहित्य-दर्पण तीन को।

परिवृत्ति में मतभेद—सर्वस्वकार और वामन का मत है कि इसके लिये दो व्यक्तियों का होना भी आवश्यक नहीं, क्योंकि एक ही व्यक्ति द्वारा कुछ देकर कोई वस्तु लेने से अलंकार सध जाता

है। पर्याय (नं० ५०) में समय के फेर से एक में अनेक वस्तुएँ रहती हैं, सो सर्वस्वकार को मानने से परिवृत्ति पर्याय से मिल जाता है, क्योंकि इन दोनो में भेद बहुत कम रह जाता है।

साहित्य-दर्पणकार के तीन भेदों में उपर्युक्त चारो भेद आ जाते हैं (परिवृत्तिविनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्)। वास्तव में ये तीनो भेद भी उदाहरणांतर-मात्र समझे जा सकते हैं। इसमें एकाधिक व्यक्तियों में कोई आदान-प्रदान आवश्यक है। यथा—

दच्छिन धरन धीर धरन खुमान गढ़
लेत गढ़ धरन सों धरम दुवारु दै;
साहि नरनाह को सपूत महाबाहु लेत
मुलुक महान छीनि साहिन को मारु दै।
संगर मैं सरजा सिवाजी अरि-सेनन को
सारु हरि लेत हिंदुवान सिर सारु दै;
'भूषन' भुसिल जय जस को पहारु लेत
हरजू को हारु हरगन को अहारु दै।
(भूषण)

यहाँ पहला पद उस कथा का हवाला देता है, जिसमें शिवाजी ने तीन झगड़ालू भाइयों का बटवारा करने में धर्मद्वार में उन्हें जागीरें लगाकर गढ़ लिया था।

बनक बन्यो, बन ते कढ़्यो, रह्यो सुरस मैं भीनि;
नेकु दरस दै साँवरे लीन्हीं सुधि-बुधि छीनि।
(ऋषिनाथ)

जोर दल जोरि साहिजादो साहिजहाँ, जंग
जुरि, मुरि गयो रही राव मैं सरम-सी;
कहै 'मतिराम' देव - मंदिर बचाए जाके,
बल बसुधा मैं बेद स्रुति बिधियौं बसी।

जैसो रजपूत भयो भोज को सपूत हाड़ा,
तैसो और दूसरो भयो न जग मैं जसी ;
गाइन को बकसी कसाइन की आयु और
गाइन की आयु सो कसाइन को बकसी।
(मतिराम)

आजु करी नँदनंद नै हित की बात नवीन ;
चारु दृगन की सैन दै सरबसु मन हरि लीन।
(सोमनाथ)

इसमें सुंदर सैन और मन का वाच्य में आदान-प्रदान है।

मो मन, मेरी बुद्धि लै करि हरि को अनुकूल ;
लै त्रिलोक की साहिबी दै धतूर के फूल।
(मतिराम)

यहाँ कवि स्वयं अपने को शिक्षा दे रहा है। कुछ लेना-देना न होकर सोचना-भर है। तो भी परिवृत्ति है ही।

रावन को बीर 'सेनापति' रघुबीरजू की
आयो है सरन छाँड़ि ताही मतिअंध को ;
मिलत ही ताको राम कोप कै करी है ओप,
नामन को दुज्जन दलन दीनबंधु को।
देखौ दानबीरता निदान एक दान ही मैं
कीन्हें दोय दान बखानै सत्यसंध को ;
लंका दसकंधर की दीन्हीं है बिभीषन को,
संकाऊ बिभीषन की दीन्हीं दसकंध को।
(सेनापति)

बीर=भाई। दूसरा पद=दुष्टों के मारने ले दीनबंधु राम के नामों की जो प्रभा थी, उसका प्रकटीकरण राम ने (रावण पर) क्रोध करके विभीषण के मिलते ही ऐसा किया।

काह 'बिसाल' भ्रमै-भटकै, तव बुद्धि बिसुद्धि कहाँ को गई है ;
देखि ले भूप भगीरथ को, जिन सागर लौं जस-बेलि बई है।
दानि - सिरोमनि संकर की यह लोकन मैं मरजाद भई है ;
नेक-सो बारि चढायो जहीं, तहीं पूरन गंग की धार दई है।

(विशाल)

परिसंख्या (५२)

परिसंख्या—में किसी का दूसरे स्थान पर इस प्रकार स्थापन होता है कि वहाँ उस रूप में न स्थापित होते हुए भी दूसरे स्थान से वह हटाया गया हो। यथा—

मूलन ही को जहाँ अधोगति केसव गाइय ;
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुरगति दुरगन ही जु कुटिल गति सरितन ही मैं ;
श्रीफल को अभिलाष प्रकट कवि कुल के जी मैं।

(केशवदास)

अति मतवारे जहाँ दुरदै निहारियत,
तुरगन ही मैं चंचलाई परकीति है ;
'भूषन' भनत जहाँ पर लगै बान ही मैं,
कोक पच्छिनहिं माहिं बिछुरन रीति है।
गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के लोक
बँधै जहाँ एक सरजा की. गुन प्रीति है ;
कंप कदली मैं, बारि - बुंद बदली मैं, सिव-
राज अदली के राज मैं यों राजनीति है।

(भूषण)

मतवालापन हाथियों में गुण-रूप से रक्खा जाकर मनुष्यों से दोष-रूप में हटाया गया है। यही दशा अन्य उदाहरणों में भी है। कोक पत्ती

का रात में बिछुड़ना स्वभाव-रूप से है। उससे अन्यों का दोष-रूपवाला वियोग हटाया गया है।

दंड यतिन कर भेद जहँ नरतक नृत्य समाज;
जीतै मनसिज सुनिय अस रामचंद्र के राज।
(कस्यचित्कवेः)

यहाँ श्लेष से परिसंख्या है। दंड=सज़ा; फ़क़ीरों का डंडा। भेद=भेद-नीति; रागादि का भेद।

आज कुटिलता कौन मैं? राजपुरुषगन माहिं;
देख्यो बूझि बिचारि है ब्याल-बंस मैं नाहिं।
(दास)

यहाँ प्रश्न-मूलक वर्णन है। कुटिलता बाँस तथा साँप में न होकर केवल राजन्य-वर्ग में कही गई है।

पर्यस्तापह्नुति और परिसंख्या का भेद-प्रदर्शन—पर्यस्तापह्नुति (नं० ११) से यहाँ यह भेद है कि उसमें स्थापना पहले ही रूप में होती है, तथा यहाँ कहने को तो वही रूप होता है, किंतु वास्तविक प्रयोजन बदल जाता है। जैसे कदली में कंप स्वभावज है, परंतु मनुष्यों में दोष-रूप भयादि के कारण से।

विकल्प (५३)

विकल्प—में तुल्य बलवाले अनेक पक्षों का एक ही काल में अवलंब हो सकने का विरोध दिखलाया जाता है।

विरोध तथा विकल्प में भेद—विरोध (नं० ३२) में वस्तुओं या गुणों का एक ही काल, एक ही स्थान में स्थित होने में विरोध होता है, परंतु यहाँ पक्षों का विरोध होता है, यह भेद है। यथा—

देसन-देसन नारि नरेसन 'भूषन' यों सिख देहिं दया सों;
मंगन ह्वैकरि दंत गहौ तिन, कंत तुम्हैं है अनंत महा सों।

कोट गहौ कि गहौ बन-ओट कि फौज कि जोट सजौ प्रभुता सों ;
और करौ किन कोटिक राह, सलाह बिना बचिहौ न सिवा सों।
(भूषण)

यहाँ केवल तीसरे पद में विकल्प है। (१) कोट के भीतर बैठकर युद्ध करना, या (२) जंगल में भाग जाना, या (३) सेन-संधान करके लड़ना, ये तीन पक्ष हैं।

दिसि-दिसि कूजत कोकिया, फूलो रुचिर रसाल ;
दूरि करैगो बिरह-दुख कै गोपाल, कै काल।
(कस्यचित्कवेः)

यहाँ जीवन-मरण के दो पक्षों में विरोध है, क्योंकि दोनो साथ ही नहीं हो सकते।

तो बिरहानल सों भई अति ही बाल बिहाल ;
दीजै चलि जीवन उतै कितौ तिलांजुलि लाल !
(वैरीशाल)

आए रघुपति सैन सजि सुनु दससीस निदान ;
चरन गहौ, कै बन गहौ, पति राखौ, कै प्रान।
(ऋषिनाथ)

कि वह बसंत - बहार कै प्रफुलित नूत कतार ;
कै निरखत हरषै हियो यह धुरवन की धार।
(सोमनाथ)

चित्त वसंत-बहार या फूले हुए नवीन पुष्पों की कतार या धुरवों को देखकर प्रसन्न होता है। यहाँ किसी वस्तु में विरोध न होने से विकल्प नहीं है।

चहन चहत बन जीवन - नाथा ;
कौन सुकृत सन होइहि साथा।

की तनु - प्रान कि केवल प्राना ;
बिधि-करतब कछु जात न जाना ।
(गो० तुलसीदास)

मोल्हन बात न सो बदलै, अब जो प्रथमै मुख सों हम काढ़ी ;
मैं अपने बल बैर कियो, किन मीचु रहै सिर ऊपर ठाढ़ी ।
खीन सबै खल-मंडल को कै मलीन करौं मुख की रुचि बाढ़ी ;
कै सुलतान की सान रहै, कै हमीर हठी की रहै हठ गाढ़ी ।
(चंद्रशेखर वाजपेयी)

रुचि पायँ भमाय दई मेंहदी तेहिको रँगु होत मनो नगु है ;
अब ऐसे मँ स्याम बोलावैं भटू, किमि जाइए पंकमयो मगु है ।
अधराति अँधेरी न सूझै गली, भनि 'जोयसी' दूतिन को सँगु है ;
अब जाहुँ, तौ जात धुयो रँगु री, रँगु राखौं, तौ जात सबै रँगु है ।
(जोयसी)

गरहित बिबिध कुपाप जनता ऊ करै,
एकन के लूटिबे को दूसरी है ततपर ;
देस चिर काल सों बनाए बहु दास गए,
देखिए उदाहरन मुसल्लीनी, हिटलर ।
यदि सब ही के राजसेवक नरक जैहैं,
मचिहै करोरिन को उतै जमघट बर ;
उनही के साथ जम-जातनाएँ भोगिहैं, तौ
न तो नाक जैहैं बैठि बिसद बिमान पर ।
(मिश्रबंधु)

समुच्चय (५४)

समुच्चय—में अनेक एकत्र इकट्ठे होते हैं ।

प्रथम समुच्चय—में एक ही भाववाली बहुत-सी क्रियाओं या गुणों का साथ कथन रहता है । यथा—

हरषतीं सबैं, सोभा करषतीं सदन मैं ;
बरषतीं फूल, पैंड़ो परखतीं लाल को।
(दूलह)

हौं न सकौं इक बदन सों जदुपति तोहि सराहि ;
रुकत-झुकत सूखत लखत सौतिन के मन जाहि।
(वैरीशाल)

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौहँ करै, भौहँनि हँसै, देन कहै, नटि जाय।
(बिहारी)

माँगि पठायो सिवा कछु देस, उजीर अजामनि बोल गहे ना ;
दौरि लियो सरजै परनालो यों 'भूषन' जो दिन दोय लगे ना।
धाक सों खाक बिजैपुर भो, मुख आयगो खान खवास के फेना ;
भै भरकी, करकी, धरकी, दरकी दिल एदिलसाहि कि सेना।
(भूषण)

जब ते कुँवर कान रावरी कलानिधान
कान परी वाके कहूँ सुजस-कहानी-सी ;
तब ही सों 'देव' देखी देवता-सी हँसति-सी,
रीझति-सी, खीझति-सी, रूसति रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीनि लीनी-सी, छकी-सी छीन,
जकी-सी, टकी-सी, लागी थकी थहरानी-सी ;
बीधी-सी, बँधी-सी, बिस-बूड़ी-सी, बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी-सी।
(देव)

कुंजन के कोरे मन केलि-रस बोरे लाल,
तालन के खोरे बाल आवति है नित को ;

अमिय निचोरे कल बोलति मिहोरे नेक,
सखिन के ढोरे 'देव' ढोलै जित-तित को।
थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देति रूप-रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को;
तोरे लेति रति-दुति, मोरे लेति मति-गति,
छोरे लेति लोक-लाज, चोरे लेति चित को।
(देव)

ऊपर सब क्रियाओं के उदाहरण हैं। अब गुणों का दिया जाता है—

सुंदरता, गुरुता, प्रभुता भनि 'भूषन' होत है आदर जामैं;
सज्जनता औ' दयालुता, दीनता, कोमलता झलकै परजा मैं।
दान कृपानहु को करिबो, करिबो अभै दीनन को बर जामैं;
साहन सों रन-टेक-बिबेक, इते गुन एक सिवा सरजा मैं।
(भूषण)

द्वितीय समुच्चय—में अनेक प्रधान कारण एक कार्य को सिद्ध करते हैं। यथा—

रूप, गुन, जोबन, जलूस प्यार पी को तब
जोमही को जुरी सब जोम की जमाति है।
(दूलह)

यहाँ गर्व के लिये सब कारण मुख्य हैं, और यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से वास्तव में प्रधान कारण कौन है?

मल्लिकान मंजुल मलिंद मतवारे मिले,
मंद - मंद मारुत मुहीम मनसा की है;
कहै 'पदुमाकर' त्यों नादत नदीन नित,
नागरि नवेलिन की नजरि निसा की है।
दौरत दरेरे देत दादुर सुदूदैं दीह,
दामिनी दमंकनि दिसान मैं दसा की है;

बद्दलनि बुंदनि बिलोके बगुलान बाग,
बंगलिन बेलिन बहार बरसा की हैं।
(पद्माकर)

दूदैं = दुंद मचाते हैं।
निसा की = हुब्ब हुलास वाली।

समुच्चय और संदेहवान् का भेद-प्रदर्शन—यहाँ सभी कारणों से वर्षा की बहार है। कोई संदेह नहीं कि अमुक कारण से बहार है या अमुक से। जहाँ ऐसा संदेह हो, वहाँ समुच्चय न होकर संदेहवान् (नं० १०) होगा। यथा—

मलयाचल मारुत, किधौं चंद, किधौं पिक-गान—
हरै हमारो प्रान सखि, याको करौ निदान।
(मुरारिदान)

उपर्युक्त उदाहरण में संदेह है कि कार्य किस हेतु द्वारा संपादित हुआ, जिससे संदेहवान् अलंकार हुआ न कि समुच्चय।

चंद, कंज, कोकिल चढ़े करि आगे अरि-काम;
अब लौं अवधि-अधार-गढ़ बची बिचारी बाम।
(बैरीशाल)

यहाँ काम की प्रधानता होने से समुच्चय न होकर समाधि अलंकार (नं० ५६) हो जाता है।

संदेहवान् (नं० १०) के नीचे लिखा हुआ सलाबतख़ाँ का छंद इसके उदाहरण में आता है।

दारनि सितारनि के तारनि की तोरैं मंजु,
तैसियै मृदंगन की धुनि धुधकारतीं;
चमकैं कनक-नग, भूषन बनक बने,
तैसी घुँघुरून की झनक झनकारतीं।

'दास' गरबीली पंगु मंक बंक भ्रुव नैनि ,
तैसियै चितौनि सहँसनि मोहि मारतीं ;
बाँके मृग-नैन की अचूक गति लेती मृदु ,
हीरा सों हिये को टूक-टूक करि डारतीं ।

(दास)

दारा = एक बजाने का यंत्र । तारनि = तारों की । पंगु मंक = चलने में पंगु ।

नैन, कान, कर, अधर मिलि बेचत मनहि बचाय ;
नेकु न लाजत अधम ये, इनते कहा बसाय ।

(वैरीशाल)

बचाय=बचाइए ।

समाधि और द्वितीय समुच्चय का पृथक्करण—द्वितीय समुच्चय में यह नहीं मालूम होता कि किस कारण ने कार्य किया, अर्थात् सभी प्रधान होते हैं । परंतु समाधि (नं० ५६) में एक ही कारण कार्यकर्ता होता है, तथा दूसरा उसकी सहायता-मात्र कर देता है ।

प्रथम समुच्चय तथा पर्याय में भेद—प्रथम समुच्चय में कई गुण साथ रहते हैं, समय के फेर से नहीं । उधर पर्याय में वे समय के फेर से रहते हैं ।

दामिनी-दमक, सुर-चाप की चमक, स्याम
घटा की घमक अति घोर घन घोर ते ;
कोकिला-कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीतल है हीतल समीर - झकझोर ते ।
'सेनापति' आवन कह्यो है मनभावन,
लगो है तरसावन बिरह-जुर जोर ते ;

आयो सखि, सावन बिरह सरसावन,
लगो है बरसावन सलिल चहुँ ओर ते।
(सेनापति)

कैलिया कूकन लागीं 'बिसाल', पलास कि आँचन देह दहै लगी;
बौरन लागे रसाल सबै, कल कंजन को अलि-भीर चहै लगी।
प्रान को लेन लगे पपिहा, कत मान कि बात री मोसों कहै लगी;
आजु इकंत मिलै किन कंत सों बीर बसंत बयारि बहै लगी।
(विशाल)

कूकैं लगीं कैलिया कसाइनैं कंदबन पै,
बौरै लगे अंब भरे सुषमा अपार सों;
त्रिबिधि समीरन कि लूकैं तन फूकै लगीं,
हूकै लगीं बावरी बियोगिनी बिकार सों।
सूलै लगो किंसुक, अनार प्रतिकूलै लगो,
हूलै लगो मदन 'बिसाल' सर-भार सों;
छपद छबीलेन को भुंड भुकि भूमै लगो,
अरबिंद भू मैं लगो मकरंद भार सों।
(विशाल)

कारक दीपक (५५)

कारक दीपक—में बहुत-सी क्रियाओं का एक ही कारक होता है।

कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण-नामक कारक होते हैं। इनके विषय व्याकरण में हैं। यथा—

आवति है, जाति है, लजाति, मुसुकाति;
अँठिलाति या गली मैं मड़राति दिन-राति है।
(दूलह)

कहत, नटत, रीझत, खिझत, हिलत-मिलत, लजियात;
भरे भौन मैं करत है नैनन ही सों बात।

(बिहारी)

यहाँ कहत, नटत, रीझत, खिझत, हिलत-मिलत और लजियात का एक ही कारक है।

बैठी सीस-मंदिर मैं सुंदरि सवारही की,
मूँदिकै केवार 'देव' छबि सों छकति है;
पीत पट, लकुट, मुकुट, बन-माल धरि
बेष करि पी को प्रतिबिंब मैं तकति है।
होति न निसंक उर अंक भरि भेंटिबे को,
भुजनि पसारति, समेटति जकति है;
चौंकति, चकति, उचकति, चितवति चहुँ
झूमि ललचाति, मुख चूमि न सकति है।

(देव)

यहाँ भी भुजनि पसारति, समेटति, जकति, चौंकति आदि का कारक एक नायिका है।

ताही भाँति धाऊँ, 'सेनापति' जैसे पाऊँ, तन
कंथा पहिराऊँ, करौं साधन जतीन के;
भसम चढ़ाइ जटा सीस पै बढ़ाऊँ, नाम
वाही को पढ़ाऊँ दुखहरन दुखीन के।
सबै बिसराऊँ, उर तासों उरझाऊँ, कुंज
बन-बन धाऊँ तीर भूधर-नदीन के;
मन बहिराऊँ, मन मनहि रिझाऊँ, बीन
लैकै कर गाऊँ गुन वाही परबीन के।

(सेनापति)

कुंडलित सुंड गंड झुंडत मलिंद बृंद
बंदन बिराजै मुंड अद्भुत गति को ;
बाल ससि भाल, तीनि लोचन बिसाल, राजै
फनिगन-माल सुभ सदन सुमति को।
ध्यावत बिना ही स्रम लावत न बार नर,
पावत अपार भार मोद धनपति को ;
पाप-तरु-कंदन को, बिघन-निकंदन को
आठो जाम बंदन करत गनपति को।
(जानकीप्रसाद)

पाप-तरु-कंदन, बिघन-निकंदनादि का कारक एक है।

जारत, बोरत, देत पुनि गाढ़ी चोट बिछोह ;
कियो समर मो जीव को आयसकर को लोह।
(वैरीशाल)

समर = स्मर, कामदेव। आयस = इस्पात। जारत, तोरत आदि का एक ही कारक है।

बिछवाए पौरि लौं बिछौना जरबाफन के-
बरवाय दीपक सुगंध सब आरी मैं ;
जरवाए अंबर कलस धरवाए, रस
भरवाए मादक कनकमई झारी मैं।
रावरे सों मिलिबे को एहो कबि 'रघुनाथ',
आवति हौं देखे चोप ऐसी औधिबारी मैं ;
आँगन मैं आप ठाढ़ी होय, फेरि फिरि जाय,
फिरि आय फिरि जाय बैठे चित्रसारी मैं।
(रघुनाथ)

आरी = छोटा आर; ताक़।

सकते हैं, किंतु सहायता देनेवाला मुख्य एक ही होता है। समुच्चय (नं० ४४) में सभी प्रधान होते हैं।

प्रत्यनीक (५७)

प्रत्यनीक—में प्रबल शत्रु के पक्षियों से बदला लेने का प्रयत्न होता है। यथा—

लाज धरौ, सिवजी सों लरौ सब सैयद, सेख, पठान पठायकै ;
'भूखन' ह्याँ गढ़-कोटन हारे, उहाँ तुम क्यों मठ तोरे रिसायकै ?
हिंदुन के पति सों न बिसाति, सतावत हिंदु गरीबन पायकै ;
लीजै कलंक न दिल्लि के बालम आलम आलमगीर कहायकै।

(भूषण)

यहाँ हिंदुपति से हारकर उसके पक्षवाले हिंदुओं के सताने से प्रत्यनीक हुआ।

तो मुख-छबि सों हारि जग भयो कलंक-समेत ;
सरद - इंदु अरबिंदु - मुखि अरबिंदन दुख देत।

(मतिराम)

पंकजमुखी होने से कमल उसके हितू हुए, जिन्हें चंद्रमा बंद करता है।

प्रत्यनीक की पृथक् अलंकारता—

विष्णु-बदन-सम बिधुहि अगाधा ;
अब लौं राहु करत है बाधा।

(मुरारिदान)

इसके मूल पर लिखते हुए मम्मट-कृत काव्यप्रकाश की टीका 'उद्योत' में नागोजी भट्ट ने लिखा है कि यद्यपि यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है, तथापि प्रबल शत्रु से वश न चलने के कारण उसके पक्षवाले से बदला लिया जाता है, ऐसा विशेष चमत्कार होने से प्रत्यनीक अलंकार मानना चाहिए।

तात्पर्य यह कि प्रत्यनीक के साथ उत्प्रेक्षा भी होती है, परंतु विशेष चमत्कार के कारण प्रत्यनीक द्वारा अलग अलंकारता स्वीकार की गई है।

विष्णु-वदन के समान शशि के होने के कारण ही राहु का उसे ग्रसना सिद्ध न होने से अहेतु है। उस अहेतु को हेतु मानने तथा जनु-मनु आदि किसी वाचक के न होने से असिद्धविषया हेतु-मूलक गम्योत्प्रेक्षा है।

जारि अनंग कियो जब ते, तब ते गिरिराज कि राह बरावत ;
मो ढिग आय बसंत बनाय 'बिसाल' सरासन सों सर छावत।
रे खल मैन, सुनै किन बैन, बृथा दुख दै मुख कालिमा लावत ;
संकर सों कछु नाहिं चली, अब बापुरे दासन बादि सतावत।
(विशाल)

काव्यार्थापत्ति (५८)

काव्यार्थापत्ति—किसी दुष्कर कार्य के किए जाने से सुकर के भी कारण की समानता से, सिद्ध हो जाने में काव्यार्थापत्ति अलंकार होता है। यथा—

तेरो रूप जीत्यो रति, रंभा, मेनका को, और
नारिन बिचारिन को मजकूर कहा है।
(दूलह)

तात्पर्य यह कि जब रति आदि को तेरे रूप ने जीत ही लिया, तब हीन गुण-युक्त नारियों का क्या कहना ?

सयन मैं साहन को सुंदरी सिखावैं ऐसे,
सरजा सों बैर जनि करौ, महाबली है ;
पेस कसैं भेजत बिलायत, पुरतगाल,
सुनिकै सहमि जात करनाटथली है।

'भूषन' भनत गढ़ - कोट, माल, मुलुक दै
सिवा सों सलाह राखिए, तौ बात भली है ;
जाहि देत दंड सब डरिकै अखंड, सोई
दिल्ली दलमली, तौ तिहारी कहा चली है ?

(भूषण)

बिंब - से अरुन अति अमल अधर पर
मंद बिलसत चारु चाँदनी सुबास है ;
कासों जाय बरनि बनक नकबेसरि की,
ललित बिलोकनि पै बिबिध बिलास है।
कबि 'मतिराम' पाय सहज सुबास आस
भौंरनि की भीर न तजति आस-पास है ;
कहा दरपन, कैसे पावत बदन - जोति,
चंद जाको चेरो, अरबिंद जाको दास है।

(मतिराम)

कवि जब चंद और कमल का दुष्कर जीता जाना कहता है, तब हीन गुणवाले दर्पण का मुख की बराबरी करना असंभव है।

काव्यार्थापत्ति पर सर्वस्वकार का मत—अलंकारसर्वस्व यहाँ दंड-पूपिका-न्याय से निष्कर्ष की सिद्धि मानता है, और कहता है कि इस अलंकार में व्याप्य-व्यापक-न्याय से निष्कर्ष नहीं निकलता।

"डंडे को मूषक खा गया।" यह कहने से उसमें लगे हुए पूपिका (पुए) का खा जाना स्वयं सिद्ध है। यही दंड-पूपिका-न्याय है।

काव्यलिंग (५६)

काव्यलिंग—जहाँ वाक्यार्थता या पदार्थता को कारणता देकर समर्थन करना गर्भित हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। यथा—

अलि, अब मोहि बिछोह-तम नेकहु बाधत नाहिं ;
बसति सदा ब्रजचंद की मूरति नैनन माहिं ।
(बैरीशाल)

ब्रज के चंद्र (भगवान्) के नयनों में बसने से वियोगांधकार बाधा नहीं देता । यहाँ चंद्र-ज्योत्स्ना के कारण से ही यह अंधकार-भव बाधा दूर हुई है । यहाँ समर्थन अर्थ द्वारा होता है—अर्थात् समर्थन का निष्कर्ष पाठक को निकालना पड़ता है । पद्य में नहीं दिया है ।

भौंहैं कमान कै, लोचन बान कै लाजहि मारि रहे बिसवासी ;
गोल कपोलनि केलि करै भयो कुंडल लोल हिंडोल बिलासी ।
कोट किरीट किए 'मतिराम' करै चढ़ि मोर-पखान मवासी ;
क्यों मन हाथ करौं सजनी, बनमाल मैं बैठि भयो बनबासी ।
(मतिराम)

यहाँ प्रयोजन यह है कि नायिका का मन भगवान् पर ऐसा मोहित है कि निकलता नहीं । उसने भौंहें कमान तथा नयनों को बाण बनाकर लाज को छोड़ दिया है, और फिर अपने ऊपर पूरा विश्वास (भरोसा) भी रखता है । भगवान् के झूलनेवाले कुंडलों पर हिंडोरा के समान बैठकर वह गोल गालों पर विचरता (उनके सौंदर्य पर मुग्ध) है । मुकुट को गढ़ तथा मयूर-पक्षों को क़िलेदार बनाए हुए है । वह भगवान् के वनमाल में बैठकर ऐसा वनवासी-सा हो गया है कि वश में नहीं आता ।

यहाँ वाक्यार्थ मन के वापस न आने का कारण है । इसमें भी निष्कर्ष पाठकों को ही निकालना पड़ा, शब्द द्वारा नहीं निकाला गया । इसी प्रकार हर उदाहरण में समझ लेना । यह विषय अनुमान (नं० १०८) में भले प्रकार समझा दिया है ।

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय ।
(बिहारी)

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग ;
जेहि ब्रज केलि-निकुंज-मग पग-पग होत पराग ।
(बिहारी)

मोरँग कुमाउँवौ पलाऊ बाँधे एक पल,
कहाँ लौं गनाऊँ, जेब भूपन के गोत हैं ;
'भूषन' भनत गिरि बिकट निवासी लोग
बावनी बवंजा नव कोटि धुंध जोत हैं ।
काबुल, खँधार, खुरासान जेर कीन्हो, जिन
मुगल, पठान, सेख, सैयदहु रोत हैं ;
अब लगि जानत हे बड़े होत पातसाहि,
सिवराज प्रकटे ते राजा बड़े होत हैं ।
(भूषण)

जीतन संगर मैं अरि-जालन आनन बीच बसी ललकार है ;
दीनन के हित दच्छिन बाहु बनी सुखदा सुर-पादप-डार है ।
श्रीसरजा सिव आजु सही बसुधा-तल पै जस को अवतार है ;
है भुवपाल तुही जग मैं, भुजदंडन पै तव भूतल-भार है ।
(मिश्रबंधु)

"है…जग मैं" का समर्थन "भुज ……भार है" से हुआ ।

रहत अछक, पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जु नांगी डर काहू के डरै नहीं ;
भोजन बनावै नित चोखे खानखानन के,
सोनित पचावै, तऊ उदर भरै नहीं ।
उगिलत आसौ, तऊ सकल समर बीच
राजै राव बुद्ध कर बिमुख परै नहीं ;
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं ।
(भूषण)

केतो करो कोय, पैए करम लिखोय, ताते
दूसरी न होय, अब सोय ठहराइए।
आधी ते सरस बीति गई है बरस अब,
दुज्जन - दरस बीच रस न बढ़ाइए।
चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित 'सेना-
पति' ह्वै सुचित रघुपति - गुन गाइए;
चारि बरदानि तजि पाय कमलेछन के,
पायक मलेछन के काहे को कहाइए।

(सेनापति)

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिरि नेह को तोरिए जू;
निरधार अधार दै धार-मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू।
'घनआनँद' आपने चातिक को गुन बाँधिकै मोह न छोरिए जू;
रस पायकै, जाय बढ़ायकै आस, बिसास मैं क्यों बिस बोरिए जू।

(आनंदघन)

निकट रहे आदर घटै, दूरि रहे दुख होय;
'सम्मन' या संसार मैं प्रीति करौ जनि कोय।

(सम्मन कवि)

बहु नावेल देखी जबै, तब ते सद्ग्रंथन मैं चित लागै नहीं;
तन मैं जब आलस आयो, तबै मन संयम के मत जागै नहीं।
हम जान्यो 'बिसाल' सुपंथनहू, पै कुपंथन ते रुचि भागै नहीं;
केहि भाँति सों संकर पूजैं तुम्हैं, हमरो तुम पै अनुरागै नहीं।
सुनि आरत बानी द्रवौगे जु पै, हमहूँ तौ भले सुख लूटहिंगे;
तरिकै भव-सागर गोपद लौं तव चंद-सुधा-रस घूटहिंगे।
सिव! जो पै अमालन पै लखिहौ, तौ सदा अपनो उर कूटहिंगे;
जमराज के दोजख ही सों 'बिसाल' कयामत लौं नहिं छूटहिंगे।

(विशाल)

जाति-पाँति की भीति तौ प्रीति-भवन मैं नाहिं ;
एक एकता छतहि की छाहँ मिलति सब काहिं ।
(दुलारेलाल भार्गव)

जीवन-समुद्र लहरात जग-देहनि मैं
एक, जीव को पै कहूँ लेस न लखात है ;
गरभ के पहिले, त्यों मरन पिछारू कैसे
रहे, कहाँ जैहैं, नहिं जानिबे की बात है ।
पुल पर ठाढ़े तौ अवस्य हैं, पै कैसे आए,
जैहैं कहाँ, नहीं कछू चित मैं समात है ;
होत परिवरतन रहत सदा ही, काल
असना को रूप धरि देहनि को खात है ।
(मिश्रबंधु)

लागत कुटिल कटाच्छ-सर क्यों न होहिं बेहाल ;
कढ़त जु हियो दुसार करि, तऊ रहति नटसाल ।
(बिहारी)

यहाँ पहले पद का समर्थन दूसरे पद के नटसाल (नष्ट शल्य, टूटा हुआ भाग) से होता है । यहाँ क्यों शब्द के कारण समर्थन का किया जाना पाठकों पर न निर्भर होने से अनुमान (नं० १०८) है, काव्य-लिंग नहीं ।

करै कुबत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल ;
दुखी होहुगे सरल चित बसत तृभंगी लाल ।
(बिहारी)

यहाँ तृभंगी शब्द कुटिलता करने का समर्थक है ।

काव्यलिंग का परिकर से भेद—

भाल मैं जाके सुधाकर है, वहै साहब ताप हमारी हरैगो ।

यहाँ साहब स्वयं ताप-हरण में समर्थ है, और सुधाकर उसका रंजन-मात्र करता है। अतः परिकरालंकार (नं० २४) है।

नटसाल और तृभंगी लाल में दूसरा कारण नहीं है, किंतु यहाँ दूसरा मौजूद है। इसी से अंतर है।

परिकर में पदार्थ या वाक्यार्थ का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषण-मात्र करता है, परंतु काव्यलिंग में वही हेतु हो जाता है। यह कुवलयानंदकार का मत है।

नोट—अनुमान (नं० १०८) का इससे भेद उसी अलंकार में दे दिया जायगा।

काव्यलिंग में मतभेद—कुछ लोग केवल समर्थनीय के समर्थन में ही काव्यलिंग मानते हैं, यथा "कनक...पाए बौराय" में स्वर्ण की मादकता धतूरे से अधिक कही गई है, परंतु जब तक इसका समर्थन न हो, अर्थ नहीं बनता, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध नहीं। अतः इसमें समर्थनीय का समर्थन है। परंतु कोई कारण नहीं कि केवल समर्थनीय के समर्थन में ही यह अलंकार माना जाय। (अर्थांतरन्यास में भी पढ़ लीजिए)

अर्थांतरन्यास (६०)

अर्थांतरन्यास—में सामान्य वाक्य का विशेष वाक्य से या विशेष का सामान्य से समर्थन होता है। यथा—

> बड़े न हूजै गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाय ;
> कनक धतूरे सों कहत, गहनो गढ़ो न जाय।
>
> (बिहारी)

विशेष—एक के विषय में कथित वाक्य विशेष होता है।

सामान्य—एकाधिक के विषय में कथित वाक्य सामान्य है। यहाँ पहले पद में सामान्य वाक्य है, और दूसरे में विशेष।

'रहिमन' नीच प्रसंग ते लगत कलंक न काहि ;
दूध कलारिनि हाथ लखि मद समुझत सब ताहि ।
(रहीम)

यहाँ पहला वाक्य सामान्य है, और दूसरा विशेष । दोनो उदाहरणों में सामान्य का विशेष से समर्थन हुआ है ।

गुनवान बस्तुन के जोग ते अलप सोऊ
लहत बड़ाई, कहैं बिबुध घनेरे है ;
देखै क्यों न एरी गुन-रूप की उजेरी, तेरी
चेरी जानि लाल ललिता को मुख हेरे है ।
(दूलह)

यहाँ पहला पद सामान्य वाक्य है, और दूसरा विशेष । समर्थक विशेष वाक्य है ।

नीचे के उदाहरण में विशेषों का सामान्य से समर्थन है ।

बिना चतुरंग संग बानरन लैकै, बाँधि
बारिध को, लंक रघुनंदन जराई है ;
पारथ अकेले द्रोन, भीषम-से लाख भट
जीति लीन्हीं नगरी, बिराट मैं बड़ाई है ।
'भूषन' भनत ह्वै गुसलखाने मैं खुमान
अवरंग साहिबी हथ्याय हरि लाई है ;
तौ कहा अचंभो महाराज सिवराज सदा
बीरन कै हिम्मतै हथ्यार होति आई है ।
(भूषण)

यहाँ चतुर्थ चरण का अंतिम वाक्य "बीरन कै हिम्मतै हथ्यार होति आई है" सामान्य है, तथा अन्य सब विशेष हैं । समर्थन सामान्य वाक्य ही करता है ।

अर्थांतरन्यास, दृष्टांत, परिकर तथा काव्यलिंग में भेद— अर्थांतरन्यास में सामान्य, विशेष दोनो होते हैं, किंतु दृष्टांत (नं० १८) में या तो सामान्य-ही-सामान्य या विशेष-ही-विशेष। यही अंतर है। अन्य कुछ अलंकारों में भी समर्थन हैं, जिनके लक्षण अलग अंकित हैं। काव्यलिंग (नं० ५६) में कारण-रूप समर्थन की मुख्यता है। परिकर का समर्थन काव्यलिंग (नं० ५६) में भी कथित है, वहाँ देखिए।

(६० अ) उदाहरण—सामान्य वाक्य में कहे हुओं में से एक का दिखलाना उदाहरण है।

प्रयोजन यह है कि सामान्य वाक्य में कई कथन गर्भित होते हैं। उनमें से किसी को लेकर दिखलाता हुआ समझा दे, जिससे पूरे वाक्य पर प्रकाश पड़े। हिंदी के प्राचीन आचार्यों ने इसे मुख्य अलंकार नहीं माना है। संस्कृत में अलंकार-रत्नाकर तथा रसगंगाधर ने इसे पृथक् अलंकार कहा है।

उदाहरण के वाचक—यथा, जैसे, दृष्टांत, निदर्शन, इव आदि वाचक होते हैं। यथा—

> 'रहिमन' जग सुख होत है बढ़े आपने गोत ;
> ज्यों बड़री अँखियाँ लखे अँखियन को सुख होत।
>
> (रहीम)

उदाहरण अलंकार की मान्यता-अमान्यता में मतभेद— उद्योतकार ने इसे उपमा में माना है।

पंडितराज इसे उपमा नहीं कहते, क्योंकि उदाहरणवाला वाक्य पहले वाक्य में गर्भित रहता है, जिससे सामान्य से विशेष पृथक नहीं है।

अर्थांतरन्यास में वाचक नहीं होता, जैसा उदाहरण में है। केवल इतना-सा मुख्य भेद पृथक् अलंकारता के लिये पर्याप्त नहीं

समझ पड़ता। इसलिये उदाहरण को अर्थांतरन्यास का एक भेद मान सकते हैं।

साहित्य-दर्पण द्वारा स्वीकृत अर्थांतरन्यास का भेद काव्यलिंग है—साहित्य-दर्पणकार ने अर्थांतरन्यास का एक और भेद माना है, जिसमें कार्य का कारण से, या कारण का कार्य से समर्थन होता है। यथा—

कमठ-नाग साधहु सँभरि, अचला धरहु सधीर ;
सिव-धनु प्रबल प्रचंड को चहत दलन रघुबीर।
(कस्यचित्कवेः)

आप हेतु तीन प्रकार का मानते हैं, अर्थात् ज्ञापक (ज्ञान करानेवाला, जैसे धुएँ से आग का), उत्पादक (जैसे धुएँ का आग उत्पादक हेतु है) और समर्थक (जिसमें समर्थन-मात्र हो)। ऊपरवाले दोहे में आपके अनुसार समर्थक हेतु होगा।

दिसि-कुंजरहु, कमठ, अहि, कोला
धरहु धरनि धरि धीर, न डोला।
राम चहहिं संकर-धनु तोरा ;
होहु सजग सुनि आयसु मोरा।
(गो० तुलसीदास)

इसमें भी वही विचार है। यहाँ दूसरे पद पहलेवाले के समर्थक हेतु हैं।

पंडितराज का विचार है कि कहीं-कहीं समर्थक तथा उत्पादक हेतु एक ही हो जाते हैं, जिससे इनमें हर जगह भेद दिखलाना कठिन होगा। अतएव आप कारण-कार्यवाले अर्थांतरन्यास को अमान्य समझते हैं।

विश्वनाथ का कथन है कि समर्थनीय अर्थ के समर्थन में काव्यलिंग होता है।

यहाँ उनके अनुसार कमठ-नागवाला पहला वाक्य समर्थन की आवश्यकता नहीं रखता, किंतु जब अचल वस्तु को अचल होने का आदेश हो, तब समर्थन की आवश्यकता समझ ही पड़ेगी, तथा दूसरे पद से समर्थन होता भी है, क्योंकि वहाँ वह मुख्य बात प्रकट हुई है, जिसके कारण आदेश आवश्यक समझा गया था।

रसगंगाधर, काव्यप्रकाश आदि का मत है कि चाहे वाक्य सापेक्ष हो या निरपेक्ष, जहाँ अर्थ हेतु होकर समर्थन करे, वहाँ काव्यलिंग (नं० ५६) होगा, तथा सामान्य विशेष के समर्थन में अर्थांतरन्यास। हम इसी को मान्य समझते हैं।

विकस्वर (६१)

विकस्वर—में विशेष वाक्य को सामान्य से समर्थन करके फिर विशेष वाक्य लाया जाता है। यथा—

कान्ह हैं बिकट, है ह्वो बिकट बड़े की बात,
यहै रीति सिंहहू की सबै जग गाई है।
(दूलह)

मधुप ! मोह मोहन तज्यो, यह स्यामन की रीति ;
करौ आपने काम लौं तुम्हैं भाँति सों प्रीति।
(मतिराम)

हे मधुप (उद्धव) ! मोहन ने मोह छोड़ दिया (विशेष वाक्य); कालों की यह रीति ही है (सामान्य वाक्य) ; तुम भी अपने मतलब तक अपने सदृशों की-सी प्रीति करो (विशेष वाक्य)। यहाँ तीसरा वाक्य उपमा के ढंग पर आया है।

राधा हरि-हिय मैं बसति रँगे रँगीले रंग ;
यही नेह की रीति है, हर किय तिय अरधंग।
(सोमनाथ)

देखि दुखी दसा दीनन की, सुख दै बहु भाँति हर्‌यो जु कलेस को ;
ऐसो 'बिसाल' लह्यो जग मैं जस, जैसो हवाल सुन्यो सब देस को।
जंग जुरे अरि को मद भंग कै, फेरि अनंग कियो बर बेस को ;
याते हमेस बिनै निज पेस कै ध्यान धरौं मन माहिं महेस को।
(विशाल)

यहाँ पहले तीन चरणों में विकस्वरालंकार है।

अर्थांतरन्यास की मान्यता-अमान्यता में मतभेद—कुवलयानंद ने इन्हें स्वतंत्र अलंकार माना है, परंतु कहीं पर इसमें दो अर्थांतरन्यासों की संसृष्टि होती है, तथा कहीं अर्थांतरन्यास और उदाहरण की। यह मत रसगंगाधर का है।

उद्योतकार यहाँ केवल अर्थांतरन्यास की संसृष्टि मानते हैं, परंतु उन्होंने उदाहरण को पृथक् अलंकार या किसी का भेद नहीं माना।

"कान्ह हैं बिकट, है हो बिकट बड़े की बात।"

में अर्थांतरन्यास है ही।

उधर "है हो बिकट बड़े की बात, यहै रीति सिंहहू की है" में दूसरा अर्थांतरन्यास होगा। ये दोनो विना बीच का पद दोनो में मिलाए पृथक् अलंकार नहीं होते, इससे संसृष्टि के स्थान पर संकर समझ पड़ता है, क्योंकि अलंकार नीर-क्षीरवत् मिले हैं, तिलतंडुलवत् नहीं।

यही दशा दूसरे उदाहरण में भी है, जिसमें अर्थांतरन्यास और उपमा का संकर है, तथा तीसरे में अर्थांतरन्यास और उदाहरण का।

प्रौढ़ोक्ति (६२)

प्रौढ़ोक्ति—में किसी ऐसे हेतु का कहा (या माना) जाना होता है, जो वास्तव में उत्कर्ष का हेतु नहीं है। यथा—

मानसर - बासी हंस-बंस न समान होत,
चंदन सों वस्यो घनसारऊ घरीक है;
नारद की, सारद की हाँसी मैं कहाँसी आभ,
सरद की सुरसरी कौन पुंडरीक है।
'भूषन' भनत छक्यो छीरधि मैं थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करी कहै;
कयलास ईस, ईस सीस रजनीस वहौ,
अवनीस सिवा के न जस को सरीक है।

(भूषण)

यहाँ सफ़ेदी बढ़ाने के जो कई कारण दिए गए हैं, वे वास्तव में कारण न होने से अहेतु हैं, जिससे प्रौढ़ोक्ति निकली। मानसर में बसने से हंस कुछ अधिक श्वेत नहीं हो जाता।

अरुन सरस्वति-कूल के बंधुजीव के फूल;
वैसे ही तेरे अधर लाल - लाल अनुकूल।

(रामसिंह)

बंधुजीव = गुड़हर। सरस्वती के किनारेवाले गुड़हर कुछ अधिक लाल नहीं हो जाते, जिससे अहेतु हेतु हुआ है।

लखि सौतिन के कमल-दृग क्यों न होहिं बेहाल;
हर-सिर ससि दुतिकर अमल जे हैं हँसत गोपाल।

(वैरीशाल)

यहाँ नखच्छत का अप्रकट वर्णन है। वे नखच्छत शिव के शीश पर के शशिकर को हँसते हैं। हर के शीश पर होने से नवचंद्र का गुण बढ़ न जायगा, जिससे प्रौढ़ोक्ति है। हर-शिर पर नवचंद्र रहता है, जिसके रूप-साम्य से सौतों को बेहाल करनेवाले नखच्छत का विचार आया है।

गंग-नीर बिधु रुचि झलक मृदु मुसुकानि उदोति ;
कनक-भौन के दीप लौं जगमगाति तन-जोति ।

(मतिराम)

मृदु मुसुकानि गंगा में पड़ी हुई चंद्र की आभा-सी है, तथा शरीर की चमक सोने के घर में स्थित दीपक-सी जगमगाती है । गंगा में पड़ी चांद्र परछाहीं में कोई विशेष उज्ज्वलता नहीं, न स्वर्ण-मंदिर के दीप में कोई विशेष आभा । इससे दो प्रौढ़ोक्तियाँ हैं ।

प्रौढ़ोक्ति की पृथक् अलंकारता मान्य अथवा अमान्य—उद्योतकार प्रौढ़ोक्ति को संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) में मानते हैं, तथा पंडितराज और अप्पय्य दीक्षित स्वतंत्र अलंकार बतलाते हैं । उन्हीं का मत ठीक जँचता है । क्योंकि—

सुंदर केस सुबेस है, जमुना-सलिल बिसाल ;
अधर सुधर रँग सरसुती, बिद्रुम-बेलि-प्रबाल ।

(कस्यचित्कवेः)

में यदि किसी प्रकार के प्रवाल अधर के रंग की समता कर पाते, तो नवीन जाति उत्पन्न करने की आवश्यकता न रहती । अतः इसमें यह दृढ़ करने की युक्ति है कि मूँगे की कोई जाति उसके रंग की समानता नहीं कर पाती । नवीन चमत्कार के विद्यमान होने से संबंधातिशयोक्ति से पृथक्ता सिद्ध है ।

संभावन (६३)

संभावन—किसी की सिद्धि के लिये 'जो ऐसा हो, तो इस प्रकार हो' कहना संभावन है । यथा—

लाख जीहैं होइँ, तौ तो सुजस बखानिए ।

(दूलह)

जो छबि - सुधा - पयोनिधि होई ;
परम रूपमय कच्छप सोई ।
सोभा रजु, मंदर सिंगारू ;
मथै पानि - पंकज निज मारू ।
यहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता, सुख-मूल,
तदपि सकोच-समेत कबि कहहिं सीय-समतूल ।
(गो० तुलसीदास)

दूध-सुधा-मधु-सिंधु गँभीर ते हीर जु पै नग-भीर लै आवै ;
बाल प्रबाल पला मिलिकै मनि-मानिक-मोतिन-जोति जगावै ।
लै रजनीपति बीच बिरामनि दामिनि दीप समीप दिखावै ;
जो निज न्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दंतन की दुति पावै ।
(देव)

नग-भीर (पर्वत-पुंज) से दूध, अमृत और शहद के समुद्रों को मथकर यदि कोई हीर (सार पदार्थ) ले आवे । रजनीपति (मुख) के बीच विराम-चिह्नों (ओठों) में बिजली का चकाचौंध छोड़कर केवल श्वेतता का रूप दिखलावे, तो दंतों की शोभा प्राप्त हो ।

संभावन की पृथक् अलंकारता—उद्योतकार संभावन को भी अतिशयोक्ति (नं० १३) के अंतर्गत मानते हैं, किंतु भाषा के आचार्यों ने अप्पय्य के अनुसार उचित ही इसे स्वतंत्र अलंकारता दी है । पृथक् चमत्कार समझने के लिये हमारा प्रौढ़ोक्ति (नं० ६८) पर मत पढ़ने की कृपा कीजिए ।

मिथ्याध्यवसित (६४)

मिथ्याध्यवसित—में एक मिथ्या बात का मिथ्यात्व बतलाने के लिये दूसरा झूठ भी कहा जाता है । यथा—

खल-बचनन की मधुरता चाखि साँप निज स्रौन ;
रोम-रोम पुलकित भयो, कहत मोद गहि मौन ।
(मतिराम)

साँप के न तो कान होते हैं, न रोएँ।

मिथ्याध्यवसित में पृथक् चमत्कार होने में मतभेद—इसके जो उदाहरण देखने में आए, उनमें कोई मुख्यता न थी।

उद्योतकार इसे भी संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) में मानते हैं, तथा पंडितराज प्रौढ़ोक्ति में। कुवलयानंदकार इसे भी स्वतंत्रता देते हैं।

ललित (६५)

ललित—में वाच्य-रूप ईप्सित प्रस्तुत का वर्णन प्रतिबिंब-रूप वस्तुतः अनिच्छित प्रस्तुत में होता है।

इसमें कथन तो उपमेय का ईप्सित है, किंतु वर्णन करते हैं उसके प्रतिबिंब (छाया)-रूप उपमान का, किंतु वह विवरण इस प्रकार से किया जाता है कि अप्रसंगी (उपमान) भी प्रसंगी (उपमेय) समझ पड़ने लगता है। यथा—

बर्णिबे प्रसंगी ताहि छोड़ि अप्रसंगी भनै,
प्रतिबिंब बर्ण्य है ललित पहिचानिए ;
कढ़ि गयो भान, अब माँगती हौ छायावान,
मैन-मद-पोखी, तेरी नोखी रीति जानिए।
(दूलह)

यहाँ प्रयोजन गणिका से यह कहने का है कि जवानी ढल चुकने पर क़दरदान यार कहाँ मिल सकते हैं ?

ग्रीषम दियो बिताय सब पुरी बौरी बीर ;
बनवावत का पावसहि अब यह महल उसीर।
(रामसिंह)

करत नेह हरि सों भटू, क्यों नहिं कियो बिचार ;
चहत बचायो बसन अब बौरी बाँधि अँगार ।
(बैरीशाल)

मेरी सीख सिखै न सखि, मोसों उठति रिसाय ;
सोयो चाहति नींद भरि सेज अँगार बिछाय ।
(मतिराम)

ललित में प्रसंगी का भी वर्णन अप्रयुक्त नहीं, जैसा दोहों में हुआ है ।

अति खीन मृनाल के तारहु सों तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ;
सुई बेह ते द्वार सकी न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है ।
कबि 'बोधा' अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डोलावनो है ;
यह प्रेम को पंथ कराल है री ! तरवारि की धार पै धावनो है ।
(बोधा)

यहाँ भी प्रसंगी का कथन हो गया है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, निदर्शना तथा ललित का विषय पृथक्करण—अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) में जिसका वर्णन होता है, वह अप्रस्तुत रूप में रहता है, और समासोक्ति (नं० २३) में प्रस्तुत के वर्णन में समान विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत का बोध होता है; अर्थात् अप्रस्तुत प्रशंसा तथा समासोक्ति दोनो में एक वृत्तांत प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत होता है । परंतु ललित में दोनो प्रस्तुत होते हैं, और जो कुछ प्रस्तुत में कहना होता है, उसी को दूसरे प्रस्तुत-रूप में प्रतिबिंब में कहा जाता है । निदर्शना (नं० १६) से भेद उसी (निदर्शना) में देखिए ।

प्रस्तुतांकुर और ललित का विषय-विभाजन—

अलि, कदंब-तरु पाइ सुमन भरो मकरंद मैं ;
तजि करील पै जाइ निरस, अपत परसे कहा ?
(गोकुलनाथ)

यहाँ प्रस्तुतांकुर में अनिच्छित प्रस्तुत रूप कथित भ्रमर-कदंब-वृत्तांत तो वाच्य-रूप है, तथा इच्छित नायक रूप प्रस्तुत वृत्तांत व्यंग्य से निकलता है।

तब न सीख मानी भट्ट, कियो बिचार न कोइ;
भख्यो चहत फल अमृत कौ बिष-बीजन को बोइ।
(पद्माकर)

परंतु उपर्युक्त "तब...बोइ" में इच्छित वाच्य-रूप प्रस्तुत का वर्णन प्रतिबिंब-रूप अनिच्छित "भख्यो...बोइ" में किया गया है। भट्ट के संबोधन से ईप्सित प्रस्तुत भी वाच्य-रूप ही मानना चाहिए। परंतु "अलि कदंब...कहा" में नायक को संबोधन करके नहीं कहा है, अतः वह वाच्य-रूप नहीं, यद्यपि मुख्यतया उसी से कथन का प्रयोजन होने से वही व्यंग्य-रूप प्रस्तुत इच्छित है।

प्रहर्षण (६६)

प्रथम प्रहर्षण—में विना यत्न के इच्छितार्थ अकस्मात् सिद्ध हो जाता है। यथा—

जाकी चित चाह, तेई चौकी देन आए री।
(दूलह)

यहाँ बुलाने का यत्न नहीं करना पड़ा।

अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि;
संग लगे मधुपन लई भागन गली अँधेरि।
(बिहारी)

समाधि और प्रहर्षण में भेद—समाधि (नं० ४६) में अन्य प्रबल कारण होते हुए भी अकस्मात् कोई कारण आ पड़ने से कार्य हो जाता है, किंतु प्रथम प्रहर्षण में कोई पूर्ववर्ती समर्थ कारण

होता ही नहीं। उद्योतकार समाधि के अंतर्गत प्रहर्षण के तीनो भेद कहते हैं।

पंडितराज तथा अप्पय्य दीक्षित इसे अलग अलंकार मानते हैं। देखने में प्रहर्षण के तीनो भेद समाधि के भेदांतर माने जा सकते हैं।

द्वितीय प्रहर्षण—में इच्छितार्थ से अधिक विना यत्न के मिलता है। यथा—

माँगे हम फूल, पीउ पारिजात लाए री।

(दूलह)

सातहु दीपन के अवनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने;
बीस बिसे ब्रत भंग भयो, सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने?
सोक कि आगि लगी परिपूरन, आय गए घन स्याम बिहाने;
जानकि के, जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुन्य पुराने।

(केशवदास)

जनक-जाति चाहते केवल धनुष चढ़ानेवाला थे, किंतु मिल गए स्वयं भगवान्, जिससे उनके प्राचीन पुण्य के पौधे फूल उठे।

चित्र में बिलोकत ही लाल को बदन बाल
जीते जेहि कोटि चंद सरद पुनीन के,
मुसुकानि अमल कपोलनि रुचिर बृंद,
चमकैं तरयोना चारु सुंदर चुनीन के।
पीतम निहारयो बाँह गहत अचानक ही,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के;
गाढ़े गही लाज मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन बारि बरुनीन के।

(मतिराम)

यहाँ चित्र-दर्शन हो रहा था कि अकस्मात् प्रत्यक्ष दर्शन हो गया।

दुजबर श्रीउपमन्यु संभु-चरनन चित दीन्हो ;
मन, बच, क्रम सों बहुत काल दीरघ तप कीन्हो।
लखि 'बिसाल' स्रम चंद्रभाल आपुहि उठि धाए ;
बरं ब्रूहि सुत, बरं ब्रूहि सुत, टेरि सुनाए।
तब दूध-भात अति मोद सों माँग्यो सीस नवायकै ;
सो दै कृपालु, पुनि अमित बर दिए मंद मुसुकायकै।
(विशाल)

यहाँ दुग्ध-भात पाने का यत्न तो किया, परंतु अन्य वर विना यत्न ही मिल गए।

तृतीय प्रहर्षण—में यत्न ही की खोज में कार्य सध जाता है। यथा—

हौं तौ हरि हेत गई दूती हेरिबे को, ताहि
हेरत मैं आली, बनमाली गहि पाए री।
(दूलह)

हरि की सुधि को राधिका चली अली के भौन ;
हँसत बीच हरि मिलि गए, बरनि सकै छबि कौन ?
(मतिराम)

सखी हरि के पाने का साधन-मात्र है, यत्न नहीं।

विषादन (६७)

विषादन—में विना यत्न किए हुए इच्छितार्थ के विरुद्ध कुछ हो जाता है। यथा—

कहै कबि 'दूलह' सकेत ठहरावौं जौ लौं,
तौ लौं खसि परी कुंज कालिंदी के तीर की।
(दूलह)

धरि चित चलन सकेत को खरी पौरि मैं बाल ;
सूखी, सकुची हरि-हिये लखत मालती-माल ।
(वैरीशाल)

पृथक् अलंकारता नहीं—तृतीय विषम (नं० ३७) में हित का यत्न रहता है, तथा यहाँ केवल इच्छा । केवल इतने अंतर से पृथक् अलंकारता स्थापित नहीं होती, सो इसे विषम का भेदांतर कह सकते हैं । उद्योतकार का भी यही मत है ।

उल्लास (६८)

उल्लास—में एक के दुर्गुण या सुगुण दूसरे को लगते हैं ।

इसके उदाहरण कई प्रकार से आते हैं । (१) दोष से गुण, (२) गुण से दोष, (३) गुण से गुण (४) दोष से दोष लगने के ।

(१) दोषेण गुणः । यथा—

वीणावादिनी के तार झंकृत किया ही करूँ,
तो भी कवि-मंडली में श्रोता का नमूना हूँ ;
झुक भी गया हूँ आयु-बोझ से, तथापि नव
छंद सुनने का उतसाही दिन दूना हूँ ।
धैर्य से श्रवण करूँ कैसा भी कवित्त पढ़ो,
दोषों को गुणों से छाँट डालने को ऊना हूँ ;
चारु कवि मंडली की दीप्ति चमकाने हेत
आज चिर काल से बना मैं एक जूना हूँ ।
(मिश्रबंधु)

यहाँ वाच्य में अलंकार है, कवि जूना (दोष)-रूप होकर दूसरे की दीप्ति (गुण-रूप) चमकाता है । अतः दोषेण गुणः का उदाहरण हुआ ।

कहा भयो, निसि को जु पै मिलो नहीं चित-चोर ;
यहै बड़ी है बात, जो पायो दरसन भोर ।
(वैरीशाल)

यहाँ दोष से गुण है।

संतन को संग भो, प्रसंग भो न दूजो और,
संतत ही अंग तै सुकृत-ही-सुकृत भो;
भूरि भक्ति पावन हुतासन मैं नावन कौं
लाल मनभावन के नेह ही को घृत भो।
मीरा! अवनी पै तेरी अकह कहानी रही,
तेरे सत्य-व्रत मैं न रंचऊ अनृत भो;
तेरी रसना मैं स्याम हू की रसना को देखि
बिष का पियालो सोऊ लाजन अमृत भो।

(उमेश)

यहाँ दोषेण गुणः का उल्लास है।

'भूषन' भनत बादसाह को यों लोग सब
बचन सिखावत सलाह की इलाज के;
रावरे कि बुद्धि लैकै बावरे न कीजै बैर,
रावरे के बैर होत काज सिवराज के।

(भूषण)

इसमें दोष से गुण है। क्योंकि बादशाह का वैर दोष-रूप है, उससे शिवाजी महाराज के कार्य होने रूप गुण का होना कहा गया है। नीचेवाले तीर्थ के भाषण में भी अहीर की अबला दोष-रूप है, उससे तीर्थ को पुनीत करना रूप गुण लगा।

तीरथ कहत, हमैं आनिकै पुनीत करै
कोई ब्रजभूमिवारी अबला अहीर की।

(दूलह)

बरनौं कहाँ लौं, भुव-लोक मैं जहाँ लौं भई,
दिल्ली मैं तहाँ लौं बानी सूरज प्रताप ते;

मुगल, मलूकजादे, सेख, बेसलूक प्यादे,
सैयद, पठान अवसान भूले लापते।
आया रोज क्यामत, मलामत से पाक हुए,
रहैगा सलामत खोदाई आप आपते;
जार-जार रोतीं क्यों बजार मीरजादी, यारौ,
जिनका छिपाव महताब-आफताप ते।
(सूदन)

यहाँ कयामत (दोष) आने से मलामत से पाक हुए (गुण), अतः दोषेण गुणः है।

(२) गुणेन दोषः। यथा—

काज मही सिवराजबली हिंदुवान बढ़ाइबे को उर ऊटै;
'भूषन' भू निरम्लेच्छ करी, चहै म्लेछन मारिबे को रन जूटै।
हिंदु बचाय-बचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ टूटै;
चंद-अलोक ते लोक सुखी, यहि कोक अभाग को सोक न छूटै।
(भूषण)

यहाँ एक के गुण से दूसरे को दोष लगा।

देह दुलहिया के बढ़ै ज्यों-ज्यों जोबन-जोति,
त्यों-त्यों लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति।
(बिहारी)

यहाँ गुण से दोष हुआ।

तौबा पाप-स्वीकृति की बिमल बिदेसी बात
भारतीय पापिन को भई भगवान यह;
बेदहू मैं सबितर संग ऐसो भाव रह्यो,
पै हो अति स्वल्प, नहिं नेकहू महान यह।
गीता लौं न पुन्य गंग-न्हान मैं कछूक लखो,
पीछे ते गयो ह्वै खल-मंडली को त्रान यह;

लाखन विचार नसे पापिन के दाप सों जे,
तिनको अँगूठा दिखरायबे की सान यह।
(मिश्रबंधु)

यहाँ गुणेन दोषः है।

आई हौं देखि बधू इक 'देव', सु देखत भूली सबै सुधि मेरी;
राखो न रूप कछू बिधि के घर, लाई है लूटि लोनाई कि ढेरी।
एबी अबै वोहि ऐबे है बैस, मरैंगी हलाहल घूँटि घनेरी;
जे-जे गुनी गुन-आगरी नागरी ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी।
(देव)

यहाँ गुण से दोष लगा, क्योंकि उसके रूप से दूसरी चेरी बनी।

(३) गुणेन गुणः। यथा—

जो कछु मुख भाखो, सो दृढ़ राखो, रहे न कबहूँ पाछे;
नित स्वारथ छाँड़ो, धरमहिं माड़ो, रहे सान-युत आछे।
ऐसे नरपालन सब गुन-आलन को जस कहिबो भावै;
जो बनै न नीको, बरु अति फीको, तउ पाठकहि रिझावै।
(मिश्रबंधु)

यह गुणेन गुणः का उदाहरण है।

कुमुद-सी थीं तब तुम द्युतिमान, शरद की पूनो में अम्लान ॥ १ ॥
यूथिका के उपवन के पास तुम्हारा था कुसुमित आवास ॥ २ ॥
वहाँ पर मुझे बुला हे देवि ! किया था तुमने कंगन-दान ॥ ३ ॥
न-जाने कैसा था सम्मान, और कैसी थी वह पहचान ? ४ ॥
अभी तक उर की शोणित-धार विकल हो बहती वलयाकार ॥ ५ ॥
गया बन जीवन का शृंगार तुम्हारा दिया हुआ उपहार ॥ ६ ॥
आज पलकों में आकर प्राण तुम्हारी छवि का करते ध्यान ॥ ७ ॥
('उमेश')

अंतिम पद (७) में स्मृति-संचारी का चमत्कार है। यह गुण से गुण का उदाहरण है।

आतमा मैं रंच हू सँदेह प्रथमै न उठो,
परमातमा पै कछु धुकपुक बढ़िगो;
जगदीसवाद जब फ़्लिट को बी० ए० में पढ़ो,
संसौ सहमूल चित चंचल सों कढ़िगो।
चारो बेद पढ़े ते न धरम को बोध भयो,
दसौ उपनिषद सों मोद हिय मढ़िगो;
इतिहास-मूलक बिचारि किंतु बेदन को,
ताके रचिबे को चारु चोप चित चढ़िगो।
(मिश्रबंधु)

यहाँ गुणेन गुणः है।

नृप - सभान मैं आपनी होन बड़ाई काज—
साहितनै सिवराज के करत कबित कबिराज।
(भूषण)

गुच्छनि को अवतंस लसै, सिखि-पच्छनि अच्छ किरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी कर - पल्लव सों 'मतिराम' सुहायो।
गुंजनि को उर मंजुल हार निकुंजनि ते कढ़ि बाहेर आयो;
आजु को रूप लखे नँदलाल को आजु ही आँखिन को फल पायो।
(मतिराम)

क्या कोल, टप्पर, नोह, जेवर-सहित ईखू लेइगा;
चंडौस, खुरजा हाथ करि फिरि पायँ आगे देइगा।
इसवासते तुमसे अरज कर जोरि कीजत है बली;
अब हाथ उस पर रक्खिए, तो लेइ जंग फतेअली।
(सूदन)

यहाँ गुण से गुण है।

(४) दोषेण दोषः। यथा—

बिधि-हरि-हर तीनि भाव-मात्र ईस के हैं,
इन्हैं व्यक्ति मानिबो पुरानन की भूल है ;
ग्रीक, सक, हून आदि भूपन के साधिबे मैं
भई ही अवस्य राजनीति अनुकूल है।
द्राविड़ बिचार किंतु भरे ते स्वमत माहिं
आरज - धरम सत्य गयो मिलि धूल है ;
पंडे औ' पुरोहित जे पाप - स्वारथन-भरे,
तिनही की बात करै जनता कबूल है।
(मिश्रबंधु)

यह दोषेण दोषः का उदाहरण है।

सिव सरजा के बैर को यह फल आलमगीर—
छूटे तेरे गढ़ सबै, कूटे गए वज़ीर।
(भूषण)

संगति को गुन साँच है, कहैं जु गुनी रसाल ;
कुटिल कूबरी संग ते भए तृभंगी लाल।
(कस्यचित्कवेः)

रेंड़ी के तेल मैं कीन्हें बरा, अरु भेंड़ी के माठा में आनि भिगोए ;
चाउर मानौ चमारन के नख, दोना में दालि मिलै नहिं टोए।
बज्र-समान बने पकवान, सु खात ही दाँतन की दुति खोए ;
साहब सूम कि देखि सराध घरी भरि भीतर पीतर रोए।
(कस्यचित्कवेः)

दाता घर होती, तौ कदरि तेरी जानी जाती,
आई घर भले के, बधाई बजवाव री ;
खाने - तहखानेन मैं जायकै बसेरो लेहु,
होहु ना उदास, चाव चौगुनो बढ़ाव री।

खैहौं, न खवैहौं, मरि जैहौं, तौ सिखाय जैहौं
यहै पूत-नातिन को आपनो सुभाव री ;
दमड़ी न दैहौं चमड़ी हू के गए पै कबौं,
सूम कहै संपति सों, बैठी गीत गाव री ।
(कस्यचित्कवेः)

यहाँ सूम के दोष से संपत्ति में भी यह दोष लगा कि वह अपने मुख्य कार्य व्यापार-परिचालन से असमर्थ होकर तहखाने में पड़ी-पड़ी सड़ने लगी ।

ह्वै अति आरत मैं बिनती बहु बार करी करुना-रस-भीनी ;
'कृष्ण' कृपानिधि, दीन के बंधु, सुनी असुनी तुम काहेक कीनी ?
रीझते रंचक ही गुन सों, वह बानि बिसारि मनौ अब दीनी ;
जानि परी तुमहूँ हरिजू, कलिकाल के दानिन की गति लीनी ।
(कृष्ण कवि)

यहाँ दोषेण दोषः है ।

पृथक् अलंकारता मान्य है या अमान्य—उद्योतकार गुणेन गुणः तथा दोषेण दोषः को सम (नं० ३८) या काव्यलिंग (नं० ५६) मानते हैं, तथा दोषेण गुणः और गुणेन दोषः को विषम (नं० ३७) । इन कथनों में भी बहुत कुछ सार है ।

कुवलयानंदकार इसको पृथक् अलंकार मानते हैं, तथा भाषा के भी आचार्यों ने यही बात मानी है ।

अवज्ञा (६६)

अवज्ञा—में एक का गुण या दोष दूसरे को नहीं लगता ।

यथा—

दोष से दोष न लगना—

कहा भयो, जो तजत है मलिन मधुप दुख मानि ;
सुबरन - बरन, सुबास - युत चंपक लहै न हानि ।
(कस्यचित्कवेः)

रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसराए ;
डारि दियो गुरु लोगन को डर, गाँव चवाव मैं नावँ धराए ।
हेत कियो हम जो तौ कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबै बिसराए ;
कोउ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत हैं आपने पीउ पराए ?
(मतिराम)

हेत=प्रेम ।

गुण से गुण न लगना—
जह्नुजा को 'लेखराज' कहै जग देखि बिसेख अलेख प्रभाऊ ;
और की कौन कहै, लहै पातकी जाहिके जैसो रहै चित चाऊ ।
ताही के संग सदा कै उमंगहू एकऊ अंग गयो न सुभाऊ ;
फूले फले न भले करि कैसेहू जैसे-के-तैसे रहे तुम झाऊ ।
(लेखराज)

औरन के अनबाढ़े कहा, अरु बाढ़े कहा, नहिं होत चहा है ;
औरन के अनरीझे कहा, अरु रीझे कहा, न मिटावत हा है ।
'भूषन' श्रीसिवराजहि जाचिए, एक दुनी पर दानि महा है ;
माँगन औरन के दरबार गए, तौ कहा ? न गए, तौ कहा है ?
(भूषण)

इस छंद में गुण दोष, दोनो का विवरण है ।

अवज्ञा में पृथक् अलंकारता नहीं—नागोजी भट्ट (उद्योतकार) का कथन है कि अवज्ञा कहीं पर विषम (नं० ३७) और कहीं अतद्गुण (नं० ७६) होती है, परंतु कारण होते हुए कार्य न होने से विशेषोक्ति (नं० ३४) मानना अच्छा है ।

कुवलयानंदकार ने इसे पृथक् अलंकार माना है ।

अनुज्ञा (७०)

अनुज्ञा—में किसी दोष में लाभ निहारकर उसकी कामना की जाती है । यथा—

बिपति परे पै नर भजत हैं भगवानै,
संपदा चहैं न संत, बिपदा सदा चहैं ।
(दूलह)

विपत्ति पड़ने पर लोग ईश्वर का भजन करते हैं, यह विपत्ति दोष में गुण देखकर ही संत जन संपदा की चाहना न करके विपदा की इच्छा करते हैं ।

ज्यों दस कूबर होहिं, त्यों कीजै मधुप इलाज;
तौ कुबिजा ते दसगुनो करैं प्यार ब्रजराज ।
(वैरीशाल)

मोर-पखानि किरीट बन्यो, मुकुतानि कै कुंडल लोल बिलासी ;
चारु चितौनि चुभी 'मतिरामजू', क्यों बिसरैं मुसुकानि सुधा-सी ।
काज कहा सजनी कुल-कानि सों, लोग हँसौ सिगरे ब्रजबासी ;
होन चहौं मनमोहन को मुख-चंद लखे बिनु मोल कि दासी ।
(मतिराम)

जाहिर जहान सुनि दान के बखान जासु
महादानि साहितनै गरिबनेवाज के ;
'भूषन' जवाहिर जलूस जरबाफ जोति
देखि-देखि सरजा के सुकबि-समाज के ।
तप करि-करि कमलासन सों माँगत यों,
लोग सब करि मनोरथ ऐसे साज के ;
बैपारी जहाज के, न राजा भारी राज के,
भिखारि हमैं कीजै महराज सिवराज के ।
(भूषण)

महामोह कंदनि मैं, जगत-जकंदनि मैं,
दिन दुख-दंदनि मैं जात है बिहायकै;
सुख को न लेस है, कलेस बहु भाँतिन को,
'सेनापति' याही ते कहत अकुलायकै।
आवै मन ऐसी, घर-बार, परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज के समाज बिसरायकै;
हरि-जन-पुंजनि मैं, बृंदाबन-कुंजनि मैं
बैठि रहौं कहूँ तरवर तर जायकै।
(सेनापति)

सुणौ दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तव
दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं;
देव-पूजा ठानी मैं, नेवाजहू भुलानी, तजे
कलमा-कुरान, साड़े गुननि गहूँगी मैं।
स्यामला सलोना, सिरताज सिर कुल्ले दिए,
तेरे नेह-दाघ में निदाघ हो दहूँगी मैं;
नंद के कुमार, कुरबान तोड़ी सूरत पै,
ताड़ नाल प्यारे हिंदुवानी हो रहूँगी मैं।
(ताज कवयित्री)

नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैए;
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए।
आवै यही अब जी मैं बिचार, सखी चलि सौतिहु के घर जैए;
मान घटे ते कहा घटिहै, जु पै प्रान-पियारे को देखन पैए।
(दास)

आय दुसह दुकाल इत जब ईस-कोप समान;
धारि भीषम रूप धायो भरो रिस अतिमान।
छाँड़ि साहस धीर जब सब लोग हाहा खाय;
छुधा-पीड़ित लगे डोलन चहूँ दिसि बिललाय।

रहे तब नर चहत सुख सों जान कारागार;
मिलै जासों साँझ लौं भरि पेट तन्न अहार।
(मिश्रबंधु)

अनुज्ञा का पृथक् चमत्कार—

नागोजी भट्ट का कथन है कि मम्मट ने विशेषालंकार (नं० ४३) के भेद पूर्ण रूप से नहीं कहे। अनुज्ञा को भी उसी का भेद मान लेना चाहिए। परंतु इसमें एक विशेष चमत्कार देखकर चंद्रालोक, कुवलयानंद तथा रसगंगाधरकार ने इसे अलग अलंकार माना है।

तिरस्कार—गुण करके प्रसिद्ध का भी दोषानुबंध (दोष-युक्त) होने के कारण तिरस्कार करना तिरस्कारालंकार होता है।

चंद्रालोक तथा कुवलयानंदकार ने यह अलंकार नहीं माना है। तदनुसार हिंदी के आचार्यों ने भी ऐसा ही किया है। हमारी समझ में भी यह अनुज्ञा में आ जाता है। नागोजी भट्ट इसे भी विशेष (नं० ४३) में मानते हैं। यथा—

ऊधो, बिछुरन ही भलो, मिलन चहत हम नाहिं;
नंद-दुलारो साँवरो सदा बसै मन माहिं।
(रामसिंह)

यहाँ मिलन का तिरस्कार इस कारण किया गया है कि उससे ध्यान के सदा निभनेवाले गांभीर्य में कमी आती है।

लेश (७१)

लेश—में प्रबल दोष में आंशिक गुण या प्रबल गुण में आंशिक दोष भी देखकर किसी वस्तु के पूर्ण गुणमय या पूर्ण दोषमय होने की कल्पना होती है।

दूलह ने इसके चार प्रकार के उदाहरण लिखे हैं, यथा दोष में गुण,

गुण में दोष, गुण में गुण या दोष में दोष। किंतु संस्कृत तथा हिंदी के भी प्रायः सभी आचार्यों ने उपर्युक्तानुसार दो ही प्रकार के उदाहरण दिए हैं, जो ठीक भी समझ पड़ते हैं। यथा—

दोष में गुण—

कोऊ बचत न सामुहे सरजा सों रन साजि;
भली करी पिय, समर ते जिय लै आए भाजि।

(भूषण)

कत सजनी ह्वै अनमनी अँसुवा भरति ससंक;
बड़े भाग नँदलाल सों झूठहु लगत कलंक।

(मतिराम)

मुगुधा की नाहीं कवि 'दूलह' मिठास-भरी;

(दूलह)

'रहिमन' बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होय;
हित-अनहित या जगत मैं जानि परत सब कोय।

(रहीम)

गुण में दोष—

उदैभानु राठौर-पति धरि धीरज गढ़ ऐंड़;
प्रगटै फल ताको लह्यो परिगो सुरपुर पैंड़।

(भूषण)

कैद परति है सारिका मधुरी बानि उचारि।

(कस्यचित्कवेः)

रूप-अधिकाई तोहि कोठरी बसायो आनि;
ग्वालिनी सुगैल गहे खेलतीं प्रकास हैं।

(दूलह)

व्याजस्तुति तथा लेश का विषय-पृथक्करण—कुवलयानंद-कार ने लिखा है कि—व्याजस्तुति (नं० ३०) में वाच्यार्थ से

विपरीत अर्थ होता है। इधर लेश में आंशिक दोष या आंशिक गुण के कारण पूर्ण दोष या गुण की स्थिति की कल्पना होती है।

लेश में पृथक् अलंकारता है या नहीं—उद्योतकार लेश को विशेष (नं० ४३) के अंतर्गत मानते हैं, किंतु इन दोनो का मेल नहीं बैठता।

इस अलंकार का कुछ मेल अनुज्ञा (नं० ७०) से बैठता है, और यदि इसे उसका एक भेद मानें, तो विशेष दोष नहीं।

मुद्रा (७२)

मुद्रा—में प्रस्तुत पदों में और भी सूचनीय अर्थ निकलता है। यथा—

हँसि - हँसि पहिराई आपनी फूलमाला ;
भुज गहि गहिराई प्रेम-बीची बिसाला।
रति - सदन अकेली काम-केली भुलानी ;
ननुमय यह बानी मालिनी की सोहानी।
(देव)

यहाँ मालिन का वर्णन है। उधर कवि मालिनी छंद का भी लक्षण एवं उदाहरण दे रहा है। ननु=नैनू, नवनीत। 'मैं नहीं' यह बानी मालिनी की पसंद आई।

मालिनी छंद में न (नगण), नु (नगण), म (मगण), या (यगण), म (मगण) (ह=है) होते हैं; अर्थात् दो नगण (।।।), एक मगण (ऽऽऽ) और दो यगण (।ऽऽ) रहते हैं। यहाँ 'ननुमय यह' में मुग्धा का इनकार तथा मालिनी छंद का रूप प्रकट हुए।

मुद्रा में चमत्कार-हीनता—उद्योतकार का मत है कि इसमें प्रस्तुत का पोषण न होने से कोई विशेष चमत्कार नहीं पैदा होता, जिससे अलंकारता अप्राप्त है। हमारी समझ में भी कुछ ऐसा ही आता है, यद्यपि इतर आचार्यों में से कुछ की सम्मति के कारण

इसे अलंकारों में स्थान दे दिया गया है। यही मत कुवलया-नंदकार का है।

रत्नावली (७३)

रत्नावली—में प्रस्तुत वर्णन में किसी अन्य वस्तु का भी प्रसिद्ध क्रम निकलता है। यथा—

सांत नख-रुचि मैं, सिंगार है सिंगारन मैं,
घूँघुरू मुखर मृदु हास - रस बरसैं;
करुना भरे हैं प्रभु अद्भुत एक, जिन्हैं
बैरी बीर निरखि भयानक से तरसैं।
जामैं देखि परत बिभत्स को अभाव, जाको
रुद्र चख रसिक सुभावन सों परसैं;
अंब, तेरे चरनारबिंदन कबिंदन को
सुद्ध नवरस के उदाहरन दरसैं।

नौ रसों का नाम इसमें आ गया है।

हाला-सी ललाई तरवानि मैं सहज जाके,
चारु चिकनाई है समान घृत-निधि के;
छीर-से धवल नख, नीर-सी बिमल छबि,
कोमल प्रपद की गोराई सम दधि के।
इच्छु-रसहू ते है सरस चरनामृत औ'
लवन - समुद्र है लोनाई निरवधि के;
लागे दिन - रात तेरे पग जलजात, मोहिं
बैभव दिखात मात सातऊ उदधि के।

(रामचंद्र पंडित)

सांत पट-म्यान मैं, सिंगार मूठि मैं बिसेखि,
सौति बर बैरिन के हास को गसति है;

करुना बिहीन करि अद्भुत काज ह्वै
    भयानक असुर उर अंतर लसति है।
सोनित के पान मैं बिभत्स, चलिबे मैं बीर,
    धारि अरुनाई रौद्र - रूप बिलसति है;
भनत 'बिसाल' हाथ राजा रामचंद्रजू के
    करबाल नौरस मैं बाल-सी बसति है।
ग्रीषम को आतप तपायो अति भीषम ह्वै,
    पावस महान बान - बुंद झरि लाई है;
सरद निसा को दीह दरद न भूलै मोहिं,
    जालिम हिमंत काम करद चलाई है।
भनत 'बिसाल' हौं बची हौं भूरि भागन सों,
    राम-राम कै-कै काल्हि सिसिर बिताई है;
कंत बिनु जानि, मेरो अंत करिबे को आजु
    बाजमारे बधिक बसंत की अवाई है।

(विशाल)

रत्नावली में अन्य अलंकार का चमत्कार-मात्र है—इस अलंकार में किसी अन्य उपमा आदि का मुख्य चमत्कार रहता है, और विशेष क्रम से वर्ण्य विषय का पोषण नहीं होता।

उद्योतकार के अनुसार इसमें कोई पृथक् अलंकारता नहीं, यद्यपि कुवलयानंदकार ऐसा नहीं मानता। अलंकार की मुख्यता वर्ण्य विषय के रंजन पर ही आधारित होने से उद्योतकार का मत ग्राह्य पड़ता है।

तद्गुण (७४)

तद्गुण—में वस्तु निकटवाली वस्तु का गुण—(रंग, रूप, रस, गंध आदि) लेती है। यथा—

तरुन-अरुन एँड़ीन की किरनि - समूह - उदोत—
बेनी - मंडन मुकुत के पुंज - गुंज - दुति होत।
(मतिराम)

नीचे को निहारत नगीचे नैन अधर,
दुबीचे दबो स्यामा अरुनाभा अटकन को ;
नीलमनि भाग ह्वै पदुमराग ह्वैकै पुख-
राग ह्वै रहत बिध्यो छ्वै निकटकन को।
'देवजू' हँसत दुति दंतन मुकुत होति,
बिमल मुकुट हीरा-लाल गटकन को ;
थिरकि-थिरकि थिर, थाने पर तान तोरि,
बाने बदलत नट मोती लटकन को।
(देव)

यहाँ लटकन के मोती का वर्णन है। कालापन मोती में आँख की पुतलियों से आया है, तथा लालिमा अधरों से। श्यामता के कारण एक भाग नीलमणि जान पड़ता है, और दूसरा पद्मराग (माणिक्य लाल)। पुखराग (पुष्पराग) सफ़ेद होता है, किंतु कुछ पीलापन भी मारता है। यह रंग सोने से आया है। हँसने पर मोती में दाँतों की आभा पड़कर वह मोती ओठों की सुर्खी से लालपन गटककर हीरा-सा हो जाता है। यहाँ चौथे पद में रूपकालंकार भी है।

सोनजुही - सी जगमगति अँग - अँग जोबन-जोति ;
सुरँग कुसुंभी कंचुकी दुरँग देह - दुति होति।
(बिहारी)

यहाँ यद्यपि कंचुकी ने कहीं रंग ग्रहण किया, कहीं नहीं, तथापि तद्गुण ही है।

सबै सुहाए ही लसैं, बसे सुहाए ठाम ;
गोरैं मुँह बेंदी लसै अरुन, पीत, सित, स्याम।
(बिहारी)

पंपा, मानसर आदि अगन तलाब लागे
जेहिके परन मैं अकथ जुत गथ के;
'भूषन' यों साज्यो रायगढ़ सिवराज, रहे
देव चक चाहिकै बनाए राजपथ के।
बिनु अवलंब कलिकान आसमान मैं ह्वै
होत बिसराम जहाँ इंदुवौ उदथ के;
परम उतंग मनि-जोतिन के संग आनि
कैयो रंग गहत तुरंग रबि-रथ के।
(भूषण)

जुत गथ के=युतगथ=जिनके साथ गाथाएँ लगी हुई हैं, अर्थात् जो पुराण-प्रसिद्ध हैं। लागे परन मैं=पार्खों में चित्रित हैं। रायगढ़= शिवाजीकी राजधानी का क़िला। उतंग=ऊँचा। कलिकान=हैरान। उदथ= उदय-अस्त होनेवाला; सूर्य।

पूर्वरूप (७५)

प्रथम पूर्वरूप—में निकटवर्ती वस्तु का लिया हुआ गुण—(रंग, रूप, रस, गंधादि छोड़कर कोई अपना पुराना गुण) फिर पाता है। यथा—

मुकुत-हार हरि के हिये मरकत मनिमय होत;
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसुकानि उदोत।
(मतिराम)

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी;
राम-जुधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु ब्यास के अंक सोहानी।
'भूषन' यों कलि के कबिराजन राजन के गुन पाप नसानी;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजा-जस न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।

यों सिर पै छहरावत छार हैं, जाते उठैं असमान बगूरे;
'भूषन' भूधरऊ धरकैं, जिनकी धुनि धक्कन यों बल रूरे।
ते सरजा सिवराज दिए कबिराजन को गजराज गरूरे;
सुंडन सों पहले जिन सोंकिकै फेरि महामद सों नद पूरे।
श्रीसरजा सलहेरिके जूझ घने उमरावन के घर घाले;
कुंभ, चँदावत, सैद, पठान कबंधन धावत भूधर हाले।
'भूषन' जे सिवराज कि धाक भए पियरे अरुने रँगवाले;
लोहै कटे लपटे तेई लोहु भए मुँह मीरन के पुनि लाले।
यों कबि 'भूषन' भाषत है यक तौ पहिले कलिकाल कि सैली;
ता पर हिंदुन की सब राहनि नौरँग साहि करीं अति मैली।
साहितनै सिव के डर सों तुरकौ गहि बारिध की गति पैली;
बेद-पुरानन की चरचा, अरचा दुज-देवन की पुनि फैली।
(भूषण)

उपर्युक्त पाँच उदाहरणों में से प्रथम और चतुर्थ में रंग की पुनः प्राप्ति है, तथा शेष तीनो में रूप की।

प्रथम पूर्वरूप में पृथक् अलंकारता होने-न होने में मतभेद—पहले उदाहरण में वास्तव में दूसरी बार रंग पाने से यद्यपि मुक्ता को पूर्वरूप मिल गया, तथापि छंद तद्गुण का भी उदाहरण माना जा सकता है। यही दशा पाँचवें से इतर अन्य उदाहरणों में भी कही जा सकती है। इसीलिये उद्योतकार का मत है कि प्रथम पूर्वरूप तद्गुण में मिलता है।

अप्पय्य दीक्षित (कुवलयानंदकार) इसे अलग अलंकार मानते हैं। साहित्यदर्पणकार भी इसे पृथक् अलंकार नहीं मानते।

हमारी समझ में इसमें पूर्वरूप पाने की मुख्यता है। जब तक किसी और से गुण प्राप्त करके प्राप्तकर्ता पृथक् होता जायगा, तब तक तद्गुण रहेगा, और जब पुराना रूप पा जायगा, तब पूर्वरूप

हो जायगा। अतएव दीक्षित के मानने में हमें अनौचित्य नहीं जान पड़ता।

द्वितीय पूर्वरूप—में वास्तविक वस्तु के मिट जाने पर भी दूसरे के कारण गुण (रूप, रस, रंग, गंधादि) का न मिटना रहता है। यथा—

अंग - अंग नग जगमगत दीप-सिखा-सी देह ;
दिया बढ़ाएहू रहत बड़ो उजेरो गेह।

(बिहारी)

बदन - चंद की चाँदनी देह - दीप की जोति ;
राति बितेहू लाल वहि भौन राति-सी होति।

(मतिराम)

नासेहू तम-तोम के सो मोहिं दियो हराय ;
लाल, इहाँ तो बिरह की रही अँधेरी छाय।

(वैरीशाल)

द्वितीय पूर्वरूप में पृथक् अलंकारता होने में मतभेद—उद्योतकार का मत है कि यह समाधि अलकार (नं० ४६) है।

अतद्गुण (७६)

अतद्गुण—में संसर्गवाली वस्तु का गुण (रंग, रूप, रस, गंधादि) नहीं ग्रहण किया जाता। यथा—

सिव सरजा की जगत मैं राजति कीरति नौल ;
अरि-तिय दग - अंजन हरै, तऊ धौल-की-धौल।

(भूषण)

दीनदयालु, दुनी-प्रतिपालक जे करता निरम्लेच्छ मही के ;
'भूषन' भूधर उद्धरिबो सुने और जिते गुन ते सब जी के।

या कलि मैं अवतार लियो तऊ, तेइ सुभाय सिवाजि बली के ;
आनि धर्‍यो हरि सों नर-रूप, पै काज करै सिगरे हरि ही के ।

(भूषण)

शिवाजी थे विष्णु, जिन्होंने नर-रूप धारण तो किया, किंतु कार्यों में हरि ही बने रहे, जिससे नरपन के गुण उन्होंने न लिए ।

सिवाजी खुमान तेरो खग्ग बढ़े, मान बढ़े ,
मानस लौं बदलत कुरुख उछाह ते ;
'भूषन' भनत क्यों न जाहिर जहान होय ,
प्यार पाय तो से ही दिपत नरनाह ते ।
परताप फैटो रहो, सुजस लपेटो रहो ,
बरनत खरो नर पानिप अथाह ते ;
रंग-रंग रिपुन के रकत सों रँगो रहै ,
रातो-दिन रातो, पै न रातो होत स्याह ते ।

(भूषण)

लाल बाल अनुराग ते रँगत रोज सब अंग ,
तऊ न छोड़त रावरो रूप साँवरो रंग ।

(मतिराम)

अनुराग लाल रंग का माना गया है ।

ज्यों सरद राका ससी, छायो भुवन प्रकास ,
तऊ कुहू रजनी करति वाके नैननि बास ।

(वैरीशाल)

विशेषोक्ति, विषम, अतद्गुण, उल्लास, अवज्ञा तथा तद्गुण का विषय-विभाजन—विश्वनाथ का कथन है कि विशेषोक्ति (नं० ३४) में कारण के रहते हुए भी कार्य न होने का चमत्कार है, और यहाँ रंगादि न लेने में अलंकारता है । विषम (नं० ३७) में वर्णांतर (विरुद्ध रंग) की उत्पत्ति होती है, परंतु

अतद्गुण में केवल रंग ग्रहण नहीं किया जाता। कुवलयानंद में आया है कि उल्लास (नं० ६८) और अवज्ञा (नं० ६९) के लक्षणों में आया हुआ गुण शब्द दोष का प्रतिपक्षी, परंतु तद्गुण और अतद्गुण के लक्षणों में गुण शब्द रंग, रूप, रस, गंधादि का वाची है। अतः दुर्गुण या सुगुण का ग्रहण या न ग्रहण होना जहाँ कहा गया हो, वहाँ उल्लास या अवज्ञा होती है, और जहाँ इतर गुणों का ग्रहण या न ग्रहण करना कहा गया हो, वहाँ तद्गुण या अतद्गुण जानना चाहिए। इतना ही भेद है।

अनुगुण (७७)

अनुगुण—में निकटता के कारण किसी के स्वाभाविक गुण की वृद्धि होती है। यथा—

फूलन के भूषन सरोजमुखी साजि बैठी ;
फूलन सुबास सोभा सौगुनी पसारी है।
(दूलह)

माहितनै मरजा सिवा के सनमुख आय
कोऊ बचि जाय न गनीम भुज-बल मैं ;
'भूषन' भनत भौंसिला की दिल दौर सुनि
धाक ही मरत म्लेच्छ औरँग के दल मैं।
रातौ - दिन रोवति रहति यवनी हैं, सोक
परोई रहत दिल्ली, आगरे सकल मैं ;
कज्जल - कलित अँसुवान के उमंग संग
दूनो होत रोज रंग जमुना के जल मैं।
(भूषण)

मनि - मानिक - मुकुता-छबि जैसी,
अहि, गिरि, गज - सिर सोह न तैसी।

नृप - किरीट, तरुनी - तन पाई—
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
(गो० तुलसीदास)

ऐसे ही इन कमल-कुल जीति लियो निज रंग;
कहा करन चाहत चरन लहि अब जावक-संग।
(वैरीशाल)

अनुगुण में पृथक् अलंकारता नहीं—अनुगुण के रूप में रंग, रूप, रस, गंधादि के अतिरिक्त दुर्गुण और सुगुण भी सम्मिलित हैं। चंद्रालोक का उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

नील नलिन अति नीलता तिय-कटाच्छ को पाय;
(चंदन)

यहाँ कटाक्ष का रंग नील कमल में आ गया। यही बात तद्गुण (नं० ७४) में भी होती है। भेद केवल इतना है कि यहाँ नील रंग था कमल में भी, सो यह पृथक् अलंकारता का साधक नहीं है, ऐसा मत उद्योतकार का भी है।

इस अलंकार (अनुगुण) में कहीं उल्लास (नं० ६८) होता है, और कहीं तद्गुण (नं० ७४)। यथा—

मज्जन - फल पाइय ततकाला;
काक होहिं पिक, बकहु मराला।
(गो० तुलसीदास)

यहाँ वक के मराल होने में रंग-वृद्धि अनुगुण है, किंतु मज्जन-फल द्वारा गुण-वृद्धि से उल्लास भी है।

सुनि स्वामी के बचन सकल जोधा उमदाने;
जंग जुरन के हेत चाव भरिकै ललचाने।
उतकंठित के जौन समर के हित पहले ही,
सुनत बचन ते भए जंग के अधिक सनेही।

ज्यों ज्वलित अनल में घृत परे तेज परम दारुन बढ़त,
त्यों ही बीरन के बदन पर निरखि परो साहस चढ़त।
एक-एक सों मिले होत ग्यारह जेहि भाँती;
त्यों साहस, उतसाह मिले बीरन की काँती।
जगमगाय तहँ उठी भानु-सम तेजस-रासी;
छिन-छिन परमा जासु परम रमनीय प्रकासी।
(मिश्रबंधु)

(७८) मीलित

मीलित—में सादृश्य के कारण दो वस्तुओं का मिलकर एक रूप हो जाना रहता है। यथा—

बरन, बास, सुकुमारता सब बिधि रही समाय;
पखुरी लगी गुलाब की अंग न जानी जाय।
(बिहारी)

इंद्र निज हेरत फिरत गजइंद्र अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुग्गधि-नदीस को;
'भूषन' भनत सुर-सरिता को हंस हेरै,
बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को।
साहितनै सिवराज करनी करी है तैं जु,
होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को;
पावत न हेरे तेरे जस मैं हेराने, निज
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को।
(भूषण)

दुग्गधि-नदीस=दुग्ध-समुद्र।

यश का रंग सफ़ेद है, जिसमें इतर श्वेत वस्तुएँ ऐसी मिल गई हैं कि ढूँढ़े नहीं मिलतीं।

भई जु छबि तन-बसन मिलि बरनि सकै सु न बैन :
आँग - ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न।
(बिहारी)

पान - पीक अँखियानि मैं सखी, लखी नहिं जाय ;
कजरारी अँखियानि मैं कजरा री न लखाय।
(कस्यचित्कवेः)

जोहैं जहाँ मगु नंदकुमार, तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है ;
मोतिन ही के किए गहने सब, फूलि रही जनु कुंद कि डार है।
भीतर ही जु लही, सु लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है ;
जोह्न-सी जोह्नै गई मिलि यों, मिलि जाति ज्यों दूध मैं दूध कि धार है।
(सुखदेव)

सामान्य (७६)

सामान्य—में अनेक पृथक् वस्तुओं के एक ही रूप होने से यह नहीं ज्ञात होता कि कौन वस्तु क्या है ? यथा—

पैन्हे सेत सारी बैठी फानुस के पास प्यारी,
कहत बिहारी प्रानप्यारी धौं किते गई ?
(दूलह)

चंदन की चौकी चारु पड़ा था सोता सब गुन जटा हुआ ;
चौके की चमक, अधर-बिहँसनि, मानो इक दाड़िम फटा हुआ।
ऐसे में गहन समै 'सीतल' यक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ ;
भू-तल से नभ, नभ से अवनी अग उछलै नट का बटा हुआ।
(शीतल)

सारी जरतारी की झलक झलकति, तैसो
केसरि को अंगराग कीन्हो सब तन मैं ;
तीछन तरनि की किरनि मैं दुगुन जोति
जागति जवाहिर - जटित आभरन मैं।

कबि 'मतिराम' आभा अंगन अनंगन की,
धूम कैसी धारा छबि छाजति कचनि मैं ;
ग्रीषम दुपहरी में हरि को मिलन चली
जानी जति नारि न दवारि-जुत बन मैं ।
(मतिराम)

यहाँ पहले उदाहरण में फ़ानूस और स्त्री, ये दो पृथक् हैं, किंतु इनका भेद लख नहीं पड़ता । तीसरे उदाहरण में दवाग्नि और नायिका दो पृथक् वस्तुएँ हैं, जिनका भेद विदित नहीं होता । दूसरे उदाहरण में भी दवाग्नि और नायिका अलग-अलग हैं, परंतु उनको देखकर यह नहीं ज्ञात होता कि कौन वस्तु क्या है ।

सामान्य और मीलित में भेद—सामान्य में दोनो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् रहती हैं, और मीलित में मिलकर एक ही हो जाती हैं, यह भेद है ।

उन्मीलित (८०)

उन्मीलित—में किसी प्रकार वस्तु का मीलित से फिर पृथक् होना कहा जाता है । यथा—

सिख-नख फूलन के भूषन बिभूषित है,
बाँधि लीन्ही बलया, बिगत कीन्ही बजनी ;
तापर सँवारि स्वेत अंबर को डंबर
सिधारी स्याम सन्निधि, निहारी कोऊ न जनी ।
छीर के तरंग की प्रभा को गहि लीन्ही तिय,
कीन्ही छीर-सिंधु छिति कातिक की रजनी ;
आनन-छटा सों तनु छाँह हूँ छिपाए जाति,
भौंरन की भीर संग ल्याए जाति सजनी ।
(दास)

शुक्लाभिसारिका का वर्णन है। चाँदनी में नायिका सब प्रकार से मिल गई है, किंतु उसके पद्मिनी होने से भौंरों की भीर से सखी उसे पहचान लेती है। यहीं उन्मीलित है।

बलया=कंकण या चूड़ी। बजनी=बजनेवाला ज़ेवर। डंबर=आडंबर; समूह।

> चंपक तन धन बरन बर रह्यौ रंग मिलि रंग ;
> जानी जाति सुबास ही केसरि लाई अंग।
>
> (बिहारी)

धन=धन्या ; नायिका।

> डीठि न परत समान दुति कनकु कनक-से गात ;
> भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात।
>
> (बिहारी)

कनक के समान गात में कनक (स्वर्ण) के भूषण केवल स्पर्श से पहचाने जाते हैं।

> मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाति ;
> ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघटत जाति।
>
> (बिहारी)

> सरद चाँदनी मैं, प्रकट होत न तिय के अंग ;
> सुनत मंजु मंजीर-धुनि सखी न छोड़ति संग।
>
> (मतिराम)

> सिव सरजा तव सुजस मैं मिले धौल छबि तूल ;
> बोल बास ही जानिए हंस चमेली फूल।
>
> (भूषण)

उन्मीलित में पृथक् चमत्कार—उद्योतकार का कथन है कि थोड़े-से अंतर के होने से भी है यहाँ भी मीलित ही, किंतु इसका चमत्कार पृथक् भी है।

विशेषक (८१)

विशेषक—सामान्य (नं० ७६) में जहाँ किसी कारण-वश भेद खुल जाय, वहाँ विशेषक होता है। यथा—

कातिक पून्यो कि राति सखी दिसि पूरब अंबर मैं जिय जान्यो ;
चित्त भ्रम्यो पुमनिंदु मनिंदु फनिंदु उठ्यो भ्रम ही सों भुलान्यो।
'देव' कछू बिसवास नहीं, सोइ पुंज प्रकास अकास मैं तान्यो ;
रूप-सुधा अँखियानि अँचै निहिचै मुख राधिका को पहिचान्यो।
(देव)

पुमनिंदु = पूर्ण + इंदु ; पूर्णेंदु। मनिंदु फनिंदु=चंद्रकांत-सी मणि धारण करनेवाला सर्प। अँचै = पान करके।

यहाँ प्रथम दो पदों में भ्रांतिमान् (नं० ६७) अलंकार है, क्योंकि राधा के मुख से नायक को चंद्र का भ्रम हुआ, किंतु जब मणि-मंडित केश-पाश देखा गया, तब निश्चय-पूर्वक देखकर राधा का मुख चंद्र से पृथक् पाया गया।

अहमदनगर के थान किरवान लैकै
नवसेरी खान ते खुमान भिरो बल ते ;
प्यादेन सों प्यादे, पखरैतन सों पखरैत,
बखतरवारे बखतरवारे हलते।
'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते ;
सम भेख ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते।
(भूषण)

विशेषक में पृथक् चमत्कार है या नहीं—उद्योतकार उन्मीलितवाले विचार के समान इसे भी सामान्य से पृथक् नहीं मानते। इस विचार में मतभेद पड़ सकता है।

गूढ़ोत्तर (८२)

गूढ़ोत्तर—में किसी को अभिप्राय-युक्त संभव उत्तर दिया जाता है। यथा—

बाग ही मैं पथिक बसेरो होत आयो है।

(दूलह)

यहाँ स्वयं दूतीपन का प्रयोजन है।

वाम घरीक निवारिए कलित ललित अलि-पुंज ;
जमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती-कुंज।

(बिहारी)

मम्मट के द्वितीय उत्तर में पार्थक्य—इसमें असंभव उत्तर नहीं होते। यह मम्मट के द्वितीय उत्तर से भेद है।

बाल कहा लाली परी लोयन कोयन माँह ;
लाल, तिहारे दृगन की परी दृगन मैं छाँह।

(बिहारी)

चित्रोत्तर (८३)

प्रथम चित्रोत्तर—में प्रश्न ही उत्तर भी होता है। यथा—

प्रश्न—को करत कामिनी को सदा मन भायो है ?
उत्तर—कोक-रत कामिनी को सदा मन भायो है।

(दूलह)

इस अलंकार के लिये उन्हीं शब्दों का दोहराया जाना आवश्यक नहीं, जैसा ऊपर हुआ है। मतलब किसी प्रकार उत्तर मिलने से है।

सरद चंद्र की चाँदनी को कहिए प्रतिकूल ?
सरद चंद्र की चाँदनी कोक-हिये प्रतिकूल।

(मतिराम)

द्वितीय चित्रोत्तर—में कई प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है। यथा—

को मख-पालक ? दीन्हों मुनि-तिय रूप ?
माल मैथिली केहि गर ? राम अनूप।

यहाँ तीनो प्रश्नों का उत्तर एक ही है।

को हरि-बाहन ? जलधि-सुत ? को है ज्ञान-जहाज ?
तहाँ चतुर उत्तर दियो एक बचन दुजराज।
(मतिराम)

दुजराज = गरुड़, चंद्रमा, ब्राह्मण।

तीनो प्रश्नों के यही तीन अर्थ एक दूसरे के पीछे क्रम से उत्तर हैं।

राधा रहति कहाँ ? कहो, को है सुरपति धाम ?
रुचिर हिये पर को लसै ? कही उर बसी स्याम।
(रामसिंह)

राधा हृदय में बसी है, इंद्र के यहाँ उर्वशी अप्सरा है, तथा हृदय पर उरबसी आभूषण रहता है।

कौन करै बस बस्तु ? कौन यहि लोक बड़ो अति ?
को साहस को सिंधु ? कौन रजलाज धरे मति ?
को चकवा को सुखद ? बसै को सकल सुमन महि ?
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि देत माँगे को ? सो कहि।
जग बूझत उत्तर देत इमि कवि 'भूषन' कबि-कुल-सचिव ;
दच्छिन नरेस सरजा सुभट साहिनंद मकरंद सिव।
(भूषण)

उत्तर (८३ अ)

प्रथम उत्तर—में उत्तर से ही प्रश्न की कल्पना की जाती है।

द्वितीय उत्तर—जहाँ अनेक प्रश्नों के अनेक असंभाव्य

(अप्रसिद्ध) उत्तर दिए जायँ, वहाँ उत्तर का दूसरा भेद होता है। यथा—

प्रथम उत्तर—

व्याघ्र-चर्म अरु दुरद-रद कहाँ हमारे गेह ;
जब लौं बसती है यहै पुत्र-बधू जु सुदेह।
(मुरारिदान)

ये लक्षण और उदाहरण काव्यप्रकाश के मत पर दिए गए हैं। साहित्यदर्पण और सर्वस्वकार का भी यही मत है। उदाहरण में उत्तर से इस प्रश्न की कल्पना की जाती है कि "क्या तुम्हारे यहाँ व्याघ्र-चर्म और हाथी-दाँत हैं ?" पहले पद में उत्तर है "नहीं", तथा दूसरे में यह शिकायत है कि स्त्री से विशेष अनुरक्ति के कारण बेटा कमाने को बाहर जाता ही नहीं, ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ आवें कहाँ से ?

उत्तर अनुमान तथा काव्यलिंग में भेद—काव्यप्रकाश की वृत्ति में आया है कि यहाँ काव्यलिंग (नं० ९९) अलंकार नहीं है। उसमें जनक (कारक) हेतु होता है, तथा उत्तरालंकार के उत्तर में प्रश्न का केवल ज्ञापक (ज्ञान करानेवाला) हेतु रहता है। अनुमान (नं० १०९) भी नहीं है, क्योंकि उसमें एक पद्य में साध्य और साधन भाव रहते हैं। ये साध्य प्रश्न और साधन उत्तर दोनो दो पद्यों में नहीं रहते। मतलब यह कि अनुमान में साध्य और साधन, दोनो एक ही व्यक्ति द्वारा कहे जाते हैं, तथा उत्तर में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा।

मम्मट का कहना है कि उपर्युक्त कारणों से प्रथम उत्तर को पृथक् अलंकार ही मानना ठीक है। आप गूढ़ोत्तर एवं चित्रोत्तर का वर्णन करते ही नहीं, केवल उत्तर के उपर्युक्त दो भेद मानते हैं।

विश्वनाथ अनुमान से इसमें यह भेद बतलाते हैं कि उसमें

साध्य और साधन, दोनों ही कथित रहते हैं ; किंतु इसमें साध्य प्रश्न कथित नहीं रहता।

प्रथम उत्तर में चमत्काराभाव—उत्तर से प्रश्न की कल्पना करने में कोई चमत्कार नहीं, क्योंकि उत्तर किसी प्रश्न का ही दिया जाता है। अतएव जहाँ-जहाँ उत्तर होता है, वहाँ-वहाँ प्रश्न का भी होना सिद्ध ही है। ऐसा लौकिक होने से चमत्कार-पूर्ण नहीं है। विमर्शिनी (सर्वस्व की टीका) में भी यही मत कथित है।

चले जात, टिकिहौ कहाँ, गोकुल है अति दूरि ;
नदी-नार आगे अधिक, सबै रहे जल पूरि।

(भूपति)

इस उत्तर में किसी का यह पूछना निहित है कि "गोकुल कितनी दूर है ?"

उत्तर (८२ आ)

द्वितीय उत्तर—

क्या दुरलभ ? गुणग्रहक जू, सुख जु कहा ? सुकलत्र ,
है जु बिषम क्या ? देव-गति, दुख क्या ? खलजन यत्र।

(मुरारिदान)

यह काव्यप्रकाश का अनुवाद है। यहा चार प्रश्न तथा उनके उत्तर हैं। इन प्रश्नों के प्रसिद्ध उत्तर अन्य हैं, और अप्रसिद्ध उत्तरों से चित्त में आश्चर्य-सा उत्पन्न होता है, जिससे चमत्कार का अनुभव प्राप्त है।

सुंदरि ! कस तन दूबरो ? पर तिय बातन काह ;
तदपि कहौ ? कहिहै पथिक ! जाके तुम हो नाह।

(रसाल)

यह रसगंगाधर का अनुवाद है। प्रथम प्रश्न से व्यंग्य है, मैं दुख का उपाय करूँगा, और उत्तर से व्यंग्य है, मैं पतिव्रता हूँ, तू उसका उपाय नहीं कर सकता। दूसरे प्रश्न से यह व्यंग्य है, कदाचित् कर सकूँ

(सुभा-बुभाकर), और उत्तर से व्यंग्य है, जब तुम अपनी स्त्री का न कर सके, तो हमारा क्या करोगे ?

नोट—काव्यप्रकाश की टीका प्रभा में आया है कि यहाँ उत्तर सामान्य मनुष्यों के बुद्धि-ग्राह्य होने चाहिए। उसका कहना है, ऐसा न मानने से परिसंख्या (नं० ५२) से द्वितीय उत्तर में भेद ही न रहेगा। परंतु उस परिसंख्या में सामान्य बुद्धि के परेवाले उत्तर नहीं होते, और उत्तर में सामान्य बुद्धि के परेवाले उत्तर होते हैं।

परिसंख्या तथा द्वितीय उत्तर की पृथकता—प्रश्नवाली परिसंख्या के उत्तर में उसको अन्य वस्तु से हटाने में चमत्कार है, परंतु उत्तर में ऐसा नहीं होता, यह भेद है। ऐसा काव्यप्रकाश की वृत्ति में लिखा है।

द्वितीय उत्तर में मतभेद—पंडितराज का मत है कि जहाँ एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर हो, वहाँ भी द्वितीय उत्तर की सिद्धि हो जाती है। यह आवश्यक नहीं कि कई प्रश्न और कई उत्तर हों। यह मत मान्य समझ पड़ता है। अतः दूसरे उत्तर के लक्षण से अनेकता का विचार हटा देना चाहिए।

तृतीय उत्तर—प्रश्न का असंभव उत्तर दिए जाने पर होता है। हमारे मत में उत्तर अलंकार के तीन भेद मानने चाहिए प्रथम गूढ़ोत्तर, द्वितीय चित्रोत्तर (दो भेद-युक्त) और तृतीय काव्यप्रकाश का उत्तर द्वितीय भेद।

हमारी समझ में उत्तर के प्रथम भेद में अलंकारता नहीं है।

नोट—यहाँ गूढ़ोत्तर और चित्रोत्तर के जो अलग-अलग नंबर दिए गए हैं, वे काटे इसलिये नहीं जाते कि जो नंबर हम 'कवि-कुल-कंठाभरण' में दे आए हैं, उनसे मिलाने के लिये भेद न पड़े। अतः हमारे मत से (१) गूढ़ोत्तर, (२) चित्रोत्तर के दो भेद, और (३) तृतीय उत्तर का एक भेद, सब मिलाकर ४ हो जाते हैं।

यहाँ गूढ़ोत्तर में जहाँ तक देखा गया, संभव उत्तर दिए जाते हैं, और मम्मट के द्वितीय उत्तर में असंभव। इतना ही भेद है। इन दोनों को मिलाकर इस गूढ़ोत्तर का इस प्रकार लक्षण कर देने से सब झंझट निपट जाता है।

गूढ़ोत्तर का इस ग्रंथकर्ताओं का लक्षण—किसी को अभिप्राय-युक्त संभव या असंभव उत्तर देना गूढ़ोत्तर अलंकार है। संभव यथा—

कपि कौन तू ? सुत अक्षय-घातक, कौन बल ? रघुनाथ के ;
रघुनाथ को ? खरदूषणांतक, अनुज लछमण साथ के।
लछमन सु को ? तव भगिनि जानति, परशुधर-मद जेहि हर्यो ;
वह परशुधर को ? सहसभुज-रिपु, दीप जेइ तुव सिर धर्यो।
पठवा तु केइ ? सुग्रीव, को ? हरि बालि-सोदर जानिए ;
कपि बालि को ? तुम रह्यो जाकी काँख मैं, सुधि आनिए।

यहाँ हर चरण में रावण हनूमान् से इस प्रकार का प्रश्न करते हैं, जिसका उत्तर उनको ऐसा देना ही हो, जिसमें उन्हें लज्जित होना पड़े ; परंतु वह उसका संभव और इन्हें लज्जित करनेवाला उत्तर देते हैं।

ग्वालिन देहुँ बताइहौं, मोहि कछुक तुम देहु :
बंसीबट की छाँह मैं लाल जाय लखि लेहु।
(मतिराम)

यहाँ भी संभव उत्तर है।

यह निसि बन जैबो सखिनि सुनि उपज्यो चित चाव :
(रसिक सुमति)

बेतस-बृंद जहाँ पथिक, तहाँ सरित तरि जात।
(चंदन)

अंग छोड़ि सिगरी गई सजि-सजि साज-पटोर ;
गोबरधन पूजन भटू हौं जैहौं उठि भोर।
(ऋषिनाथ)

'दासजू' न्योते गई कछु थोस को, कालिह ते ह्यों न परोसिन्यो आवति ;
हौं ही अकेली कहाँ लौं रहौं इन आँधी अँधानि को ज्यों बहरावति ।
प्रीतम छाड़ रह्यो परदेस, अँदेस यहै जु संदेस न पावति ;
पंडित हौ, गुन-मंडित हौ, रहि जाव तुम्हैं सुगनौतिश्रौ आवति ।
(दास)

इन सब उदाहरणों में संभव ही उत्तर दिए गए हैं । अतः यद्यपि आचार्यों ने इसके लक्षण में संभव नहीं लिखा है, तथापि हमने अपनी ओर से इतना बढ़ा दिया । असंभव यथा—

मरन कहा ? जु दरिद्रता, स्वर्ग कहा ? बर नार ;
क्या आभूषन नरन कौ ? जस जानहु निरधार ।
(मुरारिदान)

सूक्ष्म (८४)

सूक्ष्म—में पराया मतलब जानकर साभिप्राय चेष्टा द्वारा उत्तर दिया जाता है । यथा—

लाल मलीन मैं बाल लखी 'मतिराम' भयो उर आनँद भीनो ;
हाथ दुहून सों चंपक-गुच्छन लै हिय बीच लगाय कै लीनो ।
चंदमुखी मुसुकाय मनोहर हाथ उरोजनि अंतर दीनो ;
आँखिन मूँदि रही मिसि कै, मुख ढाँपि निचोल को अंचल कीनो ।
(मतिराम)

चंपक-गुच्छों को हृदय से लगाने का प्रयोजन स्पर्शेच्छा है । नायिका द्वारा हृदय पर हाथ रक्खे जाने से यह जतलाया गया कि नायक उसके हृदय में बसता है, तथा चतुर्थ चरण की चेष्टा से रात्रि में मिलन का संकेत है । जब आँख (कमल) बंद हो, तथा कपड़े से (शयनार्थ) मुख ढका हो, या चंद्र अस्त हो चुका हो ।

कोस मैं चलायो कर-कमल को कोस है।

(दूलह)

कर-कमल का कोस (बंद मुट्ठी) कोस (कोंछे) में चलाया। प्रयोजन यह है कि नायक का प्रेम बंद मुट्ठी में भरकर उसे हृदय से लगाया। यह भी प्रयोजन हो सकता है कि कमल बंद होने पर (रात में) मिलन होगा।

सूक्ष्म केवल व्यंग्य का विषय है—अलंकार की मुख्यता भाषा-संबंधी सौंदर्य-विवर्द्धन की है, जो बात यहाँ है नहीं, क्योंकि सूक्ष्म में इशारेबाज़ी-मात्र है। अतएव यह व्यंग्य में जाता है।

पिहित (८५)

पिहित—में पराई बात जानकर वह चेष्टा से प्रकट की जाती है।

किसी के ढके (छिपे) वृत्तांत को जानकर अथच ढककर उसे जतलाना कि हम तुम्हारा भेद जान गए, पिहित की मुख्यता है। इसका शाब्दिक अर्थ है "ढक लेना।" यथा—

पी को लखि स्रमित उतारयो पंखापोस है।

(दूलह).

पंखापोश उतारने से प्रयोजन यह निकलता है कि पंखा हाँकने की ऋतु न थी, जिससे वे बंद रक्खे थे। ऐसे समय में श्रमित-मात्र कहकर प्रस्वेद से व्यभिचारी भाव का बोध पंखा उतारने की क्रिया से कराया गया है। व्यभिचारी को सात्विक अथवा तनसंचारी भी कहते हैं।

बिथुरे कच, सरवट बसन समुझि सखी मुख मोरि—
दई तरुनि को बिहँसिकै अरुन पाट की डोरि।

(सोमनाथ)

सखी ने बिथुरे केश तथा सिकुरन-युक्त कपड़ों से सुरति-चिह्न ताड़कर,

हँसकर लाल डोरा-बाल बाँधने को दिया। इसमें भी क्रिया से भाव प्रकट किया गया है।

आनि मिल्यो अरि यों गह्यो चखनि समत्ता चाव;
साहितने सरजा सिवा दियो मुच्छ पर ताव।

(भूषण)

नोट—सूक्ष्म (नं० ८४) के विषय में ऊपर जो व्यंग्य का विचार प्रकट किया गया है, वह पिहित पर भी लागू है।

इस अलंकार का लक्षण कुवलयानंद के मत पर दिया गया है।

रुद्रट का पिहित—परंतु रुद्रट दूसरा ही लक्षण मानते हैं। अर्थात्—

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्;
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम्।

तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु में रहता हुआ गुण अन्य स्थान पर रहनेवाली वस्तु को भी ढक ले, तो पिहित होता है। यथा—

जाल-रंध्र-मग ह्वै कढ़ै तिय-तन-दीपति-पुंज;
झिंझिया कैसो घट भयो दिन ही मैं बन-कुंज।

(मतिराम)

झिंझिया=छोटी-सी हांडी, जिसमें बहुत-से छिद्र बने होते हैं। उसके भीतर दीपक रख दिया जाता है। उसी को एतद्देश में झँझिया कहते हैं, जिसे मतिराम ने व्रजभाषा में झिंझिया कहा है। छंद में दीप्ति-पुंज केवल नायिका में था, किंतु उसने बढ़कर कुंज को भी ढक लिया, जिससे रुद्रट के अनुसार पिहित अलंकार आया।

बिद्रुम और बँधूक, जपा, गुललाला, गुलाब की आभा लजावति;
'देवजू' कंज खिले टटके, इटके भटके खटके गिरा गावति।
पावँ धरै अलि ठौर जहाँ, तेहि ओर सों रंग की धार-सी धावति;
मानो मजीठ की माठुरी लै यक ओर ते चाँदनी बोरति आवति।

(देव)

बिद्रुम=मूँगा। बँधूक=दुपहरिया (लाल फूल)। जपा=गुड़हर। माठुरी=हाँडी। चाँदनी=बिछाने का कपड़ा।

यदि वाणी चरणों की समता नवीन कमल से भूलकर दे, तो खटके में पड़कर हटक दी जाय (मना की जाय)। पैरों में इतनी लालिमा है, मानो मजीठ (अरुण रंग) की हाँडी लेकर बिछौने को रँगती चली जाती है। मजीठ की लकड़ी से लाल रंग बनाया जाता था। यहाँ पैर का रंग बिछौने पर भी प्रभाव फैलाता है, जिससे अलंकार निकलता है।

चाली सों आई नई दुलही, लखिबे को जबै कोउ चाव बढ़ावति ;
सूही सजी सिर सारी जबै, तब नायनि आपने हाथ ओढ़ावति।
भीतर भौन ते बाहेर लौं 'दुजदेव' जोन्हाई कि धार-सि धावति ;
साँझ समै ससि की-सी कला उदयाचल सों मनो घेरति आवति।

(द्विजदेव)

सूही=लाल। यहाँ भी वही भाव है।

पिहित में पृथक् अलंकारता नहीं—ये तीनो उदाहरण तद्गुण (नं० ७४) के हो जाते हैं, जिससे रुद्रट के अनुसारवाला पिहित पृथक् अलंकार नहीं रह जाता। पहले लिखा हुआ लक्षण मानने से व्यंग्य में जाता है। अतएव दोनो प्रकार से पिहित को पृथक् अलंकारता मिलनी कठिन है।

व्याजोक्ति (८६)

व्याजोक्ति—में बिना बतलाए रहस्य के खुल जाने पर दूसरी बात बतलाकर उसका गोपन किया जाता है। यथा—

सिवा-बैर औरँग-बदन लगी रहै नित आहि ;
कवि 'भूषन' बूझे सदा कहै देत दुख साहि।

(भूषण)

साहि=शाही, राज्य-भार।

साहिन के उमराय जितेक, सिवा सरजा सब लूटि लए हैं ;
'भूषन' ते बिन दौलति ह्वै कै, फकीर ह्वै देस-बिदेस गए हैं।
लोग कहैं, इमि दच्छिन जेइ सिसौदिया रावरे हाल ठए हैं ;
देत रिसायकै उत्तर यों, हम हीं दुनिया सों उदास भए हैं।

(भूषण)

मृग-छौना सुंदर सखी लियो अंक मैं आज ;
खुर की लगी खरौंट उर, अलि ! करु कछुक इलाज।

(सोमनाथ)

यहाँ गुप्ता नायिका का वर्णन है।

व्याजोक्ति और अपह्नुति का विषय-विभाजन—साहित्य-दर्पण के अनुसार व्याजोक्ति और अपह्नुति (नं० ११) में यह भेद है कि प्रथम तो उसमें उपमेय भी उक्त रहता है, दूसरे, स्वयं ही वक्ता द्वारा रहस्योद्घाटन किया जाता है, जो बातें व्याजोक्ति में नहीं होतीं।

गूढ़ोक्ति (८७)

गूढ़ोक्ति—में जिससे वास्तव में कुछ कहना हो, उससे न कहकर अन्य से बात कही जाती है। यथा—

गैल गहु बैल ! यहि बारी तैं बरकि आयो ;
बारी को रखैया जो रह्यो रे रिस भरिकै।

(दूलह)

यहाँ बैल का संबोधन करके नायक के सचेत करने का अभिप्राय है। हे बैल ! इस बार तू बच आया है, सो अपना रास्ता पकड़, क्योंकि बारी (खेत) का बचानेवाला सक्रुद्ध है।

यों न प्यार बिसराइए, लई मोहिं तैं मोल ;
मुख निरखत नँदनंद को कहै सखी यों बोल।

(मतिराम)

ए रे रस-लोभी भ्रमर, सब दिन कियो बिलास ;
साँझ होत तजि कमल को अब करु अनत निवास ।
(रामसिंह)

गूढ़ोक्ति अलंकार नहीं—उद्योतकार ने लिखा है कि गूढ़ोक्ति या तो ध्वनि के अंतर्गत है या गुणीभूत व्यंग्य के। इसमें कथित वाक्य से असली भाव ध्वनित-मात्र होता है। उदाहरण इसके आक्षेप में आ जाते हैं। इसमें कोई भाषा-संबंधी महत्ता नहीं आती, जिससे अलंकार में इसकी गणना न होनी चाहिए।

गूढ़ोक्ति प्रायः इतर अलंकारों के साथ रहती है। दूसरे उदाहरण में अर्थश्लेष का आभास-मात्र होने से यहाँ 'प्रायः' शब्द कहा गया है।

विवृतोक्ति (८८)

विवृतोक्ति—में गुप्तार्थ व्यंग्य द्वारा कहा जाता और प्रकट भी कर दिया जाता है। यथा—

कहुँ गरजौ, बरसौ कहूँ, कहुँ दरसौ घन स्याम ;
कहुँ तरसावत ही रहौ, कहति जनाए बाम।
(रामसिंह)

ऊपर के दोहे में पहले पद में गुप्तार्थ व्यंग्य द्वारा कहा गया, किंतु दूसरे पद में प्रकट भी कर दिया गया।

आई है निपट साँझ, गैया गई बन माँझ,
ह्याँ ते दौरि आई, कहै मेरो काम कीजिए ;
हौं तौ हौं अकेली, और दूसरो न देखियत,
बन की अँध्यारी सों अधिक भय भीजिए।
कवि 'मतिराम' मनमोहन सों पुनि-पुनि
राधिका कहति बात साँची कै पतीजिए ;

कब की हौं हेरति, न हेरे हरि, पावति हौं,
बछरा हेरानो, सो हेराय नेकु दीजिए।
(मतिराम)

यहाँ 'बात साँची कै पतीजिए' के कहने में गुप्त भाव प्रकट किया गया है।

विवृतोक्ति में वाच्यार्थ को चमत्कृत करने का उपकरण नहीं—इसमें भी गुणीभूत व्यंग्य है, तथा अलंकारता नहीं। जहाँ व्यंग्य प्रधान न होकर गौण (अप्रधान) हो, वहाँ वह गुणीभूत कहलाता है। यही मत उद्योतकार का भी है।

युक्ति (८६)

युक्ति—में क्रिया द्वारा मर्म छिपाया जाता है। यथा—

देखि सूने सदन मैं ताहि मिलि रोई है।
(दूलह)

यहाँ सूने सदन में उपपति के साथ देखी जाकर नायिका ने उससे मिलकर रोने से यह प्रकट किया कि वह मायके का संबंधी है।

हरि को पनिघट मैं निरखि पुलकित भयो सरीर;
तिय लै अंचल-ओट सों रोक्यो सीत समीर।
(सोमनाथ)

चित्र मित्र को लिखत ही कामिनि सुमति निधान—
निरखि सखी को लिखि दियो कुसुम धनुष कर बान।
(रामसिंह)

नायिका उपपति का चित्र लिखती थी, किंतु सखी के भय से उसमें कुसुम के धनुर्बाण लिखकर यह प्रकट किया कि वह कामदेव का चित्र था।

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ;
भई लखाइ न सखिन हूँ झूठैं ही जमुहाइ।
(बिहारी)

दुख के आँसू को जृंभा लेकर जमुहाई के आँसू बतलाए गए।

युक्ति में वाच्यार्थ को चमत्कृत करने की शक्ति-हीनता— अंतिम दोनों उदाहरणों में सादृश्य आ जाता है, जिससे चमत्कार मिलता है। दूलहवाले में भाषा का कोई चमत्कार नहीं। केवल व्यंग्य है।

लोकोक्ति (६०)

लोकोक्ति—में कथन में वक्ता किसी कहावत का व्यवहार करता है। यथा—

ज्ञान गनंता पौरुष हारै;
'सो जीतै, जो पहिले मारै।'
'रीती भरै, भरी ढरकावै;
जो मन करै, तौ फेरि भरावै।'
यह संसार कठिन रे भाई,
सबल उमड़ि निरबल को खाई।
छनिक 'राज-संपति के काजै,
बंधुन मारत बंधु न लाजै।'

(लाल)

सुन मजबूत बानी सुनिकै सुजान मानी,
सोई बात जानी, जासों उर मैं छमा रहै;
जूझ रीति जानो मत, भारत को मानो, जैसो
हाथ पुठवार तातें ऊन अगमा रहै।
बाम और दच्छिन समान बलवान जानि
कहत पुरान लोक - रीति यों रमा रहै;
'सूदन' समर-घर दोउन की एकै बिधि,
'घर मैं जमा रहै, तो खातिरजमा रहै।'

(सूदन)

तैं अब मेरी कही नहिं मानति, राखति है उर जोम कछू री ;
सो सबको छुटि जात भटू, जब दूसरो मारि निकारत भूरी।
'बोधा' गुमान-भरी तब लौं, फिरिबो करो जौ लौं लगी नहि पूरी ;
'पूरी लगे लखु सूरन की चकचूर ह्वै जाति सबै मगरूरी।'

(बोधा)

मारि निकारत भूरी=(तलवार आदि) मारकर इतनी जल्दी शरीर से निकाल लेता है कि उसमें काट करके भी खून नहीं लग पाता—वह सूखी-की-सूखी निकल आती है।

सिव सरजा की सुधि करौ, भली न कीन्हीं पीव ,
सूबा ह्वै दक्खिन चले, 'धरे जात कित जीव।'

(भूषण)

मोहन को मुख-चंद लखे बढ़ि आनँद आँखिन ऊपर आवै ;
रोम उठैं, 'मतिराम' कहै, तन चारु कदंब-लता छबि छावै।
बूझति हौं हितकै सखि तोहि, कहा रिसकै यह भौहँ चढ़ावै ?
'मैं तिन-से गन्यो तीनिहु लोकन,' तू 'तिन-ओट पहार छिपावै।'

(मतिराम)

यह चारिहु ओर उदै मुख-चंद की चाँदनी चारु निहारि लै री ;
बलि, तो प अधीन भयो पिय प्यारो, तौ एते बिचार बिचारि लै री।
कबि 'ठाकुर' चूक परी जो गोपाल सों, तू बिगरी को सुधारि लै री ;
फिरि रैहै न रैहै यहै समयो, 'बहती नदी पावँ पखारि लै री॥'
कहिबे की कछू न, कहा कहिए, मग जोवत-जोवत ज्वै गयो री ;
उन तोरत बार न लाई कछू, तन सों बृथा जोबन ख्वै गयो री।
कबि 'ठाकुर' कूबरी के बस ह्वै रस मैं बिस-सी बिस ब्वै गयो री ;
मनमोहन को हिलिबो-मिलिबो 'दिना चारि की चाँदनी ह्वै गयो री॥'
यह प्रेम-कथा कहिबे की नहीं, कहिबोई करौ, कोऊ मानत है ;
पुनि ऊपरी धीर धरायो चहै, तन-रोग नहीं पहिचानत है।

कवि 'ठाकुर' जाहि लगीं कसकैं, नहिं सो कसकै उर आनत हैं;
'बिन आपने पाँव बेवाई गईं, कोऊ पीर पराई न जानत है।'
(ठाकुर)

करौ रुखाई नाहिन बाम,
बेगिहि लै आऊँ घनस्याम।
कहैं पखानो जे बुधि - धाम;
'उतरा सहना मरदक नाम।'

लोकोक्ति को एकआध हिंदी-कवि ने पखानो (उपाख्यान) भी कहा है। इस विषय पर कुछ पूरे ग्रंथ ही बन गए हैं।

छेकोक्ति (६१)

छेकोक्ति—लोकोक्ति में कोई दूसरा अर्थ गर्भित होने से होती है। यथा—

कपि-सैन कपि जान।
(दूलह)

मतलब यह है कि बंदर का इशारा बंदर ही समझता है। यहाँ समझनेवाले को बंदर कहकर उसका अपमान किया गया है।

छिति, नीर, कृसानु, समीर, अकास, ससी, रबि ह्वै तिनु रूप धरै;
अरु जागत-सोवतहू 'मतिरामजू' आपनी जोति प्रकास करै।
जग-ईस अनादि, अनंत, अपार वहै सब ठौरनि मैं बिहरै;
सिगरे तनु मोह मैं मोहि रहे, 'तिन-ओट पहार न देखि परै।'
(मतिराम)

लोकोक्ति "तिन-ओट पहाड़ नहीं छिपता।" की है, किंतु यहाँ ऐसा दर्शाया गया है कि वास्तव में तृण के ओट में पहाड़ छिपा हुआ है, क्योंकि परमेश्वर सर्वव्यापी होकर भी देख नहीं पड़ता। परमेश्वर के वास्तव में पहाड़ के समान प्रकट होने का भाव है। मनुष्य की बुद्धि-हीनता व्यंग्य से दर्शाई गई है।

जे सोहात सिवराज को, ते कबित्त रस-मूल ;
जे परमेसुर पै चढ़ैं, तेई आछे फूल ।

(भूषण)

यहाँ व्यंग्य से अर्थ यह निकाला गया है कि कवित्तों के गुणग्राही केवल शिवाजी हैं ।

ऊधौ, तुम जानौ कहा, जानै कहा अहीर ;
जानति नीकी भाँति है बिरहिनि बिरहिनि-पीर ।

(रामसिंह)

प्रयोजन यह है कि श्रीकृष्ण विरही न होने से विरही जनों की पीर नहीं जानते ।

छेकोक्ति में वाच्यार्थ चमत्कारी उपकरण की हीनता—छेकोक्ति में ध्वनि या व्यंग्य-मात्र रहती है, सो लोकोक्ति से पृथक् अलंकारता नहीं है ।

वक्रोक्ति (९२)

वक्रोक्ति—में दूसरे की उक्ति का अर्थ काकु या श्लेष से बदला जाता है ।

स्वर फिराकर अर्थ बदलने को काकु कहते हैं ।

काकु वक्रोक्ति—

मानि लयौं री कामिनी, करम-फल होई है ?

(दूलह)

इसका प्रयोजन यह है कि जब किसी ने कहा कि कर्म-फल होता है, तो वक्ता ने स्वर फेरकर उत्तर दिया—"मानि लयौं री कामिनी, करम-फल होई है ?" क्या मान ही लूँ कि ऐसा होता है ? अर्थात् वास्तव में होता नहीं ।

अरे कुलाधमराज तैं, राम ! राम कहौं क्रोधि ;
सत्य कुलाधमराज हम, बिप्र अस्त्र धरि सोधि ।

(चंदन)

मै राम (परशुराम) क्रोध करके कहता हूँ कि अरे राम ! तू कुलाधमों का राजा है । राम ने उत्तर दिया—''क्या हम सचमुच कुलाधमराज हैं ? हे ब्राह्मण ! सँभालकर अस्त्र उठाओ । राम के उत्तर में स्वर फेरकर कुलाधमराज होने का अर्थ बदला गया है ।

गने जात हौ साँवरे, सब साधुन मैं साधु ;
सोहैं सोहैं खात कस, तुम न कियो अपराधु ।

(पद्माकर)

यहाँ 'तुम न कियो अपराधु' से स्वर-परिवर्तन द्वारा यह अर्थ निकाला गया है कि "क्या तुमने अपराध नहीं किया ?" अर्थात् अवश्य किया ।

नहिं यह जावक सिर लग्यो, नहिं अंजन अधरान ;
ऐसेई हम लाइयत तुम्हैं कलंक सुजान !

(वैरीशाल)

यहाँ जावक, अंजन और ऐसे ही कलंक लगाने के अर्थ स्वर-परिवर्तन द्वारा बदले गए हैं ।

श्लेष वक्रोक्ति—

पौरि पै आपु खरे हरि हैं, बस है न कछू, हरिहैं, तो हरैं वे ;
वै सुनौ कीबे को हैं बिनती, यदि हैं बिन ती, तिय कोई बरैं वे ।
साथ मैं लाए हैं मल्लि लखौ, 'रघुनाथ' लै आए हैं मल्लि लरैं वे ;
छोड़िए मान, वे पा पकरैं, कहै पाप करैं, तौ अवस्य करैं वे ।

(रघुनाथ)

मल्लि = मल्लिका तथा पहलवानिन । बिनती = खुशामद करना ; बिना स्त्री के होना । पा पकरैं = पैर पकड़ते हैं । पाप करैं = पाप करते हैं ।

भिक्षुक गो कित को गिरिजे ! वह माँगन को बलि द्वार गयो री ;
नाच नच्यो कित हो भव-बाम, कलिंद-सुता-तट नीके ठयो री ।
भाजि गयो बृषपाल सु जानति, गोधन संग सदा सु छयो री ;
सागर-सैल-सुतान के आजु यों आपुस मैं परिहास भयो री ।
(वंशीधर)

यहाँ लक्ष्मीजी तथा पार्वतीजी में बातचीत है । लक्ष्मी—हे गिरिजे ! भिक्षुक (शिव) कहाँ गया ? पार्वती—वह भिखारी (वामन) बलि के दरवाज़े पर माँगने गया है । लक्ष्मी—(महादेव) कहाँ (तांडव) नृत्य कर रहे हैं ? पार्वती—यमुनाजी के किनारे (कृष्ण) खूब नाच रहे हैं । लक्ष्मी—बैल (नंदी)-पालक कहाँ भाग गया, यह जानती हो ? पार्वती—(कृष्ण गोपालक) गोधन के साथ सदा रहते हैं ।

मेरे मन तुम बसति हौ, मैं न कियो अपराध ;
तुम्हैं दोष को देत हरि, है यह काम असाध ।
(मतिराम)

मै न = मैंने नहीं । मैन = कामदेव ने ।

वक्रोक्ति शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो प्रकार की— वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है, एक शब्द-वक्रोक्ति, दूसरी अर्थ-वक्रोक्ति । जहाँ शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे, वहाँ शब्द-वक्रोक्ति समझी जायगी, जो कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है । यह बात ऊपर के मतिरामवाले दोहे में है, तथा रघुनाथवाले छंद में भी । वंशीधरवाले छंद में ऐसा न होने से अर्थ-वक्रोक्ति है ।

नोट—हम वक्रोक्ति को अर्थालंकार में मानते हैं । ऐसा मानने की तर्कावली श्लेष अलंकार(नं० २६)वाली ही है ।

स्वभावोक्ति (६३)

स्वभावोक्ति—में जाति आदि में स्थित स्वभाव, क्रिया आदि का प्राकृतिक वर्णन होता है । यथा—

अंग उघरे ते दंत दाबै अँगुरीन री।

(दूलह)

लंक लचाइ, नचाइ दृग, पग उँचाइ, भरि चाइ,
सिर धरि गागरि, मगन मन नागरि नाचति जाइ।

(दुलारेलाल भार्गव)

भूलनिहारी अनोखी नई उनई रहतीं इत ही रँगराती;
मेह मैं ल्यावैं सु तैसिए संग की रंग-भरी चुनरी चुचुवाती।
भूला चढ़े हरि साथ इहा करि 'देव' झुलावति ही ते डराती;
भोर हिंडोर कि डोरनि छाँड़ि खरे ससवाय गरे लपटाती॥
गौने को चालि चली दुलही, गुरु नारिन भूषन भेष बनाए;
सील मयान सबै सिखएरु सबै सुख सासुरेहू के सुनाए।
बोलियो बोल सदा अति कोमल, जे मनभावन के मन भाए;
यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर-से उठि आए॥
सुनिकै धुनि चातिक, मोरन की चहुँ ओरन कोकिल - कूकन सों;
अनुराग-भरे हरि बागन मैं सखि रागत राग अचूकन सों।
कबि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल दूकन सों;
रँगराती, नई, हहराती लता झुकि जाती समीर के फूँकन सों॥

(देव)

स्वभावोक्ति का उपकरण वाच्यार्थ को चमत्कृत नहीं करता—स्वभावोक्ति में भाषा का कोई चमत्कार नहीं है। कहीं असंलक्ष्य क्रम-ध्वनि का और कहीं असंलक्ष्य क्रम परांग व्यंग्य का ही चमत्कार रहता है।

कुछ और उदाहरण दिए जाते हैं।

दान समै दुज देखि मेर हू कुबेर हू की
संपति लुटायबे को हियो ललकत है;

साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।
'भूषन' जहान हिंदुवान के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है;
साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आनि
सरजा के दृगन उछाह छलकत है॥
काहू के कहे-सुने ते जाही ओर ताकैं, ताही
ओर इकटक घरी चारिक चहत हैं;
कहे ते कहत बात, कहे ते पियत-खात,
'भूषन' भनत ऊँची साँसन जहत हैं।
पौढ़े हैं, तौ पौढ़े, बैठे-बैठे, खरे-खरे, हम
को हैं, कहा करत, यों ज्ञान न गहत हैं;
साहि के सपूत सिव साहि तव बैर इमि
साहि सब रातौ-दिन सोचत रहत हैं।

(भूषण)

भाविक (६४)

भाविक—में भूतकाल में हुई या भविष्य में होनेवाली घटनाओं का वर्तमानकालिक क्रियाओं से वर्णन होता है। यथा—

अजौं भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है;
'भूषन' भनत अजौं काटे करबालन के
कारे कुंजरनि परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो
कीन्हो कतलाम दिली-दल को सिपाह है;

नदी रन - मंडल रुहेलन रुधिर अजौं,
अजौं रवि-मंडल रुहेलन की राह है।

सूबन साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी ;
औरँग आपनि दुग्ग जमाति बिलोकत तेरिए फौज दरेरी।
साहितनै सिव साहि भई भनि 'भूषन' यों तुव धाक घनेरी ;
रातहु-दौस दिलीस तकै तव सैन कि सूरति सूरति घेरी।
(भूषण)

निसि-दिन स्रौननि पियूष-सो पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुरग्राम को ;
तरनि-तनूजा-तीर, बन-कुंज-बीथिन मैं,
जहाँ-तहाँ देखियत रूप - छबि - धाम को।
कबि 'मतिराम' होत हातो ना हिये सों नेक
सुख प्रेम गात के परस अभिराम को ;
ऊधो ! तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम को।
(मतिराम)

हातो=जुदा।

सुनि तोसों ऐहैं इहाँ काल्हि जु जमुना-तीर ;
सो अबहीं मेरे दगनि बस्यो आय बलबीर।
(वैरीशाल)

भाविक में वाच्यार्थ का चमत्कार है—इसमें यह संशय नहीं करना चाहिए कि घटना की उग्रता चित्त के आकर्षण आदि के कारण होने से इसको केवल भाव के अंतर्गत क्यों न मानें ? प्रयोजन यह है कि चित्त-वृत्ति के आधार को लेकर यहाँ रचना की गई है। वास्तव में दृश्य सामने नाचने नहीं लगता, वरन् कवि ऐसा कथन-

मात्र करके वाच्य में चमत्कार लाता है। अतः यहाँ भी भाषा की सुंदरता है।

उदात्त (६५)

प्रथम उदात्त—में अत्यंत असंभव लोकोत्तर संपत्ति का वर्णन रहता है। यथा—

एक होत इंद्र, एक सूरज औ' चंद्र, एक
होत हैं कुबेर, कछु बेर देत ना याके;
अकुल कुलीन होत, पामर प्रबीन होत,
दीन होत चक्कवै चलत छत्रछाया के।
संपति-समृद्धि, सिद्धि, निद्धि, बुद्धि-बृद्धि, सब
भुक्ति-मुक्ति पौरि पर परीं प्रभु जाया के;
एक ही कृपा-कटाच्छ कोटि जच्छ, रच्छ, नर
पावैं घर-बार, दरबार 'देव' माया के॥

मोर को मुकुट, कटि पीत पट्ट कस्यो, कैसी
केसावलि ऊपर बदन सरदिंदु के;
सुंदर कपोलन पै कुंडल हलत, सुर
मुरली मधुर मिले हाँसी रस बिंदु के।
माँगतीं सोहागु नाग-सुंदरी सराहि भागु,
जोरें कर सरन चरन अरबिंदु के;
किंकिनी रटनि, तालताननि तननि 'देव'
नाचत गोबिंद फन फननि फनिंदु के॥

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को
चाँदनी-सी राधा छबि चाँदनि बिसालैं;
चंद की कला-सी 'देव' दासी संग फूली फिरैं,
फूल-से दुकूल पैन्हे फूलन की मालैं।

छूटत फुहारे वे, बिमल जल झलकत,
चमकैं चँदोवा मनि-मानिक महालरैं;
बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की मोतिन की झालरैं।

(देव)

पूरन पुरान और पुरुष पुरान परि-
पूरन बतावैं, न बतावैं और उक्ति को;
दरसन देत, जिन्हें दरसन समुझैं न,
नेति-नेति कहैं बेद छाँड़ि भेद-युक्ति को।
जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम-राम
रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को;
रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि, नाम देहि मुक्ति को।

(केशवदास)

पग मग धरत महीधर डिगत, डग-
मगत पुहुमि, चटकत फन सेस के;
उलटि-पलटि खलभलत जलधि-जल,
कंपत अवनि अलकेस के, लँकेस के।
कहै 'घनस्याम' कच्छ-मच्छ को कहल होत,
हहल-हहल होत महल सुरेस के;
गढ़न दलत, मृगराजन मलत, मद
झरत चलत गज बाँधव नरेस के।

(घनश्याम)

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा-
मंडल सँवारो चंद-मंडल के चोटहीं;

भीतरहू लालन की लालन बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन के जोटहीं।
बरनति बानी, चौंर ढारति भवानी, कर
जोरे रमा रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं;
'देव' दिगपालन की देवी सुखदायनि, ते
राधा ठकुरायनि के पायनि प लोटहीं।
(देव)

द्वितीय उदात्त—किसी ऋद्धिमान् के योग से प्रशंसा दूसरे उदात्त में होती है।

ऋद्धियाँ आठ होती हैं, अर्थात् योग्य, सिद्धि, लक्ष्मी, प्राणदा, मंगल्या, चेतनीया, समृद्ध और संपन्न। यहाँ ऋद्धिमान् से केवल महापुरुषपन का प्रयोजन है। यथा—

जे पुर - गाँव बसहिं मग माहीं,
तिनहिं नाग - सुर - नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाए;
धन्य पुन्यमय परम सोहाए।
जहँ - जहँ राम - चरन चलि जाहीं,
तहँ समान अमरावति नाहीं।
परसिं राम - पद - पदुम - परागा—
मानति भूरि भूमि निज भागा।
(गो० तुलसीदास)

मानुस हौं, तौ वही 'रसखानि' बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पसु हौं, तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद कि धेनु-मँझारन।
पाहन हौं, तौ वही गिरि को, जो भयो ब्रज-छत्र पुरंदर कारन;
जो खग हौं, तौ बसेरो करौं उन कालिंदी-कूल कदंब कि डारन।
(रसखानि)

द्वारन मतंग दीसैं, आँगन तुरंग हीसैं,
बंदीजन बारन असीसैं जस्ररत हैं;
'भूषन' भनत जरबाफ के सम्याने ताने,
झालरनि मोतिन के झुंड झलरत हैं।
महाराज सिवा के नेवाजे कबिराज ऐसे
साजिकै समाज जेहि ठौर बिहरत हैं;
लाल करैं प्रात, तहाँ नीलमनि करैं रात,
याही बिधि सरजा की चरचा करत हैं।
(भूषण)

हौं हीं ब्रज बृंदाबन, मोही मैं बसत सदा
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसीबट तट नटनागर नचत मो मैं
रास के बिलास की, मधुर धुनि बीन की;
भरि रही भनक बनक ताल-तानन की,
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की।
(देव)

यहाँ स्वयं वृंदावन वक्ता है। सब वस्तुओं की महत्ता केवल भगवान् के संसर्ग से है।

अत्युक्ति (६६)

अत्युक्ति—में शूरता, उदारतादि का अत्यंत अद्भुत वर्णन होता है। यथा—

साहितनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं;

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय,
ऐसी मति कहौ, धौं उदार कौन की भई ;
देवता प्रसिद्ध सिद्ध, ऋषिराज तप-बृद्ध
कहि - कहि हारे अरु कहि न केहूँ लई ।
भावी, भूत, बर्तमान जगत बखानत है,
'केसौदास' केहू न बखानी काहू पै गई ;
कहै पति चारि मुख, पूत कहै पाँच मुख,
नाती कहै षट मुख तदपि नई - नई ।

(केशवदास)

सरस्वती के पति ब्रह्मा चतुर्मुख हैं, पुत्र महादेव पंचमुख और पौत्र षडानन षटमुख ।

आजु यहि समै महराज सिवराज तुही
जगदेव, जनक, जजाति, अंबरीक - सो ;
'भूषन' भनत तेरे दान - जल - जलधि मैं
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक - सो ।
चंद-कर, किंजलक, चाँदनी, पराग, उड़-
बृंद, मकरंद, बुंद - पुंज के सरीक - सो ;
कुंद - सम कयलास नाक गंग नाल, तव
जस - पुंडरीक को अकास चंचरीक - सो ।

(भूषण)

ज्यों बिनही गुन-अंक लिखै घुन, यों करिकै करता कर झारयो ;
वारिए कोटि सची, रतिरानी, इतो खतरानी को रूप निहारयो ।
'देव' सुबानक देखि अचानक आनकहून को आनक मारयो ;
लाज सचै तिय आन रचै, तौ पचै बिनु काज बिरंचि बिचारयो ।

(देव)

आनकहून को...मारयो=ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना छोड़ दी, जिससे आगे आनेवालों (रचे जानेवालों) का आना (रचा जाना) बंद हो गया। लाज सचै = स्वकार्य की लाज रखने को।

अत्युक्ति तथा उदात्त में 'अत्यंत' विशेषण देने का कारण—कुवलयानंद का इसके विषय में निम्नानुसार कथन है—सम्पदत्युक्तावुदात्तालङ्कारः। शौर्यात्युक्तावत्युक्त्यलङ्कार इति भेदमाहुः (संपत्ति के कथन में उदात्तालंकार है, तथा शौर्य के कथन में अत्युक्ति)। सदसदुक्तितारतम्ये नातिशयात्युक्त्योर्भेदः (सदुक्ति में अतिशयोक्ति तथा असदुक्ति में अत्युक्ति का भेद है)।

अतिशयोक्ति (नं० १३) में लोक-सीमोल्लंघन रहता है, तथा उदात्त और अत्युक्ति में अद्भुत कथन। लोक-सीमोल्लंघन में अद्भुतपन आ ही जायगा, अथच अद्भुत कथन लोक-सीमोल्लंघन करेगा ही। अतः इन दोनो का भेद साधारण उदाहरणों में बतलाना सुगम नहीं है। इसीलिये कुवलयानंद ने लिखा है कि सदुक्ति में अतिशयोक्ति तथा असदुक्ति (असत्य) में अत्युक्ति है। फिर भी उदाहरणों के देखने से स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति में भी असत्य कथन रहता है। स्वयं उन्हीं के उदाहरण में यही बात प्रस्तुत है। इसका उदाहरण वह इस प्रकार देते हैं—

यह बिधि बढ़िहै तोर स्तन बिधि बिचार यह हीन ;
जलपत है नवमृग - दगी अलप अकासहि कीन।

(मुरारिदान)

हे सखी ! तेरे दोनो उरोज नित्यप्रति खूब बढ़ रहे हैं, अब वे तेरे भुजों में नहीं समाते।

यह कथन अतथ्य-गर्भित है ही। अत्युक्तिवाला उनका उदाहरण यह है—

"हे सखी ! तेरे उरोजों का नित्य ऐसा विकास होता है कि ब्रह्मा

ने आकाश छोटा बनाने में यह विचार न किया (कि वे आकाश में समावेंगे ही नहीं)।"

इन दोनो उदाहरणों में अत्युक्ति की मात्रा-भर का भेद है। सदुक्ति इनमें से किसी में भी नहीं है। सदुक्ति और असदुक्ति का उपर्युक्त कथन कुवलयानंद में इन्हीं उदाहरणों के नीचे है। इससे ज्ञान पड़ता है कि अप्पय्य दीक्षित का विचार इन दोनो अलंकारों में असदुक्ति की विशेष घट-बढ़ मात्राओं का था। इसीलिये उदात्त और अत्युक्ति के लक्षणों में हमने ऊपर "अत्यंत" शब्द कहा है।

फिर भी उदाहरणों पर विचार करने से यह भेद भी दृढ़ नहीं रहता। "बिंध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है" वाला उदाहरण दूलह ने अतिशयोक्ति में दिया है। फिर भी यह कथन पूर्ण असदुक्ति में आता है। ऐसी ही दशा बहुतेरे अन्य उदाहरणों की है।

अतिशयोक्ति, अत्युक्ति तथा उदात्त का अपार्थक्य

असदुक्ति की केवल घट-बढ़ मात्राओं के आधार पर दो अलंकारों का पृथक् विवरण न केवल अनावश्यक, वरन् भ्रामक भी समझ पड़ेगा, क्योंकि विविध विचारों से वही मात्रा थोड़ी या बहुत समझी जा सकती है। उधर उदात्त और अत्युक्ति के विचार प्रायः एक ही हैं। एक में संपत्ति और ऋद्धि के कथन हैं तथा दूसरे में शूरता, उदारतादि के। हैं दोनो एकसाँ। कुछ गुणों को लेकर एक अलंकार कहना तथा वैसे ही इतरों के लिये दूसरा (अलंकार) मानना अनावश्यक है। इसलिये, हमारी समझ में, अतिशयोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति, इन तीनो को एक ही अलंकार मानना ठीक होगा।

निरुक्ति (९७)

निरुक्ति—में किसी नाम के संसर्ग से दूसरा अर्थ कहा जाता है। यथा—

भए साँचे जू गोपाल, रच्यो राधा सों वियोग है ।

(दूलह)

यदि आप राधा से वियोग रच सकते हैं, तो सच्चे गोपाल (इंद्रियों के स्वामी अर्थात् इंद्रियजित) हैं ।

दिल दरियाव क्यों न कहैं कबिराव तोहिं ,
तोमैं ठहरात आनि पानिप जहान को ।

(भूषण)

ह्वै कै डहडहे दिन समता के पाए बिन
साँझ सरसिजन सरमि सिर नायो है ;
निसा भरि निसापति करिकै उपाय बिन
पाए रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है ।
कहै 'मतिराम' तेरे बदन बराबरि को
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है ;
दरप न रह्यो ताते दरपन कहियत,
मुकुर परत, ताते मुकुर कहायो है ।

(मतिराम)

मुकुर परत=मुकुर (बात से फिर) जाता है ।

बिरह तई लखि निरदई मारत नाहिं सकात ;
मार नाम बिधनै कियो यहै जानि जिय बात ।

(वैरीशाल)

निरुक्ति में स्वतंत्र अलंकारता नहीं—उद्योतकार का मत है कि निरुक्ति को श्लेष (नं० २६) के अंतर्गत मानना चाहिए । इस कथन में बहुत कुछ तथ्यांश है । फिर भी चंद्रालोक ने इसे स्वतंत्र अलंकार माना है ।

प्रतिषेध (६८)

प्रतिषेध—में प्रसिद्ध निषेध के होते कारण-वश पुनः निषेध होता है। यथा—

दारा की न दौर यह, रारि नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधौं मीर सहवाल को ;
मठ बिस्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को।
गाढ़े गढ़ लीन्हे और बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है साल को ;
बूड़त है दिल्ली, सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को।

(भूषण)

अंगद कहि दसवदन सों यह न चोरिबो नारि ;
खर बानन सों राम सँग प्रान-हरन है रारि।

(पद्माकर)

न हौं जंबुमाली, खरै जाहि मारो ;
न हौं दूषणै, सिंधु सूधो निहारो।
सदा जंग मैं देवता दाप दर्नैं ;
महाकाल को काल हौं कुंभकर्नैं।

(केशवदास)

प्रतिषेध पृथक् अलंकार नहीं—उद्योतकार का विचार है कि प्रतिषेध ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य है न कि अलंकार। साहित्य-दर्पण-कार ने इसे लिखा नहीं है, किंतु चंद्रालोक और कुवलयानंद में इसका मान है। इसमें व्यतिरेक अलंकार (नं० २०) कहा जा सकता है। यह बात उपर्युक्त तीनो उदाहरणों में आ जाती है।

विधि (९९)

विधि—में सिद्ध वस्तु में कुछ विशेषता दिखलाने को फिर से सिद्ध किया जाता है। यथा—

रासमंडली में गोपिकेस गोपिकेस हैं।

(दूलह)

यों मन औ' वच, काय मनायकै गाय रह्यो सगरात्मज गोत है ;
उज्जल जोति जगै जस तेरे कि या जग मैं जन को सुधा-सोत है।
तीनिहू बेद औ' तीनिहू देव कहैं तिहुकाल कि लोक उदोत है ;
तारिबे के समै जो 'लेखराज' के जह्नु जा तारनी तारनी होत है।

(लेखराज)

सरस भरे रस लसत हैं, घूमत घिरत अकास ;
तब ये घन घन हैं, जबै बरसैं पीतम पास।

(ऋषिनाथ)

घन तो घन हैं ही, किंतु वियोगावस्था से छूटने की इच्छा से नायिका कहती है कि जब (परदेस में) प्रियतम के पास बरसें (जिससे वह घर वापस आवे), तब ये सच्चे मेघ हैं।

विधि में अलंकारता नहीं—उद्योतकार का कथन है कि इसमें कहीं ध्वनि और कहीं गुणीभूत व्यंग्य-मात्र होता है न कि अलंकार।

हेतु (१००)

प्रथम हेतु—में कार्य का कारण के साथ ही कथन होता है। यथा—

और सकै कहि को 'मतिराम' सतासुत के बरनैं गुन बानी ;
राव सही दरियाव जहान को आय जहाँ ठहरात है पानी।

काम-तरोवर धेनु औ' पारस नेकु न मंगन कें मन मानी ;
दारिद-दैत बिदारिबे को भई भाऊ दिवान कि रीझि भवानी ।
(मतिराम)

दरिद्र-दैत्य के नाशने को प्रसन्नता ही भवानी हुई है । यहाँ कारण (रीझ) तथा कार्य (दरिद्र-नाशन) के कथन साथ ही हैं ।

नोट—परिकर से इसका भेद परिकर (नं० २४) में देखिए ।

द्वितीय हेतु—में कारण-कार्य का अभेद कथन होता है । यथा—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख, हजार ;
मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार ।
(बिहारी)

यदुपति वास्तव में संपत्ति नहीं, वरन् उसके दाता हैं, किंतु यहाँ संपत्ति ही कहे गए हैं, जिससे अलंकार आता है ।

नैननि की आनंद है, जी की जीवन जानि ;
प्रगट दर्प कंदर्प की तेरी मृदु मुसुकानि ।
(मतिराम)

चंदनादि उपचार जे, ते सब सुख की हानि ;
सखि, लखिबो ब्रजराज को मेरो जीवन जानि ।
(वैरीशाल)

कान्ह ही की कृपा धन, धरम-निवेस हैं ।
(दूलह)

कहा यह गया है कि द्रव्य और कर्तव्य में स्थिति ही कान्ह की कृपा है ।

हेतु की पृथक् अलंकारता—विश्वनाथ, दंडी, रुद्रट और कुवलयानंदकार ने हेतु अलंकार लिखा है, किंतु मम्मट ने नहीं ।

उद्योतकार इसे अतिशयोक्ति (नं० १२) में मानते हैं। किंतु उसमें उपमान-उपमेय-भाव का नियम है, और हेतु में हेतु और कार्य का "कनक-लता पर चंद्रमा धरे धनुष द्वै बान" में उपमान-मात्र है। हेतु में कारण और कार्य, दोनो रहते तथा उनका अभेद वर्णन होता है। रूपक में भी उपमान-उपमेय का अभेद कथन रहता है। कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

आजु महादीनन को सूखिगो दया को सिंधु ,
आजु ही गरीबन को सब गथ लूटिगो ;
आजु दुजराजन को परम अकाज भयो ,
आजु महाराजन को धीरजहु छूटिगो।
'मल्ल' कहै आजु सब मंगन अनाथ भए ,
आजु ही अनाथन को करम-सो फूटिगो ;
भूप भगवंत सुरलोक को पयान कियो ,
आजु कबिजन को कलपतरु टूटिगो।
(मल्ल)

उठि गयो आलम सों हुकुक सिपाहिन को ,
उठिगो बँधैया सबै बीरता के बाने को ;
'भूषन' भनत उठि गयो है धरा सों धर्म ,
उठिगो सिंगार सबै राजा राव राने को।
उठिगो सुसील कबि, उठिगो जसीलो डील ,
फैलो मध्य देस मैं समूह तुरकाने को ;
फूटे भाल भिच्छुक के, जूझे भगवंतराय ,
अरराय टूटो कुल-खंभ हिंदुवाने को।
(भूषण)

टका करै कुलहूल, टका मिरदंग बजावै ;
टका चढ़ै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै।

टका माय अरु बाप, टका भाइन कौ भैया ;
टका सासु अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया ।
अब एक टके बिन टकटका होत रहत नित राति-दिन ;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, धिक जीवन यक टके बिन ।
(बैताल बंदीजन)

यहाँ तीसरे और चौथे पदों में अलंकार है ।

रसवदादि अलंकार

रति आदि के कारण, कार्य और सहकारी जो संसार में होते हैं, वे काव्य और नाटक में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं।

स्थायी भाव इन सबसे व्यक्त (व्यंजित) होता है।

रस—जब विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा व्यक्त होकर स्थायी भाव काव्य या नाट्य द्वारा सहृदयों के चित्त में अलौकिक आनंद देता है, तब वह रस कहलाता है।

विभाव के आलंबन और उद्दीपन-नामक दो भेद हैं।

आलंबन—जिनका सहारा लेकर रस व्यक्त होता है, वे आलंबन कहलाते हैं; जैसे शृंगार के नायक-नायिका, रौद्र के योद्धादि।

उद्दीपन—जो भाव स्थायी को उद्दीप्त (तेज़) करें, वे उद्दीपन हैं; जैसे शृंगार में वन, उपवन, त्रिविध समीरादि।

अनुभाव—वे कार्य हैं, जिनसे यह जाना जाय कि अमुक व्यक्ति में अमुक भाव की स्थिति है। इसके चार भेद हैं, अर्थात् सात्त्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य (बनावटी)। इनमें सात्त्विक की मुख्यता है।

नोट—कहीं-कहीं ये ही अनुभाव अन्य व्यक्ति के लिये उद्दीपक हो जाते हैं, जैसे किसी में युद्धाकांक्षा देखकर दूसरा भी सन्नद्ध हो जाय।

सात्त्विक—आठ माने गए हैं, अर्थात् स्तंभ (शरीर का जकड़ना), स्वरभंग (आवाज़ का बदलना), कंप, स्वेद (पसीना), अश्रु (आँसू), रोमांच (रोएँ खड़े हो जाना), वैवर्ण्य (शरीर का रंग बदल जाना) और प्रलय (श्वास रुकना, बेहोशी आदि)।

स्तंभ और प्रलय का भेद—स्तंभ में ज्ञान रहता है, किंतु प्रलय में नहीं, यही भेद है।

नोट—कोई-कोई जृंभा (जमुहाई) को नवाँ सात्त्विक मानते हैं। इन्हीं (सात्त्विक भावों) को तनसंचारी भी कहते हैं।

संचारी (व्यभिचारी या सहकारी)—ये स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। ये उसे रस संज्ञा तक पहुँचाने में सहायता देकर विलीन हो जाते हैं। इनकी संख्या ३३ है—

अर्थात् (१) **निर्वेद** (तत्त्वज्ञान-भव शांत-रस का स्थायी जब अन्य कारणों से उत्पन्न हुआ हो, तब वह संचारी है। निर्वेद का अर्थ वैराग्य है), (२) **ग्लानि** (व्याधि या मानसिक ताप से बल की हानि), (३) **शंका** (मनचाही वस्तु की हानि का डर), (४) **असूया** (डाह, निंदा करना), (५) **मद** (मोह और आनंद का साथ होना), (६) **श्रम** (थकना), (७) **आलस्य** (कार्य में अरुचि। इसमें कार्य करने की क्षमता होती है, किंतु ग्लानि में नहीं, यह भेद है।), (८) **दैन्य** (मन का मलिन रहना), (९) **चिंता** (प्रिय वस्तु के अनिष्ट या अप्राप्ति का ध्यान), (१०) **मोह** (परेशानी), (११) **स्मृति** (याद आना), (१२) **धृति** (धीरज धरना), (१३) **व्रीड़ा** (संकोच या लज्जा), (१४) **आवेग** (घबराहट, संभ्रम), (१५) **चापल्य** (उतावली), (१६) **जड़ता** (विवेक-शून्यता। इसमें गति का अभाव कहा जाता है।), (१७) **हर्ष** (प्रसन्नता), (१८) **गर्व** (अभिमान), (१९) **विषाद** (उत्साह भंग होना), (२०) **सुप्त** (सोना, नींद), (२१) **अमर्ष** (क्रोध ; यह रौद्र-रस का स्थायी भाव भी है। रौद्र में विनाश होता है, किंतु इसमें केवल विमुखता आदि।), (२२) **औत्सुक्य** (विलंब का न सह सकना), (२३) **अपस्मार** (मिर्गी ; इसमें मूर्च्छा, भ्रम, विकलता आदि का कथन होता है।), (२४) **विबोध** (निद्रा या अविद्या का नाश), (२५) **उग्रता**

(अपमानादि से उत्पन्न निर्दयता। अमर्ष में निर्दयता नहीं, यही भेद है।), (२६) मरण (मौत), (२७) मति (निश्चित ज्ञान), (२८) व्याधि (रोग या वियोग से मन का ताप), (२९) अवहित्था (हर्ष आदि अनुभावों को लज्जा आदि के कारण छिपाना), (३०) उन्माद (पागलपन, किसी वस्तु को दूसरी समझना), (३१) त्रास (अकस्मात् आया हुआ डर। इससे अन्यथा भय भयानक रस का स्थायी भाव है।), (३२) वितर्क (विचार करना) और (३३) विषाद (पछतावा)।

स्थायी भाव—हर मनुष्य में पाए जानेवाले भाव, उत्कट होने पर स्थायी कहलाते हैं। ये नव हैं, अर्थात् रति (प्रेम, शृंगार का), हास (हास्य का), शोक (करुण का), क्रोध (रौद्र का), उत्साह (वीर का), भय (भयानक का), जुगुप्सा (घृणा, बीभत्स का), विस्मय (आश्चर्य, अद्भुत का) और निर्वेद (वैराग्य, शांति का)।

नोट—इन नव स्थायी भावों में प्रत्येक अपने अपने विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से पोषित होकर काव्य या नाटक के पाठक या श्रोता को आनंद देता है, तब उनके सामने लिखित कोष्ठक नामवाला रस कहलाता है।

जुगुप्सा घिन को कहते हैं। शृंगार-रस में प्रेम को रति कहते हैं। आश्चर्य विस्मय है। निर्वेद विरक्ति है। इन नव स्थायी भावों से पृथक् कोई स्थायी भाव इसलिये नहीं हो सकता कि वे हर मनुष्य में नहीं रहते, किंतु ये नवों हरएक में समय-समय पर रहते हैं।

गुरु, राजा, देश, प्रकृति, पुत्रादि में रति सबमें न होकर किसी-किसी में होती है। स्थायी उन्हीं को माना गया है, जो सबमें हों। छोटे बच्चों के प्रेम का भाव स्त्रियों में सहज क्रिया द्वारा होता है, किंतु सब पुरुषों में नहीं।

ऊपर जो वर्णन किए गए हैं, लक्षण न माने

के लिये थोड़े में ज्ञान कराने का प्रयत्न समझना चाहिए। रसवदादि का समझना विना रस और भाव-संबंधी ज्ञान के हो नहीं सकता। अतएव इस अलंकारवाले वर्णन में भी रस और भाव के संबंध में इतना कुछ सूक्ष्म-रीत्या लिखा गया है।

रसवदादि अलंकार—जब किसी दूसरे रस या भाव के (अन्य) रस-भावादि अंग हो जाते हैं, तब वे रसवदादि अलंकार कहलाते हैं। इसके भेद नीचे दिए जाते हैं।

रसवत् (१०१)

रसवत्—में रस किसी दूसरे रस या भाव का अंग हो जाता है। यथा—

> जैति-जैति योगेंद्र मुनि कुंभज महाअनूप ;
> देखे जाके चुलुक मैं कच्छप-मत्स्य - सरूप।
>
> (गुलाब)

यहाँ चुल्लू में समुद्र के आ जाने से अद्भुत-रस है। जब समुद्र ही चुल्लू में आ गया, तब मत्स्यादि भी आए, परंतु वक्ता में यहाँ मुनि-विषयक रति-भाव है। अतः यह अद्भुत-रस मुनि-विषयक रति - भाव का अंग है। इसी से रसवत् अलंकार हुआ।

नोट—रस नव प्रकार का होता है, अतः रसवत् में भी नव प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं। शृंगार जब किसी रस या भाव का अंग हो, तब रसवत् है ; इसी प्रकार अन्य आठों रस भी जब किसी के रस या भाव के अंग हों, तब भी रसवत् ही है।

> गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि
> बीजापुर रोप्यो दलमलि सुघराई मैं ;
> 'कालिदास' कोप्यो बीर औलिया अलमगीर,
> तीर - तरवारि गही पुहुमी पराई मैं।

बुंद ते निकसि महि - मंडल वमंड मची
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई मैं ;
गाढ़ि बेस झंडा आइ कीन्ही पातसाहि, ताते
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई मैं ।

(कालिदास)

बुंद......मची=रक्त की एक बूँद भी बुरी है। यहाँ तो बूँद के आगे निकलकर उस रक्त की लहर का अहंकार पृथ्वी-मंडल में मच गया, अर्थात् वह भूमंडल में पूरित हो गई। इस छंद में रौद्र-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

प्रबल पठान तू दलेलखान बलवान
दच्छिन ते दलहि दबायो मनौ हाँसी तैं ;
बाँकुरो बहादुर बलीन बीच बरछी लै
बापहि बचायो है बिलायत बिलासी तैं ।
कहै 'घनस्याम' जूझ कीन्हो मेघनाद, जैसे
गरुड़ गोविंदहिं छोड़ायो नागफाँसी तैं ;
कुमेदान कंपनी कुम्हेड़ा ककरी - से काटि
काढ़ि लायो काकहि कृपान करि कासी तैं ।

(घनश्याम)

यहाँ वीर-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग हुआ है।

बाँका बिरझाना सुनि साह के सनाका भयो,
थाका दुरिदच्छ सब भूप हिय हारे हैं ;
लेत कर कत्ता करकत्ता लौं कहर मची,
थहर - थहर काँपे बूढ़े अरु बारे हैं ।
साहब वजीरअली औलिया अडोल बोल,
तेरो जस छाए कहो कौने निरवारे हैं ;

जंगी तू नवाब अरधंगी के महर बीच
नंगी समसेर लै फिरंगी फारि डारे हैं।

(कस्यचित्कवेः)

यहाँ रौद्र-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग है। नीचे के दोनो छंदों में वीर-रस ऐसे ही भाव का अंग है।

डहडहे डंकन को सबद निसंक होत,
बहबही सत्रुन की सेना आनि सरकी;
हाथिन को झुंड, मारू राग को उमंड, उतै
चंपति को नंद चढ़ो उमहि समर की।
कहै 'हरिकेस' काली ताली दै नचति, ज्यों-ज्यों
लाली परसनि छत्रसाल-मुख बर की;
फरकि-फरकि उठैं बाहु अस्त्र बाहिबे को,
करकि-करकि उठैं कड़ी बखतर की॥

दौरे काल-किंकर कराल करतारी देत,
दौरीं काली किलकत छुधा के तरंग तैं;
कहै 'हरिकेस' दाँत पीसत खबीस दौरे,
दौरे मंडलीक गीध, गीदड़ उमंग तैं।
चंपति के नंद छत्रसाल आजु कौन पर
फरकाई भुज औ' चढ़ाई भुव भंग तैं;
भंग डारि मुख तैं, भुजान तैं भुजंग डारि,
दौरयो हर कूदि डारि गौरी अरधंग तैं।

(हरिकेश)

आलम नेवाज सिरताज पातसाहन के,
गाज ते दराज कोप-नजरि तिहारी है;
जाके डर डिगत अडोल गढ़धारी, डग-
मगत पहार औ' डुलत महि सारी है।

रंक - जैसो रहत ससंकित सुरेस, भयो
देस, देसपति मैं अतंक अति भारी है;
भारी गढ़धारी सदा जंग की तयारी, धाक
मानै ना तिहारी या हमीर हठधारी है।

(चंद्रशेखर वाजपेयी)

ऊपर के छंद में भयानक-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

भाव—(१) जब श्रृंगार का स्थायी भाव रति नायक-नायिका छोड़कर किसी अन्य का अवलंबन लेकर उत्पन्न हो, जैसे देवता, गुरु, मुनि, पुत्रादि का। (२) जब रति आदि नवों स्थायी भाव उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से भली भाँति पोषित न हो पावें, और (३) जब व्यभिचारी भाव उद्दीपन, अनुभाव आदि से रति की भाँति पुष्ट किए जायँ, तब उनकी संज्ञा भाव होती है, रस नहीं।

प्रेयस् या प्रेय (१०२)

प्रेयस् या प्रेय—में भाव किसी दूसरे भाव या रस का अंग होता है। बहुत प्रिय होने से यह प्रेय कहलाता है। यथा—

कहत सदा जेहि मुख बचन मधुर सुधा के ऐन;
वह सखि, मुख कब देखिहौं हृदय हरषि भरि नैन।

(प्रतापसाहि)

यहाँ चिंता-भाव मुख्य है, जो श्रृंगार-रस का अंग है।

कब बसि मधि बारानसी धरि कोपीनहि चीर;
हे हरि सिवसंकर जपत फिरिहौं गंग तीर।

(गुलाब)

यहाँ भी चिंता संचारी की मुख्यता है, जो शांत-रस का अंग है।

पीत बसन, मुरली अधर, उर धारे बनमाल ;
कब धौं मधुप निहारिहौं नलिन - नयन नँदलाल।
(वेनीशाल)

यहाँ व्यभिचारी भाव चिंता, शृंगार का अंग है।

थोथि थलकत, झलकत बाल बिधु भाल,
सिंदुर लसत, मानो बानो बीर बेस को ;
मद - जल झरत, लसत अलि - बृंद, सुंड
कुंडली करत मन हरत महेस को।
'भीषम' भनत ऐसो ध्यान जो धरत नर,
लेस ना रहत उर कुमति कलेस को ;
मौंकरे सहायक, सकल सिधिदायक,
समत्थ सुभ सत्य पग पूजिए गनेस को।
(भीष्म)

यहाँ वात्सल्य-भाव देव-विषयक रति-भाव का अंग है।

वा निरमोहिनि, रूप कि रासि न ऊपर के मन आनति ह्वै है ;
बारहि-बार बिलोकि घरी - घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै।
'ठाकुर' या मन की परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है ;
आवत है नित मेरे लिये, इतनो तो बिसेस हू जानति ह्वै है।
(ठाकुर)

यहाँ धृति-भाव नायिका-विषयक रति होने से शृंगार का अंग है।

जगि - जगि, बुझि - बुझि जगत मैं जुगुनू की गति होति ;
कब अंतर परकास सों जगिहै जीवन - जोति।
(दुलारेलाल भार्गव)

यहाँ उत्कठा-भाव देव-विषयक रति-भाव का अंग है।

दिन मुख-छवि में हैं उलझे, रातें उलझीं अलकों में ;
कर गए न-जाने क्या वे, पल-भर बसकर पलकों में।
('उमेश')

ऊपर स्मृति संचारी नायक-विषयक रति-भाव का अंग है।

स्वारथ के हेत गुरु पाप कबहूँ न कियो,
आपने चलत हितै प्रजागन के किए;
स्वामि-लोन-लाज लगि दोषन के गोपन की
जुगुति मैं धारमिक धुक-धुक भो हिये।
प्रीति - भाव छोड़े बिन झगड़ेहू करि - करि
कटु उपदेस लौं नरेस को नितै दिए;
यामैं पायो पाप, कै कमायो है बिसाल पुन्य,
तौन परमेसुर पै छोड़ि सुख सों जिए।
(मिश्रबंधु)

यहाँ वितर्क निर्वेद का अंग होने से प्रेय है।

चंद धरन कहँ जो बालक-सम रिपुगन बाँह बढ़ाए;
मोछ मिरोरन हेत सिंह की जो मूरख बनि धाए।
भारत को इन चंड पराक्रम निदरि जु पै बिसरायो;
जननी-जनम-भूमि के उर पै जो इन पाँव जमायो।
तौ एकहि करि झपट सिंह-सम इनको करौ सँहारा;
जननी-जनम-भूमि अन्हवायो रिपु-सोनित की धारा।
(मिश्रबंधु)

यहाँ स्मृति संचारी देश-विषयक रति-भाव का अंग है।

परदेसन मैं लड़ि नित बीरन सूरपनो दरसायो;
सदा निबाही आनि तेग की, रिपु को मुहुँ मुरझायो।
ऐसी हिम्मति नहीं आजु लौं काहुहि चित मैं धारी;
महाराष्ट्र पर चढ़ि धैबे की करतो सफल तयारी।
ताते हे सामंत सपूतौ! बरबल आजु सम्हारौ;
रजपूती की बानि राखिकै बैरि-गरब रन गारौ।
(मिश्रबंधु)

यहाँ भी स्मृति संचारी देश विषयक रति-भाव का अंग है।

ऊर्जस्वि (१०३)

ऊर्जस्वि—में रसाभास या भावाभास किसी दूसरे रस या भाव का अंग होता है। इसके दो भेद होते हैं—एक रसाभास-संबंधी, दूसरा भावाभास-संबंधी।

प्रथम (ऊर्जस्वि) रसाभास—में शृंगारादि के रति आदि स्थायी भाव अनौचित्य से प्रवृत्त होते हैं।

नोट—अनुचित-उचित का भेद देश-व्यवहार से तथा धर्म से जानना चाहिए।

शृंगाराभास—रति जब अनेक नायिकाओं में हो, या नायिका और नायक में से एक ही में हो, दोनो में नहीं, तब शृंगार का रसाभास माना जाता है। और भी ऐसी ही अनौचित्य-गर्भित बातें हो सकती हैं।

करुण-रसाभास—विरक्त पुरुष में वर्णित शोक में करुण रसाभास है।

शांत-रसाभास—नीच में वर्णित निर्वेद शांत-रस का रसाभास है।

रौद्र और रसाभास—निंद्य व्यक्ति, कायर, गुरुजनों आदि पर क्रोध या उत्साह क्रमशः रौद्र या वीर के रसाभास हैं।

अद्भुत-रसाभास—बाजीगर आदि के कृत्यों से उत्पन्न विस्मय में अद्भुत रसाभास है।

हास्य-रसाभास—गुरुजनों, विद्वानों आदि को लेकर हास्य का भाव लाना हास्य-रसाभास है।

भयानक-रसाभास—वीरों का भयातुर होना भयानक रसाभास समझना चाहिए।

बीभत्स-रसाभास—धार्मिक कृत्य, यज्ञादि में बलि दिए जाने-

वालों को देखकर उस धर्म के माननेवालों में जुगुप्सा से बीभत्स रसाभास कहा जाता है।

नोट—रसाभास में इस प्रकार शृंगाराभासादि नव प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं।

नोट—रसाभास का अर्थ है रस का दूषित होना। इसी भाँति भावाभास भाव का दूषित होना है। यथा—

भर्यो कोप सों हिय लखत पीक लीक पल माहिं;
लालहिं लागतहू गरे लगत काम-सर नाहिं।
(बैरीशाल)

यहाँ नायक में प्रेम है, किंतु नायिका में नहीं। इससे रसाभास है। नायक दो नायिकाओं का प्रेमी है, इससे भी रसाभास है।

पल=पलकों में। दोहे में अमर्ष की मुख्यता है, और शृंगार-रसाभास उस भाव का अंग है।

रामसिंह कर खड्ग लखि अरिगन अधिक अधीर;
सजल सार साजल नदी सूर-बीर दृग-नीर।
(कुलपति मिश्र)

यहाँ शूर-वीरों के डरकर रोने से वीर-रसाभास है। मुख्यता राजा-विषयक रति-भाव की है, क्योंकि उन्हीं की प्रशंसा अभीष्ट है। अतएव वीर-रसाभास राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

द्वितीय (ऊर्जस्वि) भावाभास—भाव का दूषित होना भावाभास कहा जाता है। यथा—

ऊधो, तहाँई चलौ लै हमैं, जहँ कूबरी-कान्ह बसैं यकठौरी;
देखिए 'दास' अघाय-अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, बढ़ाइए कान्ह सों प्रेम कि डोरी;
कूबर-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन, बंदन रोरी।
(दास)

यहाँ सौति का सुख देखने की उत्कंठा, उससे मंत्र लेने की चिंता तथा कूबरी में रतिभाव, ये सब भावाभास हैं, क्योंकि सभी बातें अनुचित अथच अस्वाभाविक हैं। मुख्यता बीभत्स-रस की है, क्योंकि नायक से घृणा का भाव प्रधान है। अतएव भावाभास बीभत्स - रस का अंग है।

ताकी ममता देन को करौं कहाँ लगि दौर ;
होत सौति - दृग जासु लखि बदन - मयंक चकोर।
(वैरीशाल)

अन्वय --जासु बदन-मयंक लखि सौति-दृग चकोर होत।

सपत्नी नायिका से प्रसन्न है। यहाँ नायिका का प्रेम सौतों में होने से भावाभास है, जो शृंगार-रस का अंग है। नायिका नायक को इतना चाहती है कि सौतों में भी उसका प्रेम है।

धातु, सिला, दार निरधार प्रतिमा को सार
सो न करतार, है बिचार बैठि गेह रे ;
राखु दीठि अंतर, कछू न सून अंतर है,
जीभ को निरंतर जपाउ तू हरे - हरे।
मंजन विमल 'सेनापति' मनरंजन तू
जानिकै निरंजन अमर-पद लेह रे ;
करु न सँदेह रे, कहे मैं चित देह रे,
कही है बीच देह रे, कहा है बीच देहरे।
(सेनापति)

दार = दारु ; काठ। सून = प्रसून ; फूल चढ़ाने में कुछ नहीं है। मज्जन करके, मनरंजन ईश्वर को विमल जानकर देह में ही ईश्वरत्व कहा है, मंदिर में कुछ नहीं है। हिंदू-धर्म मानकर भी मंदिर में ईश्वर को न थापना भावाभास है, क्योंकि वह है सभी कहीं। यह वितर्क भाव निर्गुण ब्रह्म-विषयक रति-भाव का अंग है।

समाहित (भावशांति) (१०४)

समाहित (भावशांति)—किसी भाव के उत्पन्न होते ही उसका नाश हो जाना भावशांति है। जब भावशांति दूसरे भाव या रस का अंग हो जाय, तब समाहित अलंकार होगा। यथा—

घोर घटा-से करिंद घने, बक-पाँति-से राजत हैं तिनके रद;
चंचला-सी चमकैं करवाल, जे देति हैं बैरिन को जय को पद।
भौंहैं चढ़ी धनु - सी 'धनीराम' महाधुनि गर्जित धीरन को नद;
रावरे को बरसा-सो बिलोकि गयो उड़ि हंस-लौं बैरिन को मद।

(धनीराम)

यहाँ शत्रुओं का अहंकार शांत हो गया है। छंद में मुख्यता राजा-विषयक रति-भाव की है। अतएव भावशांति राजा विषयक रति-भाव का अंग है।

बज्र हूँ दरत, महाकालै संहरत जारि,
भस्म करत प्रलैकाल के अनल को;
झंझा पवमान अभिमान को हरत बाँधि,
थल को करत जल, थल करै जल को।
पब्बै मेरु मंदर को फारि चकचूर करै,
कीरति कितीक हने दानव के दल को;
'सेनापति' ऐसे राम-बान, तऊ बिप्र-हेत
देखत जनेऊ खैंचि राखैं निज बल को।

(सेनापति)

पवमान=वायु। पब्बै=पर्वत।

यहाँ अमर्ष भाव की शांति ब्राह्मण-विषयक रति-भाव के उदय से है। मुख्यता भावशांति की है, जो ब्रह्मदेव-विषयक रति-भाव का अंग है।

स्मृति नव-नव उनकी आकर दिन-रात चली जाती है;
यह मदिराशा शिथिलित कर मृदु गात चली जाती है।

नैराश्य अनिल की धारा मृदु भावों की कलियों पर—
अनवरत रूप से करती हिम-पात चली जाती है।
('उमेश')

यहाँ सब कहीं भावशांति शृंगार-रस का अंग होने से समाहित अलंकार है। पहले पद में स्मृति शांत होती है, दूसरे में मद और अंतिम दोनो पदों में दैन्य।

भावोदय (१०५)

भावोदय—में किसी भाव के उत्पन्न होने में चमत्कार होता है। जब भावोदय किसी रस या भाव का अंग हो, तब भावोदय अलंकार है।

नोट—इसमें भी कभी-कभी किसी भाव की शांति होती है, किंतु मुख्य चमत्कार शांति में न होकर उसके पीछे दूसरे भाव के उत्पन्न होने में होता है। यथा—

सुनि गुन मोहन के रहैं हिय हुलसो अति बाम ;
चहति बिचारि-बिचारि उर कब मिलि हैं घनस्याम।
(गुलाब)

यहाँ औत्सुक्य संचारी के उदय में चमत्कार है। वह उत्कंठा शृंगार-रस का अंग होने से भावोदय अलंकार है।

कौने बिरमाए, क़ित छाए, अजहूँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदनगोपाल की ;
लोचन जुगुल मेरे ता दिन सफल ह्वै हैं,
जा दिन बदन-छबि देखौं नँदलाल की।
'सेनापति' जीवन-अधार गिरिधर बिन
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की ;

इतनी कहत, आँसू बहत फरकि उठी
लहर-लहर दृग बाईं ब्रज-बाल की।
(सेनापति)

यहाँ पहले दो पदों में उत्कंठा है, तीसरे में वितर्क और चौथे में आँसुओं में चिंता तथा आँख फड़कने में हर्ष का उदय है, अथच इसी की प्रधानता होने एवं इसके नायक-विषयक रति से शृंगार के अंग होने से भावोदय अलंकार है।

भावसंधि (१०६)

भावसंधि—में अनेक विरोधी भावों की एक व्यक्ति में स्थिति कही जाती है, और यह किसी भाव या रस का अंग हो जाती है।

नोट—एक दूसरे को दबा सकने की योग्यता रखनेवाले भाव विरोधी कहलाते हैं। यथा—

लाछिन को तप पारबती को बिलोकि न कैसे हू जात सह्यो है;
वा मुख सों सुनते कथा चारु महा मन लालच पूरि रह्यो है।
त्यागत मैं कपटी वह वेष त्वरा सिथिलत्व न जात सह्यो है;
संकर दीनदयाल सोई हरिए भव-क्लेस यों चित्त चह्यो है।
(धनीराम)

यहाँ त्वरा (जल्दी) से आवेग और शैथिल्य से धृति संचारी भाव मिलते हैं। ये दोनो विरोधी होने से भाव-संधि है। शिव गिरिजा-कृत तप के दुख छुड़ाने के कारण जल्दी में थे कि कपटी वेष छोड़कर उनका क्लेश दूर करें, तथा सुनने की प्रसन्नता के कारण अपना कपटी वेष शीघ्र छोड़ना नहीं चाहते थे। यहाँ भावसंधि शिव-विषयक रति-भाव का अंग है।

भावसबलता (१०७)

भावसबलता—में अनेक (अविरोधी, विरोधी, उदासीन) भावों का एक व्यक्ति में समावेश होकर यह दूसरे रस या भाव का अंग होता है।

भावसबलता के विषय में मतभेद—काव्यप्रकाश की एक टीका में आया है कि एक के बाद दूसरे भाव का मर्दन करके ही दूसरा भाव उत्पन्न होना चाहिए।

पंडितराज यह पसंद नहीं करते। उनके अनुसार पाँचवें उल्लास में ऐसा उदाहरण स्वयं मम्मट ने दिया है, जिसमें उपमर्दन नहीं है। किसी-किसी का मत है कि इसमें किसी भाव का तो मर्दन हो जाता है, तथा कोई गिरता हुआ दिखलाई देता है, अथव अन्य भाव उपमर्दन करता हुआ। काव्यप्रकाश के टीकाकार का कहना है कि उनका मत न मानने से भावसबलता की भावसंधि में अतिव्याप्ति हो जाती है। यह मत ठीक समझ नहीं पड़ता। भावसंधि में केवल विरोधी भाव होते हैं, और इस(सबलता)में हर प्रकार के। यह भेद है ही। यथा—

> जुद्ध-हेत रघुबर चलत, लखि अरिगन अकुलात;
> काँपत अरु रोवत, भजत, किते मूरछा खात।
> (सोमनाथ)

यहाँ मोह (अकुलाना), कंप, अश्रु, त्रास (भागना) और अपस्मार (मूर्च्छा)-नामक संचारी भाव भगवान्-विषयक रति-भाव के अंग हैं। ये सब अविरोधी भाव हैं।

> भाग-हीन क्यों देखिए जलद स्याम ब्रजराज;
> हाय न नैनन ते टरति नेकु निगोड़ी लाज।
> (वैरीशाल)

यहाँ निर्वेद (भाग्य-हीन से), चिंता (क्योंकर देखिए से), विषाद

(हाय से) और लज्जा (लाज न टलने से) संचारी भाव हैं, जो श्रृंगार-रस के अंग हैं।

ऐसी न उचित हमैं देखि कोऊ कहा कैहै,
कहै सो कहै जू इतै चितै बलि को डरै ?
(दूलह)

यहाँ पहला भाव शंका का है, और दूसरा उसे दबाकर गर्व का। "कोऊ कहा कैहै" में शंका और "कहै सो कहै जू को डरै" में गर्व है। "कहै सो कहै" में दैन्य का भी भाव है, और "इतै चितै" में आवेग, किंतु "को डरै" से ये शंकाएँ दब जाती हैं, और गर्व प्रधान रहता है। ये भाव श्रृंगार के अंग होने से यहाँ भावसबलता है।

कीन्हो बालपन बाल-केलि मैं मगन मन,
लीन्हो तरुनाए तरुनी के रस तीर को;
अब तू जरा मैं पर्‌यो मोह-पिंजरा मैं, 'सेना-
पति' भजु रामै, जो हरैया दुख-पीर को।
चितहि चिताऊँ, भूलि काहू न सताऊँ, आउ
लोह कैसो ताव न बचाउ है सरीर को;
नेह-देह करिकै पुनीत करि लेह देह
जीभै अवलेह देह सुरसरि-नीर को।
(सेनापति)

अवलेह = चाटनेवाली वस्तु। लेह-देह (सुगुणों का) लेना-देना।

यहाँ प्रथम पद में स्मृति संचारी भाव है, तथा दूसरे में मति। तीसरे पद में कई प्रकार के विचार आने से वितर्क है, जो आधे भाग चौथे पद तक चलता है, तथा चौथे पद के अंत में धृति है। इससे भावसबलता होती है, जो देव-विषयक रति-भाव का अंग है।

है तौ जीव औसि, पै जू थिर कै अथिर, एक
सक्ति कैधौं व्यक्ति, यह मरम ललाम है;

दास-भाव रामानुजवारो ठीक बैठे, कैधौं
सीमित अद्वैतवाद साँचो गुन-धाम है।
इहाँ तौ बिचार बल सारो दरसात पंगु,
भाष्यो तुलसीहू ह्याँ तरक को न काम है;
ररंकार मूल कैधौं दसरथनंद मानौ,
साँचो बिस्वास मैं लखात राम-नाम है।
(मिश्रबंधु)

यहाँ वैबोध, वितर्क और धृति भाव आते हैं, तथा भावसबलता निर्वेद का अंग है।

रसवदादि सातो अलंकार ऐसे हैं, जिनमें रस या भाव के अपरांगों-मात्र का कथन है। अतः सबको अपरांगालंकार कहकर उसके सात भेद मानने से भी काम चल सकता था। फिर भी आचार्यों ने इन्हें पृथक्-पृथक् अलंकार माना है, जिससे हमने भी अलग-अलग नंबर दे दिए हैं। हर-एक में कुछ-न-कुछ रस या भाव की अपरांगता है। रसवत् में रस अपरांग है, प्रेयस् में भाव, ऊर्जस्वि में रसाभास या भावाभास, समाहित में भावशांति, भावोदय में भावोदय, भावसंधि में प्रतिकूल भाव तथा भावसबलता में विविध भाव। इस प्रकार यद्यपि देखने में ये समझने के लिये दुर्गम-से जान पड़ते हैं, किंतु वास्तव में हैं बहुत ही सुगम। इनमें विशेषतया संचारियों का खेल है, तथा ये किसी प्रधान रस या भाव के अंग होकर चलते हैं, अथच छंद में मुख्यता उसी प्रधान रस या भाव की रहती है।

रसवदादि में अलंकारता है या नहीं—रसवदादि को अलंकार मानना चाहिए या नहीं, इसके विषय में साहित्यदर्पण कई मतों का उल्लेख करता है।

प्रथम मत इनको अलंकार माननेवालों का। यथा—

"इह केचिदाहुः—वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका

एवालङ्काराः । रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं युक्ता इति ।"

प्रयोजन उनके कहने का यों है—"कुछ लोग ऐसा कहते हैं—अलंकार शब्द और अर्थ के द्वारा रस का उपकार करते हैं, इससे वे अलंकार हैं। रसवदादि शब्द और अर्थ के उपकार्य हैं, अतएव उनमें अलंकारता का आरोप युक्त नहीं।"

जब शब्द और अर्थ काव्य के शरीररूप हैं, अथच रस आत्मारूप, तथा अलंकार शरीर (शब्द या अर्थ) के द्वारा रस (आत्मा) का उपकार करते हैं, तब वे सदैव उपकारक और रस उपकार्य हैं। रसवदादि किसी रस या भाव के जब अंग हो जाते हैं, तब उसकी शोभा बढ़ाने से उन्हें अलंकार कहा जाता है। अलंकारों के हर हालत में उपकारक-मात्र होने से उपकार्यों में उनका सन्निवेश नहीं हो सकता। अतएव ये अपरांग अलंकार नहीं माने जा सकते, और इनका वर्णन रसभेद तथा भावभेद में होना चाहिए।

रसवदादि को भाक्त अलंकार मानना चाहिए।

अन्ये तु—"रसाद्युपकारमात्रेणेहालङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्ध्याङ्गीकार्य एव।"

"रसादिकों के उपकारक होने के कारण प्राचीन प्रसिद्धि के अनुसार (लक्षणा द्वारा) इन्हें भी अलंकार मानना ही चाहिए।"

यहाँ अलंकारता शब्द का भाक्त (लाक्षणिक) अर्थ-मात्र लिया गया है, इतना ही भेद है।

इस मत के ग्रहीताओं का तात्पर्य यह है कि उपमादि अलंकार रस का उपकार अर्थ या शब्द द्वारा करते हैं, जिससे इनमें अलंकारता मानी जाती है, तथा रसवदादि अलंकारों में रस का उपकार (शब्द और अर्थ के द्वारा न होकर) सीधे होता है। रस का उपकार दोनो (उपमादि तथा रसवदादि) में होता ही है, एक में शब्द

का वाच्यार्थ द्वारा और दूसरे में सीधे। अतः (रस का) उपकार दोनो में होने से केवल शब्दार्थ द्वारा तथा सीधे-सीधे उस (उपकार) के होने में इतना भेद न समझना चाहिए कि अपरांगों को अलंकार ही न मानें। यह दूसरा मत है।

तीसरा मत यों कहा गया है—

"अपरे च—रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वमुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानमजागलस्तनन्यायेन इति।"

"मुख्यतया रसादि के केवल उपकार में अलंकारत्व है, तथा रूपकादि अलंकारों में प्रधानता से अर्थ आदि का उपकार होने से उनकी स्थिति बकरी के गलेवाले स्तनों की-सी (निरर्थक) हो जाती है।"

द्वितीय और तृतीय मतों का सिंहावलोकन – द्वितीय मतवालों ने अलंकारत्व का रसवदादि में स्थापन लाक्षणिक अर्थ से किया है।

तृतीय मतवाले कहते हैं कि वह मत मान्य नहीं, क्योंकि वास्तव में रसादि के सीधे-साधे उपकारी होने से मुख्य अलंकारता रसवदादि में ही है।

दूसरे मतवाले उपमादि को प्रधान अलंकारता देते हैं, और तीसरेवाले रसवदादि को।

चौथा मत निम्नानुसार है—रसवदादि में भी अंग रसादि शब्द और अर्थ ही के द्वारा प्रधान (अंगी) रस या भाव का उपकार करते हैं। अतएव ये भी अलंकार हैं। चौथे मत में जो गड़बड़ पड़ेगा, वह एक उदाहरण द्वारा प्रकट किया जाता है—

> ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय ;
> जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाय।
>
> (बिहारी)

जिस मृगनयनी (हरिण के समान नेत्रवाली) के सदैव बेनी (केश या त्रिवेणी) पैर छुआ करती है, उसे छोड़कर दुखद तीर्थों को कौन

जायगा ? काव्यलिंग अलंकार है। यहाँ अलंकार वाच्यार्थ को चमत्कृत करता हुआ संयोग शृंगार का भी उपकार करता है।

रसवदादि अलंकार नहीं—ऊपर ऊर्जस्वि के उदाहरण में जो यह कुलपति द्वारा कहा गया है कि राजा के हाथ में खड्ग देखते ही विपक्षी शूरगण रोते हैं, वहाँ वीर-रसाभास अर्थ द्वारा राजा-विषयक रति-भाव का उपकारक है। बिहारीवाले दोहे में काव्यलिंग द्वारा वाच्यार्थ की भी शोभा बढ़ती है, किंतु ऊर्जस्विवाले में वाच्यार्थ की शोभा नहीं बढ़ती, वरन् रस का उपकार-मात्र होता है। अलंकार की मुख्यता शब्द या वाच्यार्थ के चमत्कृत करने में है। उपकार रसादि का हर अवस्था में होता ही है। इसीलिये बिहारीवाले दोहे में अलंकार की प्रधानता है, तथा कुलपतिवाले में रस की। इन कारणों से रसवदादि अलंकार न होकर असंलक्ष्य-क्रम अपरांग व्यंग्य-मात्र हैं।

प्रमाणालंकार

मीमांसक भट्ट और वेदांती—प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान, उपमान, अर्थापत्त्य और अनुपलब्ध्य छः प्रमाण मानते हैं। ये ईश्वर के निर्णय करने के लिये माने गए हैं।

मीमांसक-प्रभाकर—अनुपलब्ध्य को न मानकर केवल पांच माने हैं।

न्याय के आचार्य गौतम—अर्थापत्त्य को भी न ग्रहण करके चार ही रखते हैं।

सांख्य-शास्त्रवाले—उपमान को भी पृथक् कर देते हैं, अतः इस मत से तीन ही रहे—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण।

वैशेषिक तंत्र के कर्ता कणाद तथा बौद्ध—प्रत्यक्ष और अनुमान को ही स्वीकार करते हैं।

पौराणिकों ने—दो और बढ़ाकर ईश्वर-निर्णय करने के आठ प्रमाण माने थे—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) शब्द (४) उपमान (५) अर्थापत्त्य। (६) अनुपलब्ध्य (७) संभव और (८) ऐतिह्य। उन्हीं को अलंकारिकों ने भूषण मानकर ग्रहण कर लिया।

संस्कृत के आचार्यों में मम्मट तथा विश्वनाथ ने प्रमाणालंकारों में से केवल अनुमान का कथन किया है। महाराजा भोज ने आठ में से छः को कहा है, तथा अप्पय्य दीक्षित ने आठो को।

हिंदी के आचार्यों में भूषण, कन्हैयालालजी पोद्दार, सोमनाथ, देवकीनंदन आदि ने केवल अनुमान को माना है। कुमारमणि, दास, दूलह, वैरीशाल, भानु, रसाल, पद्माकर आदि आठो प्रमाण मानते हैं। मतिराम, ब्रह्मदत्त, चिंतामणि, लेखराज, चंदन, रसिक सुमति, महाराज यशवंत-

सिंह, ऋषिनाथ, मुरारिदान, रघुनाथ, गोकुलनाथ, रामसिंह आदि ने एक भी नहीं माना है ।

हमारा मत भी इसी अंतिम वर्गवालों से मिलता है । फिर भी पाठकों के बोध के लिये कथन सबका किए देते हैं ।

अनुमान (१०८)

अनुमान—जहाँ साधन (हेतु) द्वारा साध्य (सिद्ध की हुई वस्तु) का ज्ञान कराया गया हो, (और उसका निष्कर्ष वहीं शब्द द्वारा निकाला गया हो) वहीं अनुमानालंकार है । यथा—

> अँखियाँ हमारी दईमारी सुधि-बुधि हारी,
> मोहू सों जु न्यारी 'दास' रहैं सब काल मैं ;
> कौन कहै जानै, काहि सौंपत सयानै, कौन
> लोक-ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल मैं ।
> प्रेम पगि रहीं, महामोह मैं उमगि रहीं ,
> ठीक ठगि रहीं, लगि रहीं बनमाल मैं ;
> लाज को अँचैकै, कुल धरम पचैकै, बिथा
> बूँदनि सचैकै, भई मगन गोपाल मैं ।
>
> (दास)

यहाँ बहुत-से साधन लिखे गए हैं, जिनसे यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है (क्योंकि पद्य में शब्दों द्वारा साफ़ नहीं निकाला गया है) कि आँखें भगवान् की ओर से हट नहीं सकतीं । यहाँ काव्यलिंग (नं० ५६) अलंकार है ।

ग्रंथ के काव्यलिंग के उदाहरण—हमने यद्यपि लक्षण तो काव्यलिंग का ठीक दिया है, परंतु कई उदाहरण इस प्रकार के भी लिख दिए हैं, जिनमें शब्द द्वारा निष्कर्ष पद्य में ही निकल

गया है। वास्तव में चाहिए तो ऐसा नहीं था; परंतु काव्यलिंग और अनुमान में यह भले प्रकार समझा देने के कारण तथा हमारे द्वारा अनुमान को न ग्रहण किए जाने से ऐसा हो गया है।

काव्यलिंग का लक्षण—हमने अनुमान नहीं माना, अतः काव्यलिंग का लक्षण बदलकर ऐसा करना पड़ेगा—जहाँ वाक्यार्थता या पदार्थता को कारणता देकर समर्थन किया जाय, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।

काव्यलिंग से अनुमान का भेद—पंडितराज का मत है कि जहाँ (शब्द द्वारा) निष्कर्ष स्वयं कवि ने निकाल दिया हो, वहाँ अनुमान होगा, और जहाँ वह पढ़नेवालों को निकालना पड़े, वहाँ काव्यलिंग समझा जायगा। यथा—

मोहिं महाराज आप नीके पहिचानैं, रानी
जानकी हू जानैं हितू लच्छनकुमार को;
बिभीषन, हनूमान तजि अभिमान मेरो
करैं सनमान जानि बड़ी सरकार को।
एरे कलिकाल, मोहिं कालौ ना निदरि सकै,
तू तौ मतिमूढ़ अति कायर गँवार को;
'सेनापति' निरधार, पायँ-पोस-बरदार
हौं तौ राजा रामचंद्रजू के दरबार को।
(सेनापति)

यहाँ यह तो कहा गया कि तू मेरा कुछ नहीं कर सकता; मैं रामचंद्र का सेवक हूँ, परंतु कवि ने शब्द द्वारा यह निष्कर्ष नहीं निकला कि सेवक होने के कारण ही ऐसा है। इसी से अनुमान का न होकर यह भी काव्यलिंग का उदाहरण है। आगे अनुमान के उदाहरण आते हैं।

रामजू को पाय मुनि मन ना सकत पाय,
पैए जो समाधि, जोग, जप-तप करिए;

मोह सरसाने, हम कलि-मल-साने, पैंड़ो
राम-पाय गहिबे को कैसे अटकरिए।
एकै है उपाय राम-पाय के पकरिबे को,
'सेनापति' बेद कहै अंध की लकरिए;
राम - पद - संगिनी तरंगिनी है गंगा, ताते
याहि पकरे ते पाय राम के पकरिए।

(सेनापति)

सेनापति कहते हैं कि राम के पद पकड़ने का एक ही उपाय है, जो वेद में कथित अंधे की लकड़ी के समान है। यहाँ साधन है राम-पद-संगिनी होने के कारण, गंगा-नदी, और साध्य है राम के पैरों का पकड़ना। "एकै है उपाय" तथा "ताते याहि (गंगा के) पकरे ते" कवि ने निष्कर्ष स्वयं निकाला है, जिससे अनुमानालंकार प्राप्त है।

काल ते कराल कालकूट कंठ माहिं लसै,
ब्याल उर माल, आगि भाल सब ही समैं;
ब्याधि के अरंब ऐसे ब्यापि रह्यो आधो अंग,
रह्यो आधो अंग, सो सिवा के बकसीस मैं।
ऐसे उपचार ते न लागती बिलात बार,
पावतो न वाके तिल एकौ कहूँ ईस मैं;
'सेनापति' जिय जानी सुधा ते सरस बानी,
जो पै गंग रानी को न पानी होतो सीस मैं।

(सेनापति)

सब ही समैं=सब सामान सम (एकसाँ) है, या आग हर समय रहती है। अरंब=ढेर। अन्वय—वाके तन में कहूँ एकौ तिल ईश (ता) न पाता। महादेव के आधे तन में पार्वतीजी हैं, तथा शेषार्द्ध में विष, सर्प और (मत्थे के नेत्र में) अग्नि हर समय है। इन कारणों से शिव के ग़ायब हो जाने में देर ही न लगती, यदि उनके सिर पर गंगाजी न होतीं।

"जिय जानी" शब्दों से साफ़ निष्कर्ष कवि द्वारा निकाला गया है। अतएव अनुमान है।

उत्प्रेक्षा तथा अनुमानवाचक शब्दों के अर्थ में भेद— साहित्यदर्पण में लिखा गया है कि अनुमान में निश्चित रूप से तथा उत्प्रेक्षा में अनिश्चित प्रकार से प्रतीति होती है। उपर्युक्त छंद में जानी (जानो) वाचक है। यही जनु, मनु आदि उत्प्रेक्षा के वाचक होते हैं। अनुमान में उनका अर्थ निश्चयवाची तथा उत्प्रेक्षा में अनिश्चयवाची प्रसंग के अनुसार होता है।

दच्छिन दृग फरकन लगो, कोकिल बोलत बाम ;
कुंजन ताते राधिका अब मिलिहै अभिराम।

(देवकीनंदन)

यहाँ भी कवि ने निष्कर्ष निकाल दिया है।

अँगरेजी पढ़ी जब ते, तब ते हमरो तुम पै बिसवास नहीं,
तुम हौ कि नहीं, यहै सोचो करैं, परमान मिलै, परकास नहीं।
बिनु जाने न होत सनेह 'बिसाल' सनेह बिना अभिलास नहीं ;
यहि कारन ते हमको सिवजू तरिबे की रही कछु आस नहीं।

(बिशाल)

"यहि कारन" शब्द से निष्कर्ष निकालना प्रकट है।

करि पूजन ढुंढि बिनायक को अनपुन्नहु के पद पेखि लियो ;
चढ़ि धाय मिनारहु पै चढ़िकै अनुषाकृति कासिका देखि लियो।
पुनि भीरहु मैं धसि बार 'बिसाल' तुम्हैं हूँ भले अवरेखि लियो ;
यहि कारन ते हम तो सिवजू अपने को तरेन मैं लेखि लियो।

(बिशाल)

तव नाम को ऐसो महातिमु है, जो सदा सब पातक छाम करै ;
पुनि ध्यान को भूरि प्रभाव उताल अकिंचन को धन - धाम करै।

स्रम थोरेहि पै तब रीझि 'बिसाल' अनेकन भाँति अराम करै ;
तप मैं पचिकै तब क्यों सिवजू कोऊ आपनो काम तमाम करै ?
(विशाल)

यहाँ भी निष्कर्ष कवि ने निकाल दिया है ।

जब मातु के पेट मैं पीड़ित ह्वै कबौ रंचकहू सुख पायो नहीं ;
बिसवास 'बिसाल' भयो तब तौ, कछू पूरब पुन्य कमायो नहीं ।
तेहि ठौर पै जौन करार कियो, तेहि की सुधि कोऊ दिवायो नहीं ;
यहि कारन सों सिवजू तुमको हम बालपने बिच ध्यायो नहीं ।
(विशाल)

ज्ञान जो बिज्ञान को बिचारैं मन मैं, तौ मौत
उतपतिवारी सब बातैं हल होती हैं ;
देहन के नसे ते नसैं न पंचभूत, एक
रूप के नसे ते अन्य हेत बीज बोती हैं ।
रूप को बदलिबोई जीवन-मरन जानौ ,
देहैं एक अनुहू नसे ते नहिं खोती हैं ;
खेलो करैं तेई परिबरतनवारो खेल ,
आतमा कहाँ सों लै सरीर मैं पिरोती हैं ।

परमानु - मूलक लखात है जहान सब ,
परमानुहू को केंद्र सकति को जानिए ;
सकति सों इतर कछू न दरसात इतै ,
सिगरो जगत खेल ताही को प्रमानिए ।
सकति - समूह सोई राजि जगदीस रह्यो ,
एतोई अद्वैत मत। संकर को मानिए ;
याई जीव गुने ते गिरत सो अमोघ मत ,
ईस मैं लगति लघुताई दुख दानिए ।
ब्यवहार - मूलक सरूप हैं जगतवारे ,

रूप मैं दिखात नहीं साँची थिरताई है ;
संकरजू व्यवहार जीव मैं लगावत, जो
तामैं संक - पूरित तरक दरसाई है ।
जीव तौ कबहुँ व्यवहार मैं न आवत है ,
अनुभव माहिं छटा सकृति की छाई है ;
छाँड़ि व्यवहार-भाव मानौ जो अद्वैत-मत ,
वामैं तौ बिज्ञानवारी छापहू सोहाई है ।
अनुभव देहनि को मिलत सदा ही रहै ,
देहिन को हाल हमैं पूरो अबिदित है ;
मन, बुधि, चित, अहँकार को चतुष्टय जो ,
देहिन को साखी सो बतायो गयो नित है ।
साखिन को बल किंतु देखि जो सकल परै ,
सोऊ अंत माहिं देह ही पै परिमित है ;
ज्ञान पंच इंद्रिय बतावती हमैं हैं जौन ,
ताही के बिचार को प्रसार चढ़ै चित है ।
"हम हैं" को भाव जो बनोई सब जाम रहै ,
ताही पै महान जीवबादिन को जोर है ;
सुमिरन - मनन के बल जे प्रबल महा ,
तिनको प्रकास फैलो रहै चहुँ ओर है ।
देखिबे औ' जानिबे को अंतर बिसाल जौन ,
(perception and conception)
ताहू मैं लखात बुधि - बल बरजोर है ;
चेतना जो महत प्रभाव दरसायो करै ,
सोऊ जीव - बाद को प्रमान घनघोर है ।
(मिश्रबंधु)

इन उपर्युक्त पाँचों छंदों में जीवात्मा असिद्ध प्रमाणित किया गया है,

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।
(बिहारी)

यहाँ काव्यलिंग है, क्योंकि निष्कर्ष पाठक द्वारा निकलता है।

कनक कनक ते हेतु यहि मादकता अधिकाय;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।

अब अनुमान हो गया, क्योंकि कवि ही ने निष्कर्ष निकाला है। इतने ही थोड़े अंतर से, जिससे अर्थ में वास्तविक भेद पड़ता भी नहीं, अलंकार का बदलना उचित नहीं समझ पड़ता। इसीलिये हम उन कवियों से मतैक्य रखते हैं, जो अनुमान को काव्यलिंग के अंतर्गत मानकर पृथक् अलंकार नहीं समझते।

नोट—अनुमान के काव्यलिंग में अंतर्भूत होने से जो अलंकार इसमें मिल जायँगे, उन सबको भी काव्यलिंग का ही भेद मानना चाहिए।

उपमान (प्रमाण) (१०६)

उपमान (प्रमाण)—में सादृश्य के कारण किसी वस्तु का ज्ञान होना कहा जाता है। यथा—

इंदीबर-सों बर बरन, मुख ससि की अनुहार;
धरे तड़ित-सम पीत पट ऐसो नंदकुमार।
(पद्माकर)

लसत कमल-सम अमल चख, बिधु-सो बदन बिसाल;
जातरूप को रूप है, सो राधा, नँदलाल।
(वैरीशाल)

उपमान (प्रमाण) का अंतर्भाव—इसमें सादृश्य का चमत्कार होने के कारण इसे उपमा में अंतर्भूत मानना चाहिए। यही मत

उद्योतकार का भी है। दूसरा मत यह भी है कि इसमें उपमान को देखकर उपमेय का अनुमान होने से इसको अनुमान के ही अंतर्गत मानना चाहिए, और अनुमान काव्यलिंग में गया, अतः इसको भी उसी में मानना योग्य है।

प्रत्यक्ष (११०)

प्रत्यक्ष—पंचेंद्रियों द्वारा अनुभूत ज्ञान को कहते हैं।

कर्ण, नेत्र, त्वचा (स्पर्शेंद्रिय), नासिका और जिह्वा, ये पाँचो ज्ञानेंद्रियाँ हैं। यथा—

> है निहिचै यह राधिका धरे रूप को भार ;
> कियो जात क्यों और सों अँधियारो उजियार।
>
> (वैरीशाल)

प्रत्यक्ष में अलंकारता का आभास नहीं—उद्योतकार का मत है कि इसमें जहाँ चमत्कार होता है, वहाँ भाविक अलंकार (नं० ६४) आता है। अन्यत्र चमत्कार का पूर्ण अभाव रहता है। यही मत ग्राह्य समझ पड़ता है, क्योंकि जो लौकिक है, उसको सामान्य हो जाने से उसमें चमत्कार का अभाव रहता ही है।

शब्दप्रमाण (१११)

शब्दप्रमाण—में किसी के कहे हुए शब्दों के कारण यथार्थ ज्ञान होता है।

इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम (जो पूर्व काल से चला आता है), आचार, आत्मतुष्टि आदि को माना जाता है।

आदि से जैसे मुसलमानों के लिये क़ुरान शरीफ़ व शरीयत तथा ईसाइयों आदि के लिये बाइबुल आदि समझनी चाहिए।

नोट—देखने में आचार चाहे कष्ट-कल्पना से शब्द के अंदर मान

भी लिया जाय, किंतु आत्मतुष्टि उसमें नहीं आती, जब तक उसे अपने हृदय के शब्द न कहने लगिए।

लागत आजु सोहावने सजल स्याम घनघोर ;
कहत हरष सों मन अली आवत नंदकिसोर।
(बैरीशाल)

यहाँ हर्ष द्वारा आत्मतुष्टि से प्रमाण माना गया है, जो हर्ष बाह्य स्थितियों से हुआ है।

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू ;
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू।
बाँभन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै ;
पुत्र वही मरि जाय, जु कुल मैं दाग लगावै।
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भरि सोइए ;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, एते मरे न रोइए।

राजा चंचल होय, मुलुक को सर करि लावै ;
पंडित चंचल होय, सभा उत्तर दै आवै।
हाथी चंचल होय, समर मैं सूँड़ि उठावै ;
घोड़ा चंचल होय, झपटि मैदान दिखावै।
हैं ये चारौ चंचल भले, राजा, पंडित, गज, तुरी ;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, तिरिया चंचल अति बुरी।

मर्द सीस पर नवै, मर्द बोली पहिचानै ;
मर्द खवावै, खाय, मर्द चिंता नहिं मानै।
मर्द देइ औ' लेइ, मर्द को मर्द बचावै ;
गाढ़े-सकरे काम मर्द के मर्दै आवै।
पुनि मर्द तिनहि को जानिए, दुख-सुख साथी दर्द के ;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, ई लच्छन हैं मर्द के।

चोर चुप्प ह्वै रहै, रैनि अँधियारी पाए;
संत चुप्प ह्वै रहै, मढ़ी मैं ध्यान लगाए।
बधिक चुप्प ह्वै रहै फाँसि पंछी लै आवै;
छैल चुप्प ह्वै रहै सेज पै तिरिया पावै।
बर पिपर-पात हस्ती-स्रवन कोइ-कोइ कबि कुछ-कुछ कहैं;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, चतुर चुप्प कैसे रहैं।

(बैताल)

संतत सहज सुभाव सों सुजन सबै सनमानि;
सुधा-सरिस सींचत स्रवन सनी सनेह सुबानि।

(दुलारेलाल भार्गव)

छत्रिन की यह बृत्ति बनाई;
सदा तेग की खायँ कमाई।
गाय - बेद - बिप्रन प्रतिपालैं:
घाव ऐंड़धारिन पर घालैं।
जब यह सृष्टि प्रथम उपजाई;
तेग-बृत्ति छत्रिन तब पाई।

(लाल कवि)

यहाँ शब्द प्रमाण का आगम भेदांतर है।

साँई अपने चित्त की भूलि न कहिए कोय;
तब लगि मन मैं राखिए, जब लगि काज न होय।
जब लगि काज न होय, भूलि कबहूँ नहिं कहिए;
दुरजन हँसैं ठठाय, आप सियरे ह्वै रहिए।
कहि 'गिरिधर कबिराय' बात चतुरन के ताईं;
करतूती कहि देत, आपु कहिए जनि साईं।

(गिरिधर कविराय)

यहाँ लोकाचार प्रमाण है। नीचे के उदाहरण में व्यास-वचन का प्रमाण है।

माला दस-बीस नित नेम सों जपोई करैं,
पै न पुन्य-फल यामैं रंचक लखात है;
धूम-पान जैसे समौ काटिबे को करैं नर,
जाप त्यों हमैं हूँ काल-यापन की बात है।
बिरचि पुरान बहु भाष्यो व्यास भगवान,
पुन्य उपकार, पाप अपकार ख्यात है;
उपकार-अपकारवारी बात जाप माहिं
बहुत बिचारहू किए न दरसात है।

(मिश्रबंधु)

शब्द प्रमाण काव्यलिंग के अंतर्गत है—इसमें यत् किंचित् चमत्कार है, वह अनुमान का विषय है, और अनुमान काव्यलिंग के अंतर्गत हैं, अतः यह भी काव्यलिंग का भेद-मात्र है।

अर्थापत्ति (प्रमाण) (११२)

अर्थापत्ति (प्रमाण)—में न मानने से काम न चलने के कारण मानना योग्य समझा जाता है। यथा—

तिय तेरे कटि है, यहै हौं कीन्हो निरधार;
जो न होय, तौ को धरै बिपुल पयोधर-भार।

(गुलाब)

अर्थापत्ति अनुमान में है—प्रबल कारण होने से इसमें न दीखने पर भी कल्पना करनी पड़ती है; और कल्पना अनुमान का विषय है, तथा अनुमान काव्यलिंग का, अतः इसको भी काव्यलिंग ही में मानना योग्य होगा।

अनुपलब्ध्य (११३)

अनुपलब्ध्य—में पंचेंद्रियों द्वारा अनुभूत अभाव-संबंधी ज्ञान से किसी के न होने का निश्चय किया जाता है। यथा—

सीतलता रजनीस मैं अलि अब नेकहु है न;
लिए ज्वलन की ज्वाल अँग दहत आजु तन ऐन।
(वैरीशाल)

यहाँ शीतलता के अभाव में चंद्र में उस गुण का न होना माना गया है।

अनुपलब्ध्य की चमत्कार-हीनता—पंचेंद्रियों से अनुभव में न आने पर न होना निश्चय किए जाने से यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण में आ जाता है, और प्रत्यक्ष में कोई अलंकारता नहीं। अतः इसमें भी कोई अलंकारता नहीं है।

संभव (११४)

संभव—में किसी वस्तु के न होने को संभव (होने योग्य) रूप में कहते हैं। यथा—

ह्वै हैं ऐसेहु जीव कछु यही बिपुल जग माहिं;
लखि तव लोचन जिन हिये लगे काम - सर नाहिं।
(वैरीशाल)

संभव में अन्य अलंकारों का ही चमत्कार—इस उदाहरण में अतिशयोक्ति का चमत्कार है। इसमें जहाँ चमत्कार होता है, वहाँ सदा अन्य अलंकार का ही होता है। एक मत यह भी है कि यह अलंकार अनुमान के अंतर्गत होता है। जैसे इस प्रकरण के अंत में आनेवाले दूलह के छंद में संभव के उदाहरण में कि वज

में क्या संभव नहीं ; इसमें अनुमान-मात्र है। इसी प्रकार वैरीशाल-वाले में काम-शर के लगने का भी अनुमान-मात्र है।

ऐतिह्य (प्रमाण) (११५)

ऐतिह्य (प्रमाण)—में कोई मत परंपरा से चली आती हुई उक्ति के अनुसार निश्चित किया जाता है। यथा—

जैबे पिय परदेस को क्यों सुनिबे की नाहिं ;
कहा न सुनिए - देखिए, कहा न जी जग माहिं।
(वैरीशाल)

संसार में जीकर जब क्या-क्या देखा-सुना नहीं जाता, तब प्रियतम का परदेश जाना ही क्यों न सुनने योग्य है ?

पिय बिदेस ते आइहैं, जिय जनि धरै बिषाद ;
नर जीवत सों सुख लहै, ऐसो लोक-प्रवाद।
(पद्माकर)

यह छंद "जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति" के आधार पर है। दूलह में हमने प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान अलंकारों को जो नंबर दिए थे, उनसे यहाँ कारण-वश कुछ परिवर्तन हो गया है। शेष पाँचों प्रमाणालंकारों के अब भी वे ही नंबर हैं, जो पहले थे। दूलह के ग्रंथ में हमें उनके मतानुसार चलना पड़ा था, और वे आठो प्रमाणों को मानते हैं, किंतु हम नहीं मानते। इसीलिये इन सबमें फिर भी कुछ मानने योग्य अनुमान को पहला नंबर देना पड़ा। इसी पर तीन नंबर बदल गए हैं। उद्योतकार ने लिखा है कि अनुमान अलंकार मान्य है, और उपमान उपमा में चला जाता है, तथा प्रत्यक्ष चमत्कृत होने पर भाविक में जाता है, अथच भाविक से इतर प्रत्यक्ष में कोई चमत्कार नहीं, और शेष पाँचो प्रमाणालंकारों में भी चमत्कार का अभाव है। यही मत उपर्युक्तानुसार अधिकांश

आचार्यों ने माना है, और हमें भी ठीक समझ पड़ता है। बहुतेरे आचार्य अनुमान की पृथक् अलंकारता से भी इनकार करते हैं, जो हमें भी पसंद है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

ऐतिह्य काव्यलिंग में है—ऐतिह्य किसी अज्ञात व्यक्ति की उक्ति है, और शब्द (प्रमाण) ज्ञात की, अतः हमारे मत से यह भी शब्द प्रमाण ही के अंतर्गत है, और शब्द प्रमाण काव्यलिंग में, अतः यह भी काव्यलिंग में आ जाता है।

निम्न-लिखित दो ही छंदों से ये आठो अलंकार सुगमता से स्मरण रह सकते हैं। यथा—

प्रत्यच्छ प्रतच्छ (१), अनुमित कीन्हे अनुमान (२),
उपमिति ही ते उपमेय पहिचानिए (३);
सब्द बेद बाक्य त्यों ही सुमृति, पुरानागम,
लौकिकौ अचार आत्मतुष्टि उर आनिए।
मीमांसो सब्दवत स्रुतिलिंग को प्रमान (४),
है यहै लखाय जोग अर्थापत्ति मानिए (५);
है, न है अनुपलब्ध्य (६), संभावित संभव सो (७),
यहै होय ऐतिह्य (८) सु ए प्रमान जानिए।

हरषित गात स्वेद - भरे दरसात, बात
कहत बनै न, रंग छायो अँखियान मैं (१);
कुंजै गई याते जानो किंसुक की माल साजी (२),
चंद-सी बिराजी सो सखी लखी तियान मैं (३)।
बेदऊ पुरानागम स्मृति बाक्य लौकिकौ के
त्यों ही निज तोष कह्यौ आचारौ प्रमान मैं (४);
है यहै, गहै न कटि (५-६), का न ब्रज संभवै री (७),
कहा देखिबो, न कहा सुनिबो जहान मैं (८)।
(दूलह)

पहले छंद में प्रमाणों के लक्षण तथा दूसरे में उदाहरण हैं। लक्षण और उदाहरण में अंक डाल दिए गए हैं। यहाँ टीका में लक्षण पहले कवित्त तथा उदाहरण दूसरे का एक ही स्थान पर लिखा मिलेगा।

(१) प्रत्यक्ष जो वस्तु हो (पंचेंद्रियों द्वारा ज्ञात वस्तु), उसे प्रत्यक्ष कहेंगे। यथा—

तुम्हारे गात हर्षित और स्वेद-भरे हैं, बात नहीं करते बनती। यह देखकर समझ गया कि आपकी आँखों में रंग छाया है।

(२) जिसका (छंद ही में) अनुमान कर लिया गया हो, वह अनुमान प्रमाण है। यथा—

मैंने आपको कुंज गए इससे जाना कि आपके गले में किंशुक की माला शोभित है।

(३) जहाँ उपमा दिए जाने के कारण किसी की पहचान हो, वहाँ उपमान प्रमाण है। यथा—

चंद्र के समान सखियों में विराजमान होने से उसको मैंने (लखी) पहचान लिया।

(४) वेद, श्रुति (संहिता, चार वेदादि), स्मृति, पुराण, आगम, लोकाचार और आत्मतुष्टि आदि शब्द प्रमाण में हैं (इसकी पूर्ण व्याख्या के लिये हमारे कवि-कुल-कंठाभरण की टीका देखिए)। उदाहरण कवि ने नहीं दिया। केवल 'बेदऊ पुरानागम...प्रमान मैं।' दूसरे कवित्त में लिख दिया है। तात्पर्य यह है कि इसमें से किसी के वाक्य को उदाहरण मान लीजिए।

(५) 'है यहै लखाय जोग अर्थापत्ति मानिए' में लक्षण है। लक्षण का अर्थ इस प्रकार सोचिए कि—है यही (अर्थात् यह अपनी बुद्धि के योग से दिखाई देता है (कारण से ऐसा ही भासता है)। प्रयोजन यह कि अकाट्य प्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष न होने पर भी मानना ही पड़ता है, अतः में अर्थापत्ति प्रमाण होता है। यथा—

'है यहै कटि' यद्यपि है, तथापि 'गहै न कटि' अर्थ यह कि यद्यपि कटि पकड़ी नहीं जाती, तो भी (न होने से काम न चलने के कारण) है अवश्य।

(६) 'है, न है' अर्थात् तुम कहते हो है, (फिर अवलोकन, स्पर्शादि द्वारा अनुभव करके कहता है) "न है"—नहीं है। अनुपलब्ध्य प्रमाण के अंतर्गत है। यथा—

'है यहै, गहै न कटि।' अर्थ हुआ, अगर यही कटि है, तो कटि को पकड़ते क्यों नहीं ? अर्थात् यदि कटि होती, तो पकड़ में अवश्य आती, अतः वह है ही नहीं। यहाँ अनुपलब्ध्य और अर्थापत्ति का एक ही उदाहरण दिया गया है। केवल अर्थ दूसरा करना पड़ता है।

(७) 'संभावित संभव सो'—संभावित (होने योग्य) कहा गया हो, सो संभव प्रमाण माना जाता है। यथा—

'का न ब्रज संभवै री।' अर्थात् ब्रज में सब वस्तु संभव है। तात्पर्य यह कि कटि होते हुए भी न दिखलाई पड़ना संभव है।

(८) 'यहै होय'—ऐसा होता आया है, अर्थात् परंपरा से चली आनेवाली उक्ति के अनुसार निश्चय किया जाना ऐतिह्य प्रमाण है। यथा—

(जब कटि न दिखलाई पड़ते हुए भी आप कहते हैं, तब कहना पड़ता है) कि 'कहा देखिबो......' में संसार में रहकर क्या देखना और क्या सुनना नहीं पड़ता ?

इन ११९ अर्थालंकारों का वर्णन इसी स्थान पर समाप्त होता है। अब शब्दालंकारों का कथन उठाया जायगा, और उनके पीछे संकर तथा संसृष्टि का विवरण दिया जायगा।

शब्दालंकार

अनुप्रास (११६)

अनुप्रास—में (स्वरों की समानता-रहित या सहित) वर्णों की समानता अनुप्रास कहलाती है ।

इसके दो मुख्य भेद हैं—अर्थात् वर्णानुप्रास, लाटानुप्रास या शब्दानुप्रास । वर्णानुप्रास के चार भेदांतर हैं—अर्थात् छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास तथा अंत्यानुप्रास ।
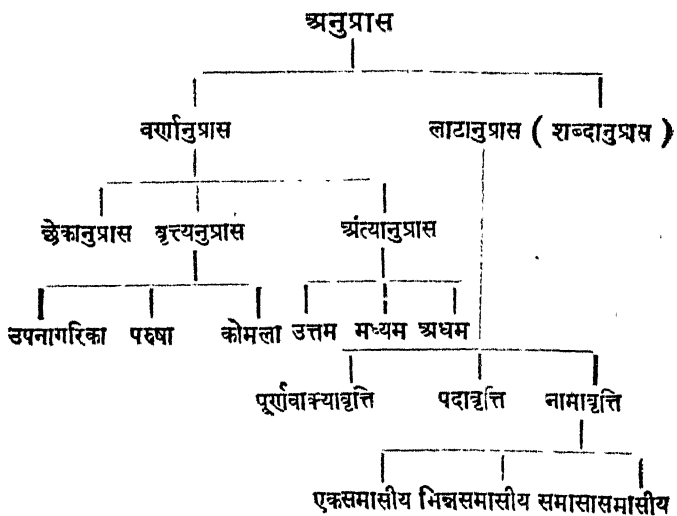
(१) वर्णानुप्रास-छेकानुप्रास

(१) छेकानुप्रास—अनेक वर्णों की उसी क्रम (शब्दों के आदि या अंत में) से एक बार भी समता होने पर होता है।

(इसमें यदि स्वर न भी मिले, तो हानि नहीं।) यथा—

पीछे तिरीछे कटाच्छन सों इत वै चितवैं री लजा ललचौहैं ;
चौगुनो चैन चवाइन के चित चाव चढ़ो है, चवाव मचौहैं।
जोबन आयो न पाप लग्यो कबि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसोहैं ;
जी मैं लजैए जु जैए जितै, तित पैए कलंक चितैए जो सोहैं।

(देव)

यहाँ पीछे तिरीछे, चवाइन चाव, चौगुनो चैन चवाइन चित, चाव चढ़ो चवाव, लजैए जैए, पैए चितैए, जी मैं जु जैए जितै, तथा जितै तित में छेकानुप्रास है।

बानर बरार बाघ बैहर बिलार बिग
बगरे बराह जानवरन के जोम हैं ;
'भूषन' भनत भारे भालुक भयानक हैं,
भीतर भवन भरे लोलगऊ लोम हैं।
ऐंडायल गजगन गैंडा गररात गनि
गोहनि मैं गोहनि गरूर गहे गोम हैं ;
सिवाजी की धाक मिले खल कुल खास बसे
खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं।

(भूषण)

बरार=बरियार, ज़बरदस्त। बिग=भेड़िया। लोम=लोमड़ी। गोहनि=गोह-नामक जंतुओं ने। गोम (गाँव से)=स्थान। खोम=कोम, क़ौम। इसमें छेकानुप्रास के काफ़ी उदाहरण हैं।

तुरमुती तहखाने, तीतर गुसलखाने,
सूकर सिलहखाने, कूकत करीस हैं ;

हिरन हुरमखाने, स्याही हैं सुतुरखाने,
पाँलखाने पाढ़े औ' करंजखाने कीस हैं।
'भूषन' सिवाजी गाजी खग्ग सों खपाए खल,
खाने-खाने खलन के खेरे भए खीस हैं;
खड़गी खजाने, खरगोस खिलवतिखाने,
खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं।
(भूषण)

तुरमुती=तिरमत्तो; एक शिकारी पक्षी। पाढ़े=एक प्रकार का मृग। करंजखाने=फुहारों का घर। खड़गी=गैंडा।

साजि चतुरंग, बीर रंग मैं तुरंग चढ़ि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल फैल खैलभैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है;
तारा-सो तरनि धूरि धारा मैं लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।
(भूषण)

गब्बरन के रलत है=अहंकारियों के (मद का) रेला करता है। इतना मद झरता है कि उससे नदी-नदों का-सा रेला हो जाता है। ऐल=अहिलौ, बहुत आधिक्य। खैलभैल=खलभल। पारावार=समुद्र।

स्वारथ को साधन सकाम आठौ जाम कीन्हो,
रावरे सुनाम सों तबौ न अरसायो मैं;
तो गुन बिचारिबे मैं, सुजस उजारिबे मैं,
भगति सुधारिबे मैं मन अटकायो मैं।

परम उदार तत्व - विषयक सार - जुत
बढ़ि सब ही सों सुबिचार दरसायों मैं ;
आरत ह्वै भारत पुकारत है नाथ, अब
पाहि - पाहि रावरी सरन तकि आयों मैं ।
(मिश्रबंधु)

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि अंगनि ओप मनौ उफनी ;
कबि 'देव' हिये सियरानी सबै सिय रानी को देखि सोहाग-सनी ।
बर धामनि बाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी ;
सखियान के आनन इंदुन ते अँखियान की बंदनवार तनी ।
(देव)

चूक ते सरस चोखे, लूक-सी लगावैं हिये ,
हूक उपजावैं यै अपूरब अराम के ;
रस को न लेस, रेसा चोपी है हमेस, तजि
दीन्हे सब देस, बिललाने परे घाम के ।
बुरे, बदसूरति, बिलाने, बदबोहिदार,
'बेनी' कबि बकला बनाए मनौ चाम के ;
एकहु न काम के, बिकाने बिन दाम के, यै
निपट हराम के हैं आम दयाराम के ।
(बेनी)

शब्द के मध्यवाली वर्ण-मैत्री अलंकार नहीं—शब्दों के आदि-अंत पर तो लोगों का ध्यान रहता है, किंतु मध्य में नहीं । इसीलिये मध्यवाली वर्ण-मैत्री अलंकार में नहीं मानी गई है ।

२—वृत्त्यनुप्रास—रसों के पोषक भिन्न वर्णों या एक ही वर्ण की समानता होने में होती है ।

इसके तीन भेदांतर हैं, अर्थात् उपनागरिका या वैदर्भी, परुषा या गौणी और कोमला या पांचाली ।

२ अ—उपनागरिका—में चित्त-द्रावक वर्णों में रचना रहती है।

इसमें माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण आते हैं। ट ठ ड और ढ को छोड़कर शेष वर्ण माधुर्य गुण के व्यंजक माने गए हैं। इसी को वैदर्भी भी कहते हैं। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, ह्रस्व रकार और ण यदि सानुस्वार हों, तो और भी अच्छा। संस्कृत में ण माधुर्य-व्यंजक वर्ण है, किंतु व्रज-भाषा में नहीं। खड़ी बोली में इसका प्रयोग काफ़ी है। समास-रहित या छोटे समास-युक्त शब्द और य र ल व भी माधुर्य-व्यंजक हैं।

श्रुति-कटु शब्दों का प्रयोग इसमें बहुत बचाना चाहिए। यथा—

बिहँसै, दुति दामिनि-सी दरसै, तन-जोति जुन्हाई उई-सी परै;
लखि पाँयन की अरुनाई अनूप ललाई जपा की जुई-सी परै।
निकरै-सी निकाई निहारे नई रति-रूप लोभाई तुई-सी परै;
सुकुमारता, मंजु मनोहरता, मुख-चारुता चारु चुई-सी परै।
(प्रतापसाहि)

जुई=जोई, देखी। तुई=तुम्हारे समान सामने उपस्थित।

ईंगुर-सो रँग एँड़िन बीच, भरी अँगुरी अति कोमलतायनि;
चंदन-बिंदु मनौ दमकैं, नख 'देव' चुनी चमकैं ज्यों सुभायनि।
बंदत नंदकुमार तिहारेई राधे-बधू ब्रज की सुखदायनि;
नूपुर-संजुत मंजु, मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पायनि।
मंजुल मंजरी पंजरी-सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारति चीर न;
भूख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर जीरन।
'देव' घरी-पल जाति घुरी अँसुवान के नीर उसास समीरन;
आहन जाति अहीर अहे, तुम्हें कान्ह कहा कहौं काहू कि पीर न।
(देव)

नंद-नंद सुख-कंद कौ मंद हँसत मुख-चंद—
नसत दंद-छरछंद-तम, जगत जगत आनंद।

(दुलारेलाल भार्गव)

रस सिँगार मंजन किए कंजन भंजन दैन;
अंजन-रंजन हू बिना खंजन गंजन नैन।

(बिहारी)

रंजन, भय-भंजन, गरब-गंजन अंजन नैन;
मानस-मंजन-करन जन होत निरंजन ऐन।

(दुलारेलाल भार्गव)

२ आ—परुषा या गौणी—में ओज के प्रकाशक वर्णों की अधिकता होती है।

ओज-प्रकाशक वर्ण निम्नानुसार समझे जाते हैं—ट ठ ड ढ श और ष। वर्गों के प्रथम से द्वितीय का तथा तृतीय के साथ चतुर्थ का मिलाव, अर्द्ध रकार का संयोग और दीर्घ समास एवं उसी अक्षर का उसी से मिश्रण। यथा—

विज्जपूर विदनूर शूर शर धनुष न संधहिं;
मंगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल्ल नहिं बंधहिं।
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजा डर;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा शंका उर।
'भूषन' प्रताप शिवराज तब इमि दच्छिन दिशि संचरहि;
मधुरा धरेश धकधकत सो द्रविड़ निविड़ डर दबि डरहि।

(भूषण)

सब जात फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी;
निघटी रुचि मीचु घटीहू घटी, सब जीव जतीन की छूटी तटी।

अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रकटी गुरुज्ञान-गटी ;
चहुँ ओरनि नाचति मुक्ति-नटी, गुन धूरजटी जटी पंचबटी ।
(केशवदास)

गटी=माला, गले में पहनने की वस्तु ।

परिहास कियो हरि 'देव' सुबाम सों, वा मुख बैन नच्यो नट ज्यों ;
करि तीखी कटाच्छ कृपान भयो, मन पूरन रोष भरो भट ज्यों ।
लपिटाय गही खटपाटी, करौंट लै मान-महोदधि को तट ज्यों ;
कटु बोल सुने पटुता मुख की पट दै पलटी उलटो पट ज्यों ।
(देव)

खट=खाट, पलँग ।

२ इ—कोमला या पांचाली—में प्रसाद-व्यंजक रचना लानी चाहिए ।

यह गुण निम्न-लिखित दशाओं में माना जाता है—समास की कमी या अनस्तित्व तथा अर्थ का अति शीघ्रता से समझ पड़ना । यथा—

मूरति जो मनमोहन की मनमोहनी के थिर ह्वै थिरकी-सी ;
'देव' गोपाल के बोल सुने सियराति सुधा छतिया छिरकी-सी ।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं, नैननि लाज-घटा घिरकी-सी ;
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी ।
(देव)

दूरि ते भौंह कमान-सी तानिकै बान-सी बंक चितौनि है दीन्ही ;
ऐसी न चाहिए तोहि बिलासिनि ! बीस बिसे न दया दिल चीन्ही ।
कीन्हो रि ! कान्ह निहारि भले सुधि-हीन अधीन न तू सुधि लीन्ही ;
सूनी गली चलि ओट अली के भली दुरि चोट कटाछनि कीन्ही ।
(कुमारमणि)

निसि-बासर सात रसातल लौं सरसात घने घन बंधन नाख्यो ;
ब्रज-गोकुल ऊ ब्रज-गोकुल ऊपर ज्यों परज्यो पग्लौ मुख भाख्यो।
करुनाकर त्यौं बर सैल लियो करुना करिकै बरसै अभिलाख्यो ;
मुरको न कहूँ मुर को रिपु री, अँगु री न मुर्‍यो, अँगुरी पर राख्यो।

(देव)

ज्यों परज्यो = ज्यों ही प्रजा ने।

नोट—रस और भावों का वर्णन इस भाग में नहीं किया गया है, अतः अगले भाग में किस रस में कौन-सी वृत्ति लानी चाहिए तथा इसका संपूर्ण वर्णन भी आवेगा।

२ ई—श्रुत्यनुप्रास—

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ;
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।

तालु, दंतादि के किसी एक ही स्थान से उच्चारित होनेवाले व्यंजन के सादृश्य में श्रुत्यनुप्रास होता है। यथा—

क ख ग घ ङ ह अ और आ इनका कंठ स्थान है।

च छ ज झ ञ य श इ और ई का तालु स्थान है।

ट ठ ड ढ ण र ष और ऋ का मूर्धा स्थान है।

त थ द ध न ल और स का दंत स्थान है।

प फ ब भ म उ और ऊ इनका ओष्ठ स्थान है।

ञ म ङ ण न इनका नासिका तथा अपने वर्ग का स्थान भी मिलता है।

इसी प्रकार ए ऐ का कंठ और तालु तथा ओ औ का कंठ और ओष्ठ स्थान है।

व का दंतोष्ठ स्थान है।

अनुस्वार का नासिका है।

दान देन माहिं यों दुचित दिल दाबे रहैं,

जासों भूलिहू कै वै ददा न कहैं भाई को।

नोट—यह भेद वृत्यनुप्रास के अंतर्गत आ जाता है। ऐसी दशा में इसे यदि अलग न मानें, तो दोष नहीं, और यदि विशेष चमत्कार के कारण उसी का स्वतंत्र भेद मान लें, तो भी कोई दोष नहीं आता।

३—छन्दस्य पदान्त्यानुप्रासः

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु;

आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।

पहले स्वर के साथ यदि उसी प्रकार दो या एक व्यंजन भी स्थित हो और उसकी आवृत्ति छंद के पदांतों में हो, तो उसे अंत्यानुप्रास कहेंगे। इसके उदाहरण उपर्युक्त प्रायः सभी हिंदी-छंदों में हैं। इस अनुप्रास के अंत के दो वर्णों-सहित पाँच मात्राओं का मिलना उत्तम है, चार का मध्यम तथा चार से कम का अधम। चार से कमवाले स्वरों में अंत के केवल एक व्यंजन का साम्य होता है, और पहले में दो का। यथा—

जागी न जोन्हाई, लागी आगि है मनोभव की,

लोक तीनो हियो हेरि - हेरि हहरत है;

बारि पर परे जलजात जरि बरि - बरि,

बारिधि ते बाड़व - अनल पसरत है।

धरनि ते लाइ झरि छूटीं नभ जाइ कहै,

'देव' जाहि जोवत जगत हू जरत है;

तारे चिनगारे - ऐसे चमकत चहुँ ओर,

बैरी बिधु - मंडल भभूको - सो बरत है।

(देव)

चाँदनी नहीं छिटकी है, वरन् कामदेव की आग लगी है

(जिससे) तीनो लोकों को देख-देख हृदय घबराता है। पानी पर पड़े हुए कमल जल गए (अग्नि इतनी तीव्र है कि पानी में रहने पर भी कमल सूख गए), समुद्र से जल-जलकर अब दावानल आगे फैलता है। धरणी से भी आगे बढ़कर अग्नि की झार आकाश में पहुँची ! 'देव' कवि कहते हैं, इसे देखकर सारा जगत् भी जलने लगा, नक्षत्र चिनगारे-से चारो ओर चमक रहे हैं, यह वैरी चंद्रमंडल अंगार के समान जल रहा है। यहाँ चारो पदांत में तीन व्यंजन तथा उसके पहले के दो व्यंजनों के स्वर मिलते हैं। अतः यह उत्तम पदांत्यानुप्रास है।

बंदौं खल जस सेस सरोषा ;
सहस बदन बरनै परदोषा।
पुनि प्रनवहुँ पृथुराज-समाना ;
परअघ सुनइ सहस दस काना।

जथा सुअंजन आँजि दृग साधक, सिद्ध, सुजान ,
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान।
(गो० तुलसीदास)

पहले में एक व्यजन और उसके पहले के तीन स्वर, तथा दूसरे में एक व्यंजन दो उसके पहले के स्वर मिलते हैं।

लघु गुरु या गुरु लघु अक्षर अंत में होनेवाले छंदों में पाँच मात्राओं का मिलना उत्तम है, तीन का मध्यम और उससे कम का अधम या निकृष्ट। दो लघ्वंतवाले तुकों में चार मात्राओं का मिलना उत्तम है, दो का मध्यम तथा एक का निकृष्ट। इन सबमें दो व्यंजनों का मिलना अनावश्यक है।

(२) लाटानुप्रास

लाटानुप्रास—में केवल तात्पर्य भिन्न (अर्थ वही) होते हुए शब्द और अर्थ की आवृत्ति होती है।

यह अनुप्रास लाट देश(दक्षिणी गुजरात)वालों को विशेष

प्रिय होने से इसका नाम ही लाटानुप्रास पड़ गया। इसमें शब्द उसी अर्थ में आता है, केवल अन्वय रूप - संबंध का भेद होता है। इससे प्रयोजन भाव दूसरा हो जाने से है।

शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।
पदानां सः पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा;
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः।

(काव्यप्रकाश)

अर्थात् लाटानुप्रास में तात्पर्य भिन्न शब्द की आवृत्ति है। अनेक पदों की या एक पद (शब्द) की, या नाम (विभक्ति-हीन शब्द) की (आवृत्ति) होती है। अंतिम (नाम की) आवृत्ति में तीन भेद होते हैं, अर्थात् एक ही समास में, भिन्न समासों में तथा समासासमास में। इस भाँति यह पाँच प्रकार की, संस्कृत में, मानी गई है।

नोट—हिंदी में विभक्ति और समास सर्वमान्य नहीं हैं। व्रज-भाषा में समास प्रायः नहीं होते, तथा खड़ी बोली में विभक्ति पृथक् शब्द द्वारा लिखी जाती है। अतएव आचार्यों ने हिंदी में पदों की और शब्द की आवृत्ति मानी है, नाम के तीनो भेदों की नहीं। आगे इसी विचार का साफ़ कथन उदाहरणों के साथ फिर किया जायगा।

१—पदों की आवृत्ति—में अनेक शब्दों की पुनः उसी प्रकार आवृत्ति होती है। यथा—

औरन के जाचे कहा, नहिं जाच्यो सिवराज;
औरन के जाचे कहा, जो जाच्यो सिवराज।

(भूषण)

जाके ढिग रुचि, तासु है अनल-ताप हिम-धाम;
जा ढिग रुचि नहिं, तासु है अनल-ताप हिम-धाम।

(कुमार)

अनल-ताप हिम-धाम=आग की गरमी बरफ़ का-सा घर है ; बरफ़ का घर भी आग-सा गरम है ।

२—पद की आवृत्ति—में एक ही शब्द अनेक बार आता है।

संस्कृत में विभक्ति-हीन शब्दों को नाम कहते हैं, तथा विभक्तिमान् को पद । से, को, का, ने, में, पर आदि विभक्तियाँ हैं । हिंदी में एक ही शब्द का अंश न होकर विभक्ति अन्य शब्द द्वारा लाई जाती है । यथा—

लाटानुप्रास में केवल दो भेद—संस्कृत—रामेण लङ्का जिता । हिंदी—राम से (या के द्वारा) लंका जीती गई । संस्कृत में तो रामेण में विभक्ति है, किंतु हिंदी में यही भाव 'से' या 'के द्वारा' से प्रकट किया जाता है । अतएव हिंदी में अनुप्रास की नामावृत्ति नहीं होती है । खड़ी बोली में तो विभक्तियाँ पृथक् शब्द ही द्वारा आती हैं, किंतु व्रज-भाषा में कहीं-कहीं शब्द में जुड़ जाती हैं । उपर्युक्तानुसार नाम के तीन भेद हैं, अर्थात् दोनो जगह समस्त (समास-युक्त), दोनो जगह असमस्त तथा एक जगह समस्त और दूसरी जगह असमस्त । नाम की आवृत्ति उपर्युक्तानुसार हिंदी में न होने से हमारे यहाँ से उसके तीनो भेद निकल जाते हैं, हिंदीवालों ने पदों की आवृत्ति तथा पदावृत्ति नामवाले दो ही भेद माने हैं । पदावृत्ति का उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

बोलत मधुर होत सुजस मधुर यहै ,
नीको जानि नीको मन मोदहि ते भरिए ;
करिए तौ डरिए, न करिए तौ डरिए जू ,
सबकी भलाइऐ भलाई उर धरिए ।
जैसी सितभानु भानु-प्रभा, प्रभाकर तैसी
जानि, जानि पर्यो फल यहै जिय करिए ;

कीजै नित नेह नंदनंदन के पाँयन सों,
तीरथ के पंथ संत सीघ्र अनुसरिए।
(कुलपति मिश्र)

सितभानु=चंद्रमा। चंद्रमा में जैसी सूर्य की ज्योति है, वैसी ही सूर्यवाली को जानकर मानना पड़ता है, एवं चित्त में यही निष्कर्ष आता है कि दोनो ज्योतियाँ हैं वास्तव में एक। इस छंद में एक-एक पद (शब्द) की कई बार आवृत्तियाँ हैं, तथा दूसरे चरण में पदों की भी एक आवृत्ति है।

यमक (११७)

यमक—यदि अर्थवाले हों, तो भिन्न अर्थवाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या अर्थ न होने पर भी ऐसी आवृत्ति को यमक कहा जाता है।

इसके तीन भेद हैं, अर्थात् भिन्न अर्थ के शब्द का पुनः आना, विना अर्थवाले शब्दों का पुनः आना, तथा एक अर्थवान् और दूसरे निरर्थक शब्द का पुनः आना। यथा—

पूनावारी सुनिकै अमीरन की गति लई,
भागिबे को मीरन समीरन की गति है;
मार्‌यो जुरि जंग जसवंत जसवंत जाके
संग केते रजपूत रजपूतपति है।
'भूषन' भनै यों कुलभूषन भुसिल सिव-
राज तोहिं दीन्ही सिवराज बरकति है;
नौहू खंड दीप भूप भूतल के दीप आजु
समै के दिलीप दिलीपति को सिदति है।
(भूषण)

अमीरन मीरन में मीरन शब्द दो बार आया है, जो दूसरे बार सार्थक है तथा पहले बार निरर्थक, क्योंकि विना अमीरन कहे उसका अर्थ नहीं

लगता, यदि अमीरन का मीरन और समीरन का मीरन, दोनो को भी ले लीजिए (यद्यपि ज़रा दूर-दूर हैं), तो दोनो निरर्थक का उदाहरण हो जाते हैं। यही दशा मीरन और समीरन की है। जसवंत जसवंत, भूषन भूषन, सिवराज सिवराज, दीप दीप और दिलीप दिलीप में भी यमक हैं, जिसमें भिन्नार्थ या निरर्थक शब्द पुनः आते हैं। इस प्रकार यहाँ और नीचे के छंद में भी तीनो भाँति के उदाहरण मिल जाते हैं।

प्यास न भूख, न भूखन की सुधि, भाव सुभूखन सों उपजावै;
'देव' इकंतहि कंतहि के गुन गावति-नाचति नेह सजावै।
प्रेम-भरी पुलकै, मुलकै, उर ब्याकुल कै कुल-लोक लजावै;
लै परबी परबी न गनै, कर बीन लिए परबीन बजावै।

(देव)

सुभूखन=अच्छे अलंकारों (सजावटों)। लै परबी इति=वह प्रवीणा पर्व को पकड़कर और पर्व की परवा न भी करके हाथ में वीणा लिए हुए बजाती है। यहाँ पुलकै-मुलकै में लकै-लकै निरर्थक आवृत्तियाँ हैं।

साहित्य-दर्पण के पदावृत्ति आदि भेद केवल उदाहरणांतर-मात्र हैं—साहित्य-दर्पण में आया है कि इस अलंकार में पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि के होने से बहुत-से भेद होते हैं। पदावृत्ति आदि के भी कई भेदांतर होने से उनकी संख्या और भी बढ़ जाती है। यह अन्य प्रकार के उदाहरण-मात्र हैं। इनके कोई पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

लाटानुप्रास और यमक में भेद—लाटानुप्रास में फिर से आए हुए शब्दों के अर्थ अभिन्न होते हैं, किंतु यमक में भिन्न। यही भेद है। वहाँ केवल तात्पर्य का भेद रहता है। यमकादिकों (यमक, श्लेष और चित्र) में ड और ल, र और ल तथा ब और व एक माने जाते हैं। यह मत साहित्य-दर्पण का है।

वीप्सा (११८)

वीप्सा—में आदर आदि के लिये एक शब्द अनेक बार आता है। यथा—

फलि-फैलि, फूलि-फूलि, फलि-फलि, हूलि-हूलि,
झपकि-झपकि आईं कुंजें चहुँ कोद ते;
हिलि-मिलि हेलिनु-सों केलिनु करन गईं,
बेलिनु बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते।
नंदजू की पौरि पर ठाढ़े हे रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीनी मोहिनी बिमोद ते;
गाथनि सुनत भूलीं, साथनि की फूल गिरे,
हाथनि के हाथनि ते, गोदनि के गोद ते।
(देव)

हूलि-हूलि=ठेल-ठेलकर। हेलिनु-सों=हाव-सहित। हेला एक हाव का नाम है।

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि कहत दई-दई;
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव',
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई-बई।
दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई;
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा-मन मोहि-मोहि मोहनमई भई।
(देव)

चकि-चकि=चकित हो-होकर। बई-बई=अलग-अलग। वीप्सा में ज़ोर देने तथा आदर के लिये वही शब्द कई बार आता है, और अर्थ नहीं बदलता।

लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा पृथक अलंकार नहीं—हमारे मत से अभिन्न अर्थ, भिन्न अर्थ के या आदर आदि के लिये पुनः शब्द लाने से पृथक् अलंकार नहीं माना जा सकता।

पुनरुक्तिवदाभास (११६)

पुनरुक्तिवदाभास—में भिन्न आकारवाले शब्दों के कारण पुनरुक्ति-सी भासित होती है (जो वास्तव में होती नहीं)। साहित्य-दर्पण में इसका लक्षण निम्नानुसार है—

> आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्तेन भासनम्;
> पुनरुक्तिवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः।

ऊपरी दृष्टि से अर्थ में पुनरुक्ति ज्ञात होना (जहाँ हो), (वहाँ) भिन्न रूप समान अर्थवाले शब्दों में स्थित पुनरुक्तिवदाभास है।

इसके दो भेद हैं, अर्थात् शब्दालंकार और उभयालंकार। शब्दालंकार में शब्द बदल देने से अलंकार नहीं रहता। उभयालंकार (शब्द और अर्थ दोनो से संबद्ध) में कोई शब्द बदला जा सकता है, और कोई नहीं। यथा—

> अरिन के दल[1] सैन[1] संगर[2] मैं समुहाने,
> टूक-टूक सकल कै डारे घमसान[2] मैं;
> बार-बार रूरो, महानद-परबाह पूरो,
> बहत है हाथिन के मद[3]-जलदान[3] मैं।
> 'भूषन' भनत महाबाहु भौंसिला भुवाल,
> सूर[4] रबि[4] को-सो तेज तीखन कृपान मैं;

माल मकरंदजू के नंद कला निधि तेरो
५ ५
सरजा सिवाजी जस जगत जहान मैं।
(भूषण)

यहाँ नंबर १ और १, २—२, ३—३, ४—४, ५—५ में पुनरुक्ति प्रथम दृष्टि से भासित होती है, पर अर्थ सैन संगरमै=शयन (में) संग रमै' लगाने पर दोष नहीं रहता। साथ-ही-साथ मरे पड़े हैं। सूर=वीर। जगत=जागता है। शब्द गत में कही अर्थ अभंग रीति से निकलता है, और कहीं सभंग से। इस प्रकार अभंग और सभंग दो इसके भेद हुए। 'सैन संग रमै' में सभंग प्रयोग है, तथा 'सूर रवि में अभंग। यदि सूर शब्द को वीर कर दें, तो अलंकार नहीं रह जाता। यह उभयालंकार का उदाहरण है। इसमें कोई भेद नहीं होता। जगत जहान में भी उभय पुन-रुक्तिवदाभास है।

पुनरुक्तिवदाभास में अलंकारता नहीं—इसमें किसी विशेष चमत्कार के न होने से अलंकारता का अभाव समझ पड़ता है। इसी कारण कुछ आचार्यों ने अलंकारों में इसका कथन नहीं किया है।

शब्दश्लेष (१२०)

शब्दश्लेष—को भी कई आचार्यों ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार, दोनो में माना है। हम इसे केवल अर्थालंकार में मानते हैं। हमारी व्याख्या १०० पृष्ठ में देखिए।

वक्रोक्ति (१२१)

वक्रोक्ति—का भी कुछ संबंध शब्दालंकारों से है। हमारी व्याख्या ३२३ पृष्ठ पर देखिए। हम इसे केवल अर्थालंकार ही मानते हैं।

चित्र (१२२)

चित्र—जहाँ छंद में वर्णों के विशेष प्रकार के क्रम होने के कारण उस (छंद) को खड्गादि आकृति में लिखा जा सके, वहाँ चित्र अलंकार माना गया है।

धुव जो	गुरता	तिनको	गुरु भूषन	दानि बड़ो	गिरजा	पिव है
हुव जो	हरता	रिन को	तरु भूषन	दानि बड़ो	लिरजा	छिव है
भुव जो	भरता	दिन को	नरु भूषन	दानि बड़ो	सरजा	सिव है
तुव जो	करता	इनको	अरु भूषन	दानि बड़ो	बरजा	निव है

यह कामधेनुबंध कहलाता है। इसको हर कोष्ठक से प्रारंभ करके पढ़ सकते हैं, और छंद नया बनता जायगा। इस प्रकार पढ़ने से इसमें ७×४=२८ छंद बन सकते हैं।

चित्र में कोई अलंकारता नहीं—इसमें कोई अलंकारता नहीं, केवल छंद में वर्णों की विशेष प्रकार की स्थिति के कारण यहाँ देखने-भर को विचित्रता आ जाती है, किंतु कोई वास्तविक चमत्कार नहीं होता।

शब्दालंकारों का विवरण यहीं समाप्त होकर मिश्रालंकार चलते हैं।

मिश्रालंकार

संसृष्टि (१२३)

संसृष्टि—में एक ही स्थान पर तिल-तंदुल-न्याय से कई अलंकारों का मिलाप रहता है।

जैसे तिल-तंदुल मिले होकर भी हैं पृथक् और किए भी जा सकते हैं, वैसे ही अलंकार एक ही छंद या गद्य के समीपस्थ वाक्य या वाक्यों में होने पर भी रहते अलग-अलग हैं।

इसके तीन भेद हैं, अर्थात् शब्दालंकारों-मात्र की संसृष्टि या अर्थालंकारों-मात्र की, या दोनो की। अधिकतर दशाओं में मिश्र संसृष्टि होती है, क्योंकि एकाध शब्दालंकार अच्छे वाक्यों में निकल ही आता है। यथा—

(१) शब्दालंकार-संसृष्टि—

मार सुमार करी खरी डरी-डरी अकुलाय;
हरि, हरिए बलि बिरह चलि मुख-सुखमा दरसाय।

(वैरीशाल)

यहाँ मार, (सु) मार, डरी-डरी, हरि हरि में यमकानुप्रास है। करी खरी डरी में छेकानुप्रास है। निकल एकाध अर्थालंकार भी आवेगा, किंतु कवि ने शब्दालंकार-संसृष्टि के उदाहरण में इसे लिखा है, और उसी की मुख्यता है भी।

(२) अर्थालंकार-संसृष्टि—

वाके नामहि के सुने होति सौति-दुति मंद ;
चख-चकोर कीजै सखी, लखि राधा-मुख-चंद ।
(वैरीशाल)

यहाँ पहले चरण में चपलातिशयोक्ति (नं० १३) तथा दूसरे में रूपक (नं० ५) है। दोनो एक ही छंद में होकर भी पृथक् हैं।

संसृष्टि में एक ही भाव को पुष्ट करने का संबंध—संस्कृत के ग्रंथ अलंकार-रत्नाकर में लिखा है कि उनमें परस्पर का कोई संबंध न होने के कारण संसृष्टि के रूप से अलंकारों का लाना दूषित है। उपर्युक्त दोहे में चपलातिशयोक्ति और रूपक में कोई अलंकारिक संबंध न होने पर भी दोनो शोभा को पुष्ट करते हैं। अतएव एक ही भाव के पोषण का संबंध वर्तमान ही है।

(३) शब्दार्थालंकार-संसृष्टि—

लग्यो सुमन, ह्वै है सुफल, आतप रोस निवारि ;
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ।
(बिहारी)

यहाँ बारी (नवयौवना तथा खेत) बारी में भिन्न-भिन्न अर्थ होने से यमकानुप्रास है। सुमन (अच्छा मन, फूल) शब्द श्लिष्ट होने से श्लेषालंकार है। यही दशा सुफल (सुंदर फल, सफलता) की है। आतप रोस तथा सुहृदता बारि में समाभेदरूपक (नं० ५) होने से छंद में शब्दार्थालंकार-संसृष्टि है, क्योंकि ये हैं पृथक्-पृथक्।

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल-से दुकूलन सुगंध बिथुरो परै ;
इंदु-सो बदन, मंद हाँसी सुधा-बिंदु, अर-
बिंदु ज्यों मुदित मकरंदन मुरो परै ।

ललित लिलार स्रम-झलक अलक-भार,
मग मैं धरत पग जावक घुरो परै;
'देव' मनि-नूपुर पदुम-पद दू पर ह्वै
भू पर अनूप रूप-रंग निचुरो परै।
(देव)

लंक=कटि। स्रम-झलक=परिश्रम की झलक, स्वेद-बिंदु। पदुम-पद दू पर=दोनो चरणारविंदों पर। छंद में छेकानुप्रास की भरमार होने से शब्दालंकार है ही। "फूल-से दुकूल" और "इंदु-सो बदन" में उपमाएँ हैं। ज़मीन में महाउर के घुलने तथा रंग के निचुड़ने से तद्गुण (नं० ७४) अलंकार है।

अरजत दीन, लरजत कुंडलीस, गर-
जत दिग-सिंधुर चलत लखि दीह दल;
कहलत कूरम, दिगीस दहलत, दिग-
दंति टहलत, पारि जगत मैं खलभल।
दान दुज पावत, सुनावत असीस, जस
गावत करत नहिं चारन चतुर कल;
पूरत प्रताप भूप, अरि बल तूरन, औ'
दोहिंन के चूरत करेजन धरनितल।
(मिश्रबंधु)

उपर्युक्त छंद के चारो चरणों में छेकानुप्रास है, तथा दूसरे चरण में संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) अलंकार है, जिससे शब्दार्थालंकार-संसृष्टि प्राप्त है।

धावते अडोल दल बल सों महीतल पै,
हीतल अरिंदन के हालत हहरि हैं;
उछलत चलत तुरंगन के, मानो अरि-
जूथन के आवैं नाग-दंसित लहरि हैं।

डगमग धरत धरा को धसकत, दिग-
सिंधुर - समान गुरु कुंजर चलत हैं;
धारि कर साँकरि सजोम उलझारि, मद
गारि जे पछारि मृगराजन मलत हैं।

(मिश्रबंधु)

यहाँ तीन चरणों में छेकानुप्रास है। प्रथम चरण में पहली असंगति (नं० ३६) है, तथा दूसरे में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा (नं० १२)। तीसरे चरण में उपमा (नं० १) है, तथा चौथे में संबंधातिशयोक्ति (नं० १३)। इस प्रकार इस छंद में भी शब्दार्थालंकार-संसृष्टि है।

बहु ध्वज बर ऊँचे ब्योम पहुँचे सेन सुजस मनु मिलि गावैं;
तिनकी परछाहीं छिन थिर नाहीं, दल संचालन सँग धावैं।
हिलि-हिलि मढ़ि पाहीं ते परछाहीं लिखैं मनो नृप-जस भारी;
नभ देव मनाई, खबरिन लाई किधौं कहैं छिति पन धारी।

(मिश्रबंधु)

इसमें छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा (नं० १२) तथा संदेहवान् (नं० १०) हैं।

छोरिकै जगत-हित जगत-पिता सों नित
जोरिकै सुचित बित प्रेमहि बिचारो तुम;
बासनानि पूरन करन के बिचार तजि
बासना-हनन की सुरीतिन प्रचारो तुम।
लालच सों धावत जकंदत फिरत जग,
जो कछु लहन ताहि नीच निरधारो तुम;
जौन सोचि हाल जग बिकल बिलाप करै,
सोई सति आनँद को हेतु गुनि धारो तुम।

(मिश्रबंधु)

यहाँ छेकानुप्रास तथा विचित्र (नं० ३६) अलंकार हैं।

संकर अलंकार—में अलंकार तिल-तंडुलवत् न मिलकर नीर-क्षीरवत् मिले रहते हैं, जिससे उनमें प्रधान तथा अप्रधान का भेद प्रायः निकालना पड़ता है। अतएव संकर का लक्षण तथा उसके भेदोंवाले उदाहरण लिखने के पूर्व इस विषय का भी निर्णय आवश्यक है। कहीं-कहीं देखने में तो दो अलंकार समझ पड़ते हैं, किंतु वास्तव में एक ही होता है। बाधक और साधक हेतुओं से अलंकार निर्णीत होता है।

अलंकारों की बाधकता—

मुख जलजात सोहै, कैसो जलजात सोहै,
पूरन मैं पूरै छबि कहै गुन-गथ को ?

यहां श्लेष या तुल्ययोगिता की पहचान बाधक हेतु द्वारा होगी। जलजात कमल को कहते हैं तथा चंद्र को भी। चंद्रमा सोलहो कला-युक्त पूर्ण होने से पूरी छविवाला होता है, तथा पूर्णरूपेण खिला होने से कमल शोभा पाता है। यहाँ एक ही शब्द जलजात से दोनो भाव निकलते हैं, किंतु धर्म दोनो के पृथक् हैं, क्योंकि चंद्र के लिये पूर्ण शब्द सोलहो कलाओं का भाव रखता है, तथा कमल के लिये खूब खिले होने का। तुल्ययोगिता में धर्म के शब्द और अर्थ, दोनो एक ही होते हैं, अर्थात् शब्द एक ही होता है, और दोनो के लिये अर्थ भी उसका एक ही होता है। यहाँ शब्द तो एक है, किंतु अर्थ भिन्न। यह भिन्नता तुल्ययोगिता की बाधक है। फिर तुल्ययोगिता में वर्णित विषयों के लिये शब्द दो चाहिए, जो बात भी यहाँ नहीं है। इस प्रकार बाधकों द्वारा तुल्ययोगिता का निराकरण हो जाने से यहाँ केवल श्लेष रह जाता है।

अलंकारों की साधकता—अब साधक कारण का भी उदाहरण दिया जाता है—

"चंद्र-सा मुख है।" यहाँ 'सा' उपमा का साधक है।

वही साधक, वही बाधक—कहीं एक ही कारण साधक और बाधक दोनो होता है। यथा—

स्याम कृपानी तव जनी निरमल कीरति चारु।

यहाँ हेतु और कार्य के रंग विपरीत होने से दूसरा विषम (नं० ३७) है, तथा हेतु से विरुद्ध कार्य से पंचम विभावना (नं० ३३) भी हो सकती है। कृपाण तथा शत्रु-नाशवाले दो हेतुओं से श्वेत कीर्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव काली तलवार पूर्ण कारण न होकर भी उसका एक भाग है ही। अतः यह हेतु की विरूपता विषम का साधक तथा निम्नांकित कारण से विभावना का बाधक है। उसमें असली कारण छिपाकर कोई दूसरा ही कहा जाता है, जो बात यहाँ नहीं है। यथा—

वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लोनाई।

यहाँ लोनाई का मीठी लगना कहा गया है, परंतु मुख्य कारण सौंदर्य है। अतः एक ही शब्द लोनाई विभावना का साधक तथा विषम का बाधक कारण है।

अलंकारों की मुख्यता और अमुख्यता का निर्णय—जहाँ एकाधिक अलंकार नीर-क्षीरवत् मिले हुए रहते हैं, वहीं संकर होता है। यथा—

खल-बढ़ई बल करि थको, कटै न कुबत कुठार;
आलबाल-उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार।

(बिहारी)

आलबाल=थाल्हा। कुबत=कुत्सित बातें, चवाव। यहाँ खल-रूपी बढ़ई, कुबत-रूपी कुठार, आलबाल-रूपी उर तथा प्रेम-रूपी तरु कहे जाने से रूपकालंकार (नं० ५) है। कारण होते हुए भी प्रेम के कम न पड़ने से विशेषोक्ति (नं० ३४) भी है। इन दोनो के साधक कारण तो प्रस्तुत हैं, किंतु बाधक कोई नहीं। रूपक से विशेषोक्ति का पोषण भी होता है। पोषणकारी अलंकार अमुख्य माना जाता है, तथा पोषित

मुख्य। ऐसे स्थान पर अंगी-अंग संकर माना जायगा। भाव में मुख्यता प्रेम न घटने की है, और अमुख्यता उसके प्रतिकूल कारणों की। रूपक का कथन केवल भाषा-सौंदर्य के लिये आया है, किंतु मुख्य भाव के लिये आवश्यक नहीं। इसीलिये रूपक पोषक माना गया है, न कि पोषित। ऐसे-ही ऐसे विचारों से मुख्यता और अमुख्यता का निर्णय होता है।

स्वतंत्र रूप से न आ सकनेवाले अलंकारों के लिये नियम—

अरुन अधर मैं पीक की लीक न परति लखाय।

यहाँ दिखलाई पड़ने योग्य पीक की लीक को न दिखलाई पड़ने योग्य कहे जाने से संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) है, तथा दोनो रंगों के मिल जाने और भेद न दिखलाई पड़ने से मीलित (नं० ७८)। मीलित अलंकार विना अतिशयोक्ति के नहीं आता। अतः जहाँ कोई अलंकार पृथक् आ ही न सकता हो, वहाँ दूसरे के होने पर भी वही माना जायगा, न कि संकर। ऐसा न मानने से उस (मीलित) का पृथक् अस्तित्व ही मिट जाता है। ऐसी ही दशा कुछ और अलंकारों की भी है।

> **लग्यो सुमन, ह्वै है सुफल, आतप रोस निवारि;**
> **बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता - बारि।**
>
> **(बिहारी)**

यहाँ यद्यपि है श्लेष (नं० २६) भी, तथापि वक्ता का मुख्य अभिप्राय किसी दूसरे के चेताने का है, अतः गूढ़ोक्ति (नं० ८७) की प्रधानता है। कवि ने श्लेष कह अवश्य दिया है, तथापि उस पर ध्यान प्रायः बिलकुल न होने से संकर न कहलाकर केवल गूढ़ोक्ति मानी जायगी। गूढ़ोक्ति प्रायः या सदैव इतर अलंकार या अलंकारों के साथ आती है। अतएव उन्हें पृथक् अलंकारता देने से इस (गूढ़ोक्ति) की भी स्वतंत्र सत्ता मिटती है। इसीलिये जहाँ इतर अलंकार का आभास-मात्र हो, वहाँ उसका आरोप न करके केवल इस (गूढ़ोक्ति) का कथन

हमें युक्ति-संगत दिखाई देता है। इसीलिये हमने गूढ़ोक्ति के साथ इतर अलंकारों का अस्तित्व प्रायः माना है, न कि सदैव। उपर्युक्त उदाहरण में श्लेष इसलिये भी नहीं ठहरता कि यहाँ बारी पर कवि की इच्छा न होकर नायिका पर है।

संकर (१२४)

संकर—में अनेक अलंकार एक ही स्थान पर संबंध-सहित रहते हैं, जो नीर-क्षीरवत् मिले हुए होते हैं।

इसके चार भेद कुवलयानद ने माने हैं। मम्मटादि कई अन्य आचार्य समप्रधान संकर को न मानकर तीन ही भेद बतलाते हैं। कुवलयानंद द्वारा कथित चारों भेदों के नाम ये हैं—(१) अंगी-अंग-भाव संकर, (२) समप्रधान संकर, (३) संदेह संकर और (४) एकवाचानुप्रवेश संकर।

(१) अंगी-अंग-भाव संकर—में एक अलंकार मुख्य होता है, और अन्य उसके अंग। यथा—

हौं रीझी, लखि रीझिहौ छबिहि छबीले लाल,
सोनजुही-सी होति दुति मिलत मालती - माल।
(बिहारी)

यहाँ मुख्य अलंकार तद्गुण (नं० ७४) है, जो अंगी है। उसका समर्थन करने से उपमा अंग है। आभा सोनजुही (पीला फूल) के समान होती है। इस कथन में धर्मलुप्तोपमा है। मालती (श्वेत पुष्प) की आभा उसके शरीर की सुनहली शोभा मिल जाने से सोनजुही-सी पीली हो गई, जिससे तद्गुण अलंकार प्राप्त हुआ। सोनजुही के रंग की समानता प्रकट करने से उपमा तद्गुण का पोषण करती है, जिससे वह अंगी तद्गुण का अंग मानी गई है।

जैग - जुगुति सिखए सबै मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय अद्वैतता, सेवत कानन नैन ।
(बिहारी)

मानो मैन(कामदेव)-रूपी महामुनि ने सब योग की युक्ति (यौगिक क्रियाएँ या प्रियतम से संयोग के उपाय) सिखला दी है । (ये) नैन कानन सेवत (जंगल में बसते या कानों तक पहुँचते हैं), क्योंकि पिय (ईश्वर या प्रियतम) से अद्वैतता (मिल जाना या अलग न रहना) चाहते हैं । उपर्युक्त दो-दो अर्थ होने से यहाँ श्लेष है, तथा "मनो महा-मुनि ने सिखए" में उत्प्रेक्षा । नैन और मैन के संबंध का अभेद रूपक प्रधान होने से अंगी है, तथा इतर दोनो उपर्युक्त अलंकार पोषक होने से अंग हैं ।

दीन देखि सब दीन, एक न दीनो दुसह दुख ;
सो हम कहँ अब दीन, कछु नहिं राख्यो बीर बर ।
(अकबर बादशाह)

यह सोरठा स्वयं अकबर ने महाराज वीरबल की मृत्यु पर बनाया था । प्रधान अलंकार अत्युक्ति (नं० ९६) है, क्योंकि यहाँ उदारता का अद्भुत वर्णन है । दीन-दीन में शब्द वही और अर्थ दो होने से यमकानुप्रास है । एक स्थान पर अर्थ है ग़रीब, और दूसरे पर "दान किया ।" कई शब्दों के आदि में दकार होने से छेकानुप्रास (नं० ११६ (१)—१) है । "सब दीन" और "अब दीन" में चार वर्णों का अंत्यानुप्रास (नं० ११६—२ ई) सधता है । "दीन को देख(दर्शन ले)कर सब दिया" में परिवृत (नं० ५१) आता है । पहले चरण में विनोक्ति (नं० २२) है, क्योंकि दानी सब कुछ देकर भी दुख न देने से श्रेष्ठ है । यही अलंकार अपने पास कुछ न रखने से सधता है । सब कुछ दे डालने पर (वियोग से मित्र को) दुख भी दे देने में कोई वस्तु अदत्त न रही, जिससे दान-वीरता पूर्ण हो जाने से काव्यलिंग अलंकार (नं० ५६)

चाँदनी मान लें, क्योंकि वह चंद्र के साथ रहती है । अवधारि=धारण करके, मानकर । यहाँ उत्प्रेक्षा (नं० १२) प्रधान है, और रूपक (नं० ५) उसका साधक होने से अंग ।

(२) समप्रधान संकर—में साथ ही प्रकाशित होनेवाले अनेक अलंकारों में सब समान होते हैं; कोई प्रधान तथा इतर अप्रधान नहीं । यथा—

> बिमल प्रभा निज ससि तजी मनो बारुनी पाय ;
> यह कारी निसि अंक मिसि राखी अंक लगाय ।
>
> (बैरीशाल)

यहाँ शशि-वृत्तांत प्रस्तुत है, तथा उससे अप्रस्तुत नायक-वृत्तांत निकलता है, क्योंकि वह भी चंद्र की भाँति कालिमा-युक्त है । इससे समासोक्ति अलंकार (नं० २३) आता है । वारुणी (पश्चिम दिशा तथा मद्य) शब्द के श्लिष्ट होने से यह चंद्रमा और नायक, दोनो पर घटित है । इसी से समासोक्ति और उत्प्रेक्षा (नं० १२) निकलती हैं, जिनमें से कोई प्रधान नहीं । अतएव समप्रधान संकर है । चंद्र ने अंकों के बहाने मानो काली रात अंक में लगाई है, तथा नायक ने शरीर पर अंजन के काले दाग़ों को अंक लगाया है । इन अलंकारों के भाव एक ही साथ निकलने के कारण समप्रधान संकर है ।

> उर लीन्हे अति चटपटी सुनि मुरली-धुनि धाय ;
> हौं निकसी हुलसी सु तौ गो हुल-सी उर लाय ।
>
> (बिहारी)

हुल = हूल । सुख के लिये यत्न में दुख मिलने से विषम (नं० ३७) अलंकार निकला । "हूल-सी लाकर चला गया" में तिङंत की क्रिया होने से उत्प्रेक्षा (नं० १२) है । हुल-सी और हुलसी में यमक है । अतः यहाँ उत्प्रेक्षा यमक विषम अथच उत्प्रेक्षा के निकलने से समप्रधान संकर है । दोनो उदाहरणों में अलंकार प्रधानतया एक ही वाक्य से

निकलने के कारण अलग नहीं किए जा सकते। इसीलिये संसृष्टि न होकर संकर है। जो आचार्य इस भेद को पृथक् नहीं मानना चाहते, उनके समर्थन में यह कहा जाता है कि यह कहीं तो संसृष्टि होता है, और कहीं अंगी-अंग संकर। अंगी-अंग तथा समप्रधान में तो शुद्ध मत-भेद संभव है, किंतु हमारे उपर्युक्त दोनो उदाहरणों में संसृष्टि का आरोपण नहीं हो सकता। हमको तो इनमें अंगांगी भाव समझ नहीं पड़ता, अतएव कुवलयानंद के मतानुसार समप्रधान संकर को हम मान्य समझते हैं। यह कहना अमान्य समझ पड़ता है कि संकर के दो अलंकार कभी सम हो ही नहीं सकते।

(३) संदेह संकर—में अमुक अलंकार है या अमुक, ऐसा संदेह बना ही रहता है। यथा—

मीतन सों भाषत अपर बीर, आजु तव
असि को प्रचंड रूप औरई लखात है;
देखिकै प्रताप जासु जगत उजासकर
खासकर भासकरहू लौं दबि जात है।
तेग की किरन-गन चलत गगन दिसि,
बैरिन को मान जिन्हैं देखि बिललात है;
साथ तिनही के अरि-प्रानन को जाल अब
हीं सों सूरमंडल को बेधत लखात है।

(मिश्रबंधु)

यहाँ चतुर्थ चरण में अत्यंतातिशयोक्ति (नं० १३) तथा भाविक (नं० ६४) में संदेह उपस्थित होने से संदेह संकर कहा जा सकता है।

फिरि-फिरि चित उत ही रहत, छुटी लाज की लाव;
अंग-अंग छबि-भौर मैं भयो भौंर की नाव।

(बिहारी)

यदि यहाँ सखी-वचन सखी से मानिए, तो मुख्य अलंकार रूपक

(नं० ५) होता है, और यदि वही वचन नायक से मानें, तो पर्यायोक्ति (नं० २६) द्वितीय बैठती है। सखी-वचन किससे है, इसके निर्णय का कोई साधन दोहे में नहीं है।

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गोहारि,
मनो तज्यो तारन बिरद बारक बारन तारि।

(बिहारी)

यदि यहाँ भक्त का वचन-मात्र मानें, तो परिकर (नं० २८) से उत्प्रेक्षा (नं० १६) का पोषण होता है, तथा उत्प्रेक्षा का प्राधान्य आता है। यदि भगवान् से भक्त का उलाहना मानें, तो जोश दिलाकर स्वकार्य-साधन के कारण परिकर और उत्प्रेक्षा पर्यायोक्ति (नं० २६) के अंग हो जायँगे, और इसी की मुख्यता रहेगी।

यों भूलत कोऊ कछू राखौ हिये सयान ;
भज्यौ मधुप तजि पदुमिनिहि जानि होत गत भान।

(बैरीशाल)

भज्यौ=भागो। यह भ्रमर तथा नायक, दोनो के प्रस्तुत होने के कारण प्रस्तुतांकुर अलंकार (नं० २७) है। शाम के कारण भ्रमर कमल-कोष में न बँधने की इच्छा से भागता है, तथा उपनायक इसलिये कि परकीया का पति दिन का काम करके संध्या को घर वापस आता होगा। दूसरा अलंकार गूढ़ोक्ति (नं० ८७) है, क्योंकि नायक से कहने की बात भ्रमर पर ढालकर उसी से कही जाती है। इस बात के निर्णय का कोई साधन छंद में न होने से संदेह संकर है।

(४) एकवाचानुप्रवेश संकर—में एक ही पद से कई अलंकार निकलते हैं। यथा—

हे हरि, दीनदयाल, हौं यह माँगौं सिर नाय ;
तुव पद-पंकज आसरै मन-मधुकर लगि जाय।

(गुलाब)

यहाँ पद-पंकज इस एक ही शब्द में रूपक (नं० ५) तथा छेकानुप्रास (नं० ११६) दोनो अलंकार निकलते हैं। यही बात मन-मधुकर में भी समझनी चाहिए।

हौं ही मतिमंद, वहि मंद पै पठाई दोऊ
संकर कों चाहि चंद्र-कला तें लहाई है;
कहै कबि 'दूलह' अपूरब प्रकास्यो हितु
नायनि हमारी ठकुरायनि ह्वै आई है।
चारौ भेद संकर के चारौ पद मैं बिचारौ,
दैकरि सुधाई मानो निठुराई लाई है;
पेखि मनि-मंदिर मैं पलकन पीक पोंछी,
सोई अरुनाई इन आँखिन मैं छाई है।

(दूलह)

यहाँ प्रथम चरण में प्रथम प्रहर्षण (नं० ६६) तथा रूपकातिशयोक्ति (नं० १३) अलंकार हैं, जिनमें प्रहर्षण की मुख्यता होने से अंगी-अंग-भाव संकर है। दूसरे चरण में समप्रधान संकर है। वहाँ नायनि के ठकुरायनि हो जाने से तृतीय विषम (नं० ३७) तथा प्रथम व्याघात (नं० ४४) हैं। एक तो हित के यत्न में अहित हुआ है, तथा हितकारी नायनि अहितकारी कही गई है। अपूर्व हित के प्रकाशने से दोनो अलंकार निकलते हैं, जैसा कि समप्रधान में होना चाहिए। तीसरे चरण में "मानो सीधापन देकर निठुराई लाई है" में अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा (नं० १२) तथा परिवृत्ति (नं० ५१) में संदेह रहता है। चौथे चरण में एकवाचानुप्रवेश संकर है। यहाँ पलकों की लाली पोंछने पर भी आँखों की सुरख़ी बनी रही, जिससे द्वितीय पूर्वरूप (नं० ७५) हुआ। नायिका ने आँख मलकर पलकों की पीकवाली लाली मिटाई, किंतु मलने से वह लाली आँख में फैल गई, जिससे हित के यत्न में अहित होने से तृतीय विषम (नं० ३७) अलंकार हुआ।

लाली पहले पलकों में थी, और पीछे आँख में समय के फेर से जा पहुँची, इसलिये पर्याय (नं० ५०) भी आ गया तथा छेकानुप्रास भी है ही। ये सब अलंकार एक वाक्य में होने से उपर्युक्त संकर हुआ।

उपर्युक्त संकर और संसृष्टि अलंकारों के अतिरिक्त निम्न-लिखित की भी मिश्रालंकारों में गणना है—(नं० १३) सापह्नवातिशयोक्ति, (नं० ६१) विकस्वर और (नं० ४७) मालादीपक (दूलह के अनुसार)। कई और अलंकार ऐसे हैं, जिनके इतरों से भेद बहुत थोड़े हैं, और उनके रूप अन्यों में थोड़ा-सा ही जुड़ने से मिलते हैं। फिर भी हैं वे स्वतंत्र, और उनकी संज्ञा मिश्रालंकारों में नहीं हो सकती। धारेश्वर भोजराज ने अपने ग्रंथ में २४ शब्दालंकार, २४ अर्थालंकार तथा २४ ही मिश्रालंकार माने हैं। इधर के आचार्यों ने अर्थालंकारों की संख्या बढ़ा दी है, तथा शब्द और मिश्र अलंकार कम रह गए हैं। हम भी वर्तमान समय में हिंदी-आचार्यों द्वारा माने हुए विचारों पर ही विशेषतया चले हैं। हिंदी के कई आचार्यों ने संकर तथा संसृष्टि का वर्णन नहीं किया है, अतः इन्हें वे पृथक् अलंकारता देते ही नहीं।

संसृष्टि और संकर में पृथक् अलंकारता नहीं—एक दूसरे अलंकार के साथ संबंध-रहित होकर रहना (यथा संसृष्टि में), या परस्पर संबंध-पूर्वक उनका आना (जैसे संकर में) एकता नहीं लाता। इनमें भी (१) तरु-बीज-न्याय से (एक अलंकार दूसरे का कारण होकर आया हो, यथा अंगांगी-भाव संकर में), (२) दिवस-निशा-न्याय से (जब दिन होता है, तब रात नहीं होती, तथा जब रात्रि होती है, तब दिवस नहीं हो सकता। इस प्रकार से संदेह संकर होता है), (३) नृसिंह-न्याय से (नृसिंह अवतार में एक ही शरीर से मनुष्य और सिंह दोनो कहे जा सकते थे, एक वाचानुप्रवेश संकर में भी एक ही वचन से अनेक अलंकारों का निकलना होता है), (४) अथवा दिवस-रवि-न्याय से (दिन

और रवि एक ही समय में प्रकाशित होते हैं, इसी रीति से सम-प्रधान संकर भी होता है), अलंकारों के एक साथ रहने की रीतियाँ-मात्र हैं, उन(अलंकारों)से कोई पृथक् चमत्कार नहीं निकलता।

(शुद्धि-पत्र से शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें ।)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१० भूमिका	१	मश्र	मिश्र
१४ भूमिका	१९	वामन (सं० ८५७-९०७)	श्रीआनंदवर्धनाचार्य (९३० के निकट)
१४ भूमिका	२३	सरस्वती । कंठाभरण	सरस्वती कंठाभरण
२२ वंदना	१९	फेर	फेरु
६	१	ध्वनि-प्रधान	व्यंग्यवाला
८	१६	शब्द विविध	शब्द (उसके) विविध
८	२०	बोध होता है ।	बोध (सामूहिक रूप से) होता है ।
१०	१	क्रियावाचक शब्द	क्रियावाचक तथा उससे बननेवाले शब्द
१०	१०-११	(२) बाध तथा (उसी मुख्यार्थ) के योग से	बाध (२) तथा उसी (मुख्यार्थ) के योग
१२	१२	पूर्ण आधिपत्य का लक्ष्यार्थ है ।	से आधिपत्य का लक्ष्यार्थ है ।
१२	१३	वश में रहने का	पूर्ण वश में रहने का
१२	१९	अत्यंत खुशामद का	केवल खुशामद का
१२	२०	केवल खुशामद	अत्यंत खुशामद
१४	१३	गौणी प्रयाजनवती सारोपा लक्षणा—	गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१३	यहाँ "प्रलै-सिंधु" से अनंत सेना का प्रयोजन	यहाँ "उमड़ो प्रलै-सिंधु" से अत्यंत क्रुद्ध प्रबल आक्रमणकारी सेना का प्रयोजन
१६ (चक्र के बाद)	४	एक अर्थ नियत	अनेकार्थवाची शब्दों का एक अर्थ नियत
२०	१४	सरसति	सरसुति
२१	१०	अनेकाथ	अनेकार्थ
२१	१६	हरि बठे हरि पास;	हरि बैठे हरि पास ;
२२	८	धूप-छाँह	धूप, छाँह
२७	३	भयो अपत, क कोप-युत,	भयो अपत, कै कोप-युत,
३०	१३	विषय-पृथकारण	विषय-पृथक्करण
३०	२४-२५	(काकु वैशिष्ट्य से खींच-कर लाया हुआ)	(काकु से खींचकर लाया हुआ)
३२	२३	भंग के रंग दे	भंग के न रंग दे
३३	१०	(तृतीय पद का)	(चतुर्थ पद का),
३४	४	सुघन	सघन
३५	६	लिखी विधि	लिखो विधि
३६	५	अभूषणवत्	आभूषणवत
४३	१६	अतर्क्य न ठहरेगा।	अतर्क्य ठहरेगा।
४३	२०-२१	यही तर्क व्यंजना के विषय में भी लागू है।	अतः व्यंजना मानना आवश्यक हो गया।
४५	१६	अबलानां श्रीहरण	अबलानां (कामिनियों या निर्बलों का) श्रीहरण
४८	५	पुनरुक्तिवदाभास	पुनरुक्तवदाभास

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	२	पूर्ण लुप्ता	पूर्णोपमा
५३	१६	साधर्मता	साधर्म्य
५६	१३	उपमा का एक वर्ग अन्य (उपमा) के दूसरे...	उपमा का एक वर्ग पहले वर्ग का उपमेय अन्य स्थल में उपमान होकर अन्य (उपमा) के दूसरे
५६	२४	(५) वाचकोपमा—	वाच्योपमा—
७२	३	लालच	लालच
७५	२०	पयोद नहीं	पयोदन हीं
७८	२५	हठि धारा ;	हठ धारा ;
८५	८	भुजंगम-सों भुज नीनो;	भुजंगम-सों भरु लीनो ;
८६	८	(शब्दबोध)	(शाब्द बोध)
९९	८	हुआ है ।	हुई है ।
९९	१४	उपभेय	उपमेय
१०३	११	करतु	करत
१११	१	गभ	गर्भ
११२	१६	मेदुर=अतिशय स्निग्ध, बहुत चिकना ।	मेदुर=अतिशय स्निग्ध, बहुत चिकना : श्यामल ।
११७	१४	गम्या फलोत्प्रेक्षा —	सिद्धविषया गम्या फलो-त्प्रेक्षा—
१२३	१३	कज	कंज
१२४	१७	पलास-कलिका नहीं ;	पलास-कलिकातहीं ;
१२८	१	व्रजरात	व्रजराज
१३०	१३	भान	मान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३१	१८	लघै	लँघै
१३५	११	सनि	सुनि
१४१	१०	अपच	अथच
१४८	१४-१५	उसी अर्थ में	अनेक स्थानों पर लिखा जाकर
१४६	१	दंभन	थंभन
१५४	१६	'रंजक जावक'	'रंजन जावक'
१५६	१५	वाक्यार्थ रूप	वाक्यार्थ रूपक
१५६	२१	तू चरन-नख	तव चरन-नख
१५६	२४	ललित कर	ललित का
१५७	१४	चिखावत	सिखावत
१६१	११	सहोक्ति में कार्य-कारण-रहित सहवाची शब्द	सहोक्ति में सहवाची शब्द
१६२	२५	से वाक्य में हेतु और कार्य वा संबंध आ जाय,	से वाक्य में हेतु और कार्य के पूर्वापर नियम-भंग का संबंध आ जाय,
१७३	७	अथ	अध
१८०	१८	पत्त	पत्ते
१८३	८	(६) दूसरा आभास-मात्र होता है।	दूसरा आभास-मात्र होता है।
१८६	१२	अग	अंग
१८६	२०	उन्मत्त क्षीव (भ्रमर)	उन्मत्त (क्षीव) भ्रमर
१६२	२६	राजसुता को पढ़ाती हैं	राजसुता पढ़ाती ही है
१६८	१२	लघौ	लँघौ
२००	७	मार मिटावै।	मारि मिटावै।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०९	१०	न बुझने को बाध्य बना देती है,	न बुझने के भाव को बाध्य बना देती है,
२१८	१६	कार्य से कारण की विरूपता—	यह पंक्ति काट दीजिए।
२१९	१६	असंगति तथा द्वितीय विषम में भेद—	विरोध, असंगति तथा द्वितीय विषम में भेद—
२२१	७	आई हौ पायँ	आईँ हौ पायँ
२२५	८	सममान (रूठना, प्रतिष्ठा) के दो अर्थों से अलंकार	मान (रूठना, प्रतिष्ठा) के दो अर्थों से सम अलंकार
२२५	१४	कीन्हें अरबीन परबीन कोई सुनि है ;	कीन्हें अरबी न परबीन कोई सुनि है ;
२३३	१२	बहै	वहै
२३५	८	अँखियाँ पै	अँखियाँ यै
२४२	१४	अलाप	अलापैं
२४५	२०	बखानै सत्य संध को	सु बखानै सत्य संध को
२४६	७	परिसंख्या—में किसी का दूसरे स्थान	परिसंख्या—में किसी स्थान
२४६	८-९	न स्थापित होते हुए भी दूसरे स्थान से वह	न स्थापित होते हुए भी कहीं से वह
२५९	२०	तेर	तेरे
२६३	१३	पाय कै,	प्याय कै,
२७०	७	अर्थांतरन्यास की मान्यता अमान्यता में मतभेद	विकस्वर की मान्यता-अमान्यता में मतभेद—
२८०	१४	रावरे	डावरे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८६	७-८	चंद्रालोक, कुवलयानंद	चंद्रालोक कुवलयानंद
२९२	२२	मात	मातु
३०१	२५	उतकंठित के	उतकंठित है
३०७	१०	उत्तर में	उत्तर से
३११	१३	हा	हाँ
३१५	८३	चखन चमत्ता	चखनि चकत्ता
३२१	१३	रोय	रोम
३२१	१८	तो प	तो पै
३२२	१३	कपि जान।	कपि जानैं।
३५२	१६	रौद्र और रसाभास	रौद्र और वीर रसाभास—
३५५	२४	भाव शांति को है,	भाव शांति की है,
३६०	२५	अलंकार माननेवालों का—	अलंकार न माननेवालों का—
३६२	२	शब्दाथ	शब्दार्थ
३६६	४	काव्यलिंग	काव्यलिंग
३६६	१४	तज	तजि
३८०	२६	भी मानना ही पड़ता है, अतः में अर्थापत्ति प्रमाण होता है।	भी मानना ही पड़ता हो, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण है।
३८३	१	(१) वर्णानुप्रास— छेकानुप्रास	(१) वर्णानुप्रास १— छेकानुप्रास
३९५	१५	केवल उदाहरणांतर	उदाहरणांतर
३९७	४	पुनरुक्तिवदाभास	पुनरुक्तवदाभास शब्द पृष्ठ ३९७ तथा ३९८ में अनेक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			स्थानों पर आया है। कृपया सब स्थानों पर ठीक कर लीजिए।)
४०४	२१	फिर तुल्ययोगिता में वर्णित विषयों के लिये शब्द दो चाहिए, जो बात भी यहाँ नहीं है।	ये पंक्तियाँ काट दीजिए
४०४	२२	इस प्रकार बाधकों द्वारा	इस प्रकार बाधक द्वारा